चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल



चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल

[लेखक की पुस्तक Chandragupta Maurya And His Times का अनुवाद]

लेखक

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी

एम० ए० पी-एच० डी० डी० लिट्०

रूपान्तरकार

मुनीश सक्सेना



राजकमल प्रकाशन

प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य आठ रुपये

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली

मुद्रक
वी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस इलाहाबाद

विषय सूची

प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य : आठ रुपये

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली

मुद्रक
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस इलाहाबाद

विषय सूची

उल्लिखित गणतांत्रिक जातियाँ, पाणिनि द्वारा उल्लिखित गणतांत्रिक जातियाँ, वे सिकंदर के विरुद्ध कैसे लड़े, उन के सैनिक गठन, उनकी पराजय के कारण, चन्द्रगुप्त की सेना के अन्य सैनिक, यूनानी शासन की डाँवाडोल स्थिति, यूनानी क्षत्रपियाँ, भारतीय असन्तोष, क्षत्रप फिलिप्पस की हत्या, नए सैनिकों तथा सेना का मनोबल में कमी, सिकन्दर की वापसी में अन्तर्निहित शोक, फिलिप्पस की हत्या, यूनानी शासन के लिए गहरा आघात, ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु के बाद यूनानी शासन का ध्वंस, शान्ति का नया संक्रमण, नन्द के विरुद्ध युद्ध, इस युद्ध की रणनीति से सम्बन्धित कथाएँ, नन्द की शक्ति, उसकी अलोकप्रियता, युद्ध में नरसंहार, ३०४ ई० पू० में सेल्यूकस की पराजय, विशाल साम्राज्य का विस्तार, दक्षिण विजय, श्रवण-बेलगोला से सम्बन्धित परम्परा तथा जैन परम्परा, तमिल परम्परा, पश्चिमी भारत की विजय, [illegible]।

(५९–७३)

अध्याय ३ प्रशासन आदर्श विभाग

शासन प्रणाली के भारतीय आदर्श, ग्राम-समुदाय, धर्म सर्वोपरि शासक के रूप में, विधि के साथ वर्णाश्रम धर्म, विभिन्न वर्णों के कर्तव्य, विभिन्न आश्रमों के कर्तव्य, दण्ड अर्थात् धर्म के रक्षक के रूप में राजा, कोषागार विधि के रूप में, प्रशासनात्मक विभाग, उप राज्य, प्रान्तों के शासक।

(७४–८२)

अध्याय ४ राजा

राजा, कुमारों की शिक्षा, विद्रोही, उत्थान तथा अन्तःपुर, राजत्व के लिए आवश्यक गुण, राजा की दिनचर्या, सार्वजनिक

की साक्षी राजत्व से सम्बन्धित कुछ अन्य विचारधाराएँ स्त्रियों की अंगरक्षक सेना यूनानी साक्षी कौटिल्य की साक्षी आखेट और पशुओं की लड़ाई राजा की सवारी राज-दरबार का वैभव जुलूसों हाथियों की सवारी यात्राएँ राज प्रासाद राज प्रासाद के भीतर भीतर-बाहर राजा की सुरक्षा का समुचित व्यवस्था विष से रक्षा के उपाय राजकुमारों के प्रति व्यवहार उत्तराधिकार राजधानी पाटलिपुत्र भारतीय साहित्य में पाटलि-पुत्र बौद्ध ग्रंथ पतञ्जलि में मेगस्थनीज राज-भवन ।

(८१-१०६)

अध्याय ५ मंत्री सभा व नियम

राजसभा के अंग राज्य-अंग भारत देश मेगास्थनीज की दृष्टि में काम देना राजा के हाथ में सुरक्षित शक्तियाँ दुर्भिक्ष के विरुद्ध उपाय राज-कर्मचारियों का पद-सोपान सामान्य प्रथा समन्वय मंत्री मंत्र या नीति के उत्तम मन्त्रिपरिषद् मन्त्रिपरिषद् की कार्य-पद्धति अशोक की मन्त्रिपरिषद् परिषद् का स्थान यूनानी वृत्तान्त डियोडोरस राज्य की परिषदें यही अमात्य थे मंत्री अथवा प्रधान मंत्री मंत्री का पद योग्यताएँ अमात्य पुरोहित प्रथम कोटि का मंत्री जन-सभा आचार नियुक्त के लिए परीक्षाएँ धर्मोपधा चुनने का सिद्धान्त न्यायाधीशों के द्वारा क्रिया का नियुक्ति राजस्व तथा राज भण्डार सन्निधाता समाहर्ता के रजिस्टर राजा के अंगरक्षकों का चिह्न मुद्रा चिह्न या दूसरी मंत्री साधारण कर्मचारी राजदूत गुप्तचर तथा विनाशपत्र सम्बन्धी विभाग राजाएँ अन्तःपुर रक्षिकाएँ प्रशासन व्यवस्था के नियम काम तथा सजा का कार्यालय वेतन भत्ता अवकाश की अवधि के रूप में वेतन का भुगतान ।

(१०७-१२६)

अध्याय ६ प्रशासन विभाग तथा उनके पदाधिकारी

विभाग तथा पदाधिकारी यूनानी वृत्तांत जिले के अधिकारी (एग्रोनोमोई) नगर के अधिकारी (एस्टिनोमाई) पुरोहित गुप्तचर्या परामर्शदाता अन्य पदाधिकारी पदाधिकारियों की सूची कौटिल्य की प्रशासन-व्यवस्था जनपद (प्रान्त) प्रतिरक्षा-व्यवस्था प्रशासन के केन्द्र प्रान्त का प्रधान (समाहर्ता) जिले का कलेक्टर (स्थानिक) राजस्व के स्रोत दुर्ग राष्ट्र खनि सेतु वन वणिकपथ समाहर्ता सन्निधाता कोषगृह न्यायालय सचिवालय तथा कारागार अक्षपटलाध्यक्ष प्रदेशों के विभागाध्यक्ष उनका वेतन तथा कर्म उद्योगों का राष्ट्रीकरण कृषि विभाग कृषि निदेशक (सीताध्यक्ष) बीजों का भण्डार खेत मजदूर खेती के औजार सिंचाई के साधन खेती के मौसम फसलों की किस्में खाद्यान्न की फसलें ईख विभिन्न प्रकार की जमीनें तथा फसल औषधियों के पौधे मजदूरी कोष्ठागाराध्यक्ष खानों का अध्यक्ष (आकराध्यक्ष) धातुओं का अध्यक्ष (लोहाध्यक्ष) टकसाल का अध्यक्ष खानों का दूसरा अध्यक्ष लवणाध्यक्ष सुवर्णाध्यक्ष राज-स्वर्णकार वन का संरक्षक पशु-वधशाला का अध्यक्ष मवेशियों का अध्यक्ष चरागाहों का अध्यक्ष पासपोर्ट का अध्यक्ष नौकानयन का अध्यक्ष बन्दरगाहों का अध्यक्ष वाणिज्य-अध्यक्ष शुल्काध्यक्ष सड़क का कर सुराध्यक्ष मद्य-निषेध की सीमाएं मदिरालय मदिरा की बिक्री पर प्रतिबन्ध मदिरालयों की साज सज्जा गुप्तचरों द्वारा निगरानी औषधीय मदिरा उन्मुक्त मदिरापान मगास्थनीज पौतवाध्यक्ष सूत्राध्यक्ष श्रमिक स्त्रियाँ मजदूरी उत्पादित वस्तुएं सूचना तथा गुप्तक्रिया पुलिस का विभाग कर्मचारियों की भरती विभाग की दो धाराएं संस्था शाखा सञ्चार शाखा वेतन यूनानी उल्लेख अशोक के प्रतिवेदक राजदूत विभाग देवताध्यक्ष मुख्य पदाधिकारियों की सूची ।

(१२७–१९८)

मैत्रता मुनभाई, कार्य-पद्धति बयान लिखने वाला लेखक अदि अन्य-न्याय स्थानीय न्यायालय विधि के उदाहरण विवाह पुन विवाह उत्तराधिकार विभिन्न प्रकार के पुत्र सहकारिता के नियम ऋण तथा ब्याज कृषि ऋण कामासक्तिता अथवा ऋणा की उधारी धरोहर दीर्घकाल तक उपभोग के फलस्वरूप सम्पत्ति पर अधिकार, मानहानि धमकी मिथ्या लांछन विविध अपराध— चोरी को भोजन देना फौजदारी का कानून उदाहरण—गिरफ्तारी उच्छ्वासा मिलावट व्यापारियों की सुरक्षा यातायात सम्बन्धी नियम चोरों से रक्षा शान्ति तथा सुव्यवस्था यूनानी लेखकों की साक्षी दण्ड-संहिता न्याय की निष्पक्षता न्यायाधीशों के अप-राध गवाही में उलटफेर करना मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों की तुलना में कौटिल्य के नियमों की प्रधानता विवाह-विच्छेद पुन विवाह रजोत्तर विवाह अनुलोम विवाह मौर्य समाज की कुछ अन्य विशेषताएँ।

(२००–२११)

अध्याय १० सेना

चंद्रगुप्त की सेना स्थायी सेना मेगास्थनीज का विवरण युद्ध-कार्यालय सेना के अंग महाभारत कौटिल्य चिकित्सा तथा घायलों को रणक्षेत्र से लाने की व्यवस्था ड्रैगों का दिमाग अन्य पदाधिकारी पैदल सेना मेघी-चक्र आटविक वर्ग अधिकारी परिषद-सेनापति-नायक अर्थशास्त्र हथियार यूनानी वृत्तांत कौटिल्य का वृत्तांत मूर्तिकला में सैनिकों का चित्रण फारस में लड़ने वाले भारतीय सैनिक सैनिक अभ्यास पैदल सेना व युद्ध सैनिकों को प्रोत्साहन पुरस्कार घुड़सवार सेना अश्वाध्यक्ष घोड़ों की भरती घोड़ों के रहने का प्रबन्ध प्रशिक्षण पशु-चिकित्सक अश्व सेना की साज-सज्जा का यूनानी विवरण युद्ध के रथ रथाध्यक्ष

अध्याय ११ सामाजिक परिस्थितियाँ

अध्याय १२ आर्थिक परिस्थितियाँ

खेत खेत-मजदूर पशु-धन सिंचाई गाँव में सार्वजनिक निर्माण कार्य ग्राम-सेवा गाँव के मनोरंजन ग्राम-कल्याण बंजर-भूमि वन-क्षेत्र वन-कर्मचारी शिल्पी उद्योग व्यापार-मार्ग बौद्ध ग्रंथों में मार्गों का वर्णन अन्तर्देशीय मार्ग समुद्री व्यापार संस्कृत एवं धर्मशास्त्र में मार्गों का वर्णन स्थल-मार्ग उत्तरापथ दक्षिणापथ व्यापार-सामग्री मोती मणियाँ हीरे-जवाहरात मूँगा सुगन्धित लकड़ी शालें कम्बल रेशम सिमेन कौशेय सूती कपड़ा नगरों का जीवन सिक्के चरक-संहिता विदेशी सिक्के नगर-निवेश वास्तु कला तथा ललित कलाएँ।

प्रकाशकीय

इतिहास-प्रेमी पाठक डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी की विद्वत्ता से पूरी तरह परिचित हैं। कुछ समय पहले प्रस्तुत पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण हमने प्रकाशित किया था। हमें प्रसन्नता है कि अब हम हिन्दी संस्करण पाठकों को भेंट कर रहे हैं। अब तक हिन्दी में भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् और उसके काल का इतना व्यापक अध्ययन तथा मौर्यकाल की सभ्यता और संस्कृति पर इतना प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। यथासम्भव हमारा यह प्रयत्न है कि हिन्दी में अधिकाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित करें ताकि यह कमी शीघ्र ही पूरी हो सके।

हमें आशा है कि पाठक इस पुस्तक को अमूल्य और लाभप्रद पाएँगे।

अध्याय १

जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन

चंद्रगुप्त की सफलताएँ : उसकी ऐतिहासिकता चंद्रगुप्त मौर्य की गणना भारत के महानतम शासकों में की जाती है। उसकी महानता की सूचक अनेक उपाधियाँ हैं और उसकी महानता कई बातों में अद्वितीय भी है। वह भारत के प्रथम 'ऐतिहासिक' सम्राट् के रूप में हमारे सामने आता है इस अर्थ में कि वह भारतीय इतिहास का पहला सम्राट् है जिसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित कालक्रम के ठोस आधार पर सिद्ध की जा सकती है।

पूर्ववर्ती सम्राट् : चंद्रगुप्त से पहले भारत में अनेक बड़े-बड़े राजा हुए थे जैसे महापद्म नंद और अजातशत्रु, अथवा बिंबिसार, जिनका शासनकाल महात्मा बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण गौरवान्वित हो उठा था। और इनसे भी पहले हमें प्राचीन ग्रंथों में पूर्ववर्ती सम्राटों का उल्लेख मिलता है जिनकी बड़ी रोबदार उपाधियाँ थीं जो उन्होंने अपनी विजयों द्वारा प्राप्त की थीं और यथोचित धार्मिक समारोहों में उनकी सफलताओं की घोषणा करके उन्हें विधिवत् इन उपाधियों से विभूषित किया गया था। वास्तव म इस प्रकार के महान् राजाओं तथा सम्राटों की परम्परा वेदों के काल स चली आती है। ऋग्वेद में सुदास का उल्लेख मिलता है जिसने दाशराज्ञ युद्ध में विजय प्राप्त करके (ऋग्वेद ८ ११ २, १ ८१ ८) ऋग्वेदकालीन भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था जिसमें उस समय लगभग चालीस ऋग्वेदकालीन जातियाँ वास करती थीं।

साम्राज्यवाद की शब्दावली तथा संस्कार : इस प्राचीन काल में भी सर्वोच्च सत्ता तथा सम्राट की सार्वभौम सत्ता की धारणा इतने दृढ़ रूप में स्थापित हो चुकी थी कि उसे व्यक्त करने के लिए अलग-अलग उपयुक्त शब्द थे जैसे 'अधिराज' 'राजाधिराज' अथवा 'सम्राट्' जिनका प्रयोग वैदिक साहित्य में बहुत व्यापक रूप से किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (८, १५) में तो इससे अधिक सारगर्भ शब्द 'एकराट्' का प्रयोग किया गया है ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में भी (११ ५, ४) भरत-वंश के दो राजाओं दौह्षंति तथा शातानिक साशनीक की विजियों का बहुत यशगान किया गया है उसमें कहा गया है कि "भरत के महान् इरयों तक न तो उनके पहले कोई पहुँचा था और न बाद ही में कोई पहुँच सका वे तो ऐसे हैं जैसे कोई मनुष्य अपने हाथों से आकाश को छू ले।" इन दो ग्रंथों में इस प्रकार के बारह अन्य महान् राजाओं का उल्लेख मिलता है। राजत्व के विभिन्न स्तरों के लिए अलग-अलग संस्कारों का भी वर्णन किया गया है गोपथ ब्राह्मण में राजा के लिए 'राजसूय' सम्राट् के लिए वाजपेय' स्वराट् के लिए 'अश्वमेध' विराट् के लिए 'पुरुषमेध' सर्वराट् के लिए सर्वमेध' यज्ञ का संस्कार बताया गया है और आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (२ १ १) में अश्वमेध' यज्ञ का संस्कार केवल सार्वभौम शासक के लिए विहित है।

कालक्रम का महत्त्व चन्द्रगुप्त के पीछे सम्राटों की यह परम्परा थी। परंतु उसके उदाहरण में यह परम्परा एक वास्तविकता बन गई और इतिहास की दृष्टि से उसमें प्रामाणिकता आ गई। पुराने राजाओं के केवल नाम ही विदित हैं। उनके बारे में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि वे किस समय और किस स्थान पर हुए थे और इसके बिना वे इतिहास के पात्र नहीं माने जा सकते। जहाँ तक चंद्रगुप्त का सम्बन्ध है हम प्राचीन भारतीय राजाओं के लम्बे इतिहास में पहली बार ठीक-ठीक बता सकते हैं कि वह किस समय में और कहाँ पर राज्य करता था और कालक्रम के आधार पर उसका इतिहास निर्धारित कर सकते हैं। एक प्रकार से इतिहास कालक्रम द्वारा सीमित है और कालक्रमानुगत इतिहास ही वास्तविक इतिहास है जिसमें विभिन्न घटनाओं को उनके कालक्रम के अनुसार व्यवस्थित कर दिया जाता है। परंतु विचारों के इतिहास अथवा सांस्कृतिक इतिहास के लिए कालक्रम इतना आवश्यक नहीं है क्योंकि उस इतिहास की रचना अलग-अलग निश्चित घटनाओं को जोड़कर नहीं की जाती बल्कि उसमें विचारों से सम्बन्धित बड़े-बड़े आंदोलनों का विवरण होता है जो दीर्घ कालावधि में फैले होते हैं परन्तु इस प्रकार के सांस्कृतिक इतिहास का आधार भी विचारों के एक क्रम पर होना चाहिए और उसमें विचारों के क्रम को प्रस्तुत किया जाना चाहिए

इसी को मैक्समूलर ने 'विचारों का आन्तरिक कालक्रम' कहा है। परन्तु जीवनी लिखने के लिए कालक्रम नितान्त आवश्यक है। जब तक किसी व्यक्ति के जीवन तथा उसके कृत्यों के बारे में यह न बताया जा सके कि उसका काल क्या था तब तक वह इतिहास का पात्र नहीं बन सकता। चंद्रगुप्त के जीवन तथा शासन काल की तिथियाँ काफी सही-सही निर्धारित की जा सकती हैं।

महानता के अन्य कारण अब हम उन दूसरे कारणों पर विचार करेंगे जिनके आधार पर चंद्रगुप्त को महान् समझा जाता है। वह प्रथम भारतीय राजा था जिसने बृहत्तर भारत पर अपना शासन स्थापित किया जिसका विस्तार ब्रिटिश भारत से भी बड़ा था। बृहत्तर भारत की सीमाएँ आधुनिक भारत की सीमाओं से बहुत आगे तक ईरान की सीमाओं से मिली हुई थीं। इसके अतिरिक्त चंद्रगुप्त भारत का प्रथम शासक था जिसने अपनी विजयों द्वारा सिंधु-घाटी तथा पाँच नदियों के देश को गंगा तथा यमुना की पूर्वी घाटियों के साथ मिलाकर एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की जो एरिया (हेरात) से पाटलिपुत्र तक फैला हुआ था। वही पहला भारतीय राजा है जिसने उत्तरी भारत को राजनीतिक रूप से एकबद्ध करने के बाद विन्ध्याचल की सीमा से आगे अपने राज्य का विस्तार किया और इस प्रकार वह उत्तर तथा दक्षिण को एक ही सार्वभौम शासक की छत्रछाया में ले आया। इससे पहले वह पहला भारतीय नेता था जिसे अपने देश पर एक यूरोपीय तथा विदेशी आक्रमण के निराशाजनक दुष्परिणामों का सामना करना पड़ा उस समय देश राष्ट्रीय पराभव तथा असंगठन का शिकार था और फिर उसने यूनानी शासन से अपने देश को पुनः स्वतंत्र करने का अभूतपूर्व श्रेय प्राप्त किया। यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि भारत पर सिकंदर का आक्रमण मई ३२७ ई० पू० से मई ३२४ ई० पू० तक रहा और ३२३ ई० पू० तक चंद्रगुप्त ने देश पर यूनानियों के आधिपत्य का नाम-निशान तक मिटा दिया था। भारत के बहुत ही थोड़े शासकों को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने अपने इतने छोटे-से शासनकाल में—पुराणों के अनुसार चंद्रगुप्त ने केवल २४ वर्ष तक शासन किया—इतनी अधिक सफलताएँ प्राप्त की हों। इन सब बातों से बढ़कर मौर्य राजवंश के संस्थापक के रूप में चंद्रगुप्त ने पहली बार भारत को एक ऐसा इतिहास प्रदान किया जिसका क्रम कहीं नहीं टूटता और जो इसके साथ ही एक ही सूत्र में बँधा हुआ इतिहास है वह ऐसा इतिहास है जो भारत की अलग-अलग जातियों तथा प्रदेशों का अलग-अलग इतिहास न होकर एक इकाई के रूप में पूरे भारत को अपने में समेट लेता है। चंद्रगुप्त ने इस प्रकार जिस साम्राज्यिक इतिहास का श्रीगणेश किया था वह उसके बाद बहुत समय तक बाकी नहीं रहा। मौर्य सम्राटों के अधीन भारत की जो राजनीतिक एकता

स्थापित हुई थी उसे उसके उत्तराधिकारी अक्षुण्ण न रख सके। उसके बाद भारत के इतिहास की दिशा को निर्धारित करनेवाली कोई एक राजनीतिक सत्ता नहीं रही। भारत एक बार फिर अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया जिनमें से प्रत्येक का अलग-अलग अपना इतिहास है।

साधन : यूनानी तथा लैटिन ग्रंथ मौर्यकालीन इतिहास में एक सुविधा यह है कि उसके साधन पर्याप्त प्रामाणिक तथा विविध प्रकार के हैं। भारतीय इतिहास की एक सबसे बड़ी खोज (जिसके लिए हम सर विलियम जोन्स के आभारी हैं) यह थी कि यूनानी भाषा का सैंड्रोकोट्टोस अथवा ऐंड्रोकोट्टोस नाम भारतीय नाम चंद्रगुप्त ही है (एशियाटिक रिसर्चेज ४ पृ ११)। इस बात से यह निष्कर्ष निकला कि चंद्रगुप्त सिकंदर का समकालीन था और स्वयं सिकंदर से मिला भी था। यह बात हमें प्लूटार्क की रचनाओं से मालूम होती है जिसने लिखा है "ऐंड्रोकोट्टोस जो उस समय नवयुवक ही था स्वयं सिकंदर से मिला था। इस खोज के फलस्वरूप चंद्रगुप्त मौर्य तथा उसके शासनकाल के बारे में प्रचुर प्रमाण मिल गए हैं जो भारत में सिकंदर के विजय-अभियानों का इतिहास लिखने वालों ने अपनी रचनाओं में दिये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी स्रोतों के कारण भारतीय इतिहास के एक ऐसे अध्याय पर विपुल प्रकाश पड़ता है जो अन्यथा अपनी महान् उपलब्धियों के कारण इतना गौरवशाली होते हुए भी अंधकार में ही खोया रहता। भारतीय इतिहास उस नींव के लिए भी इन्हीं स्रोतों का आभारी है जिसे 'उसके कालक्रम का मूल आधार' कहा गया है क्योंकि भारतीय कालक्रम चंद्रगुप्त के सार्वभौम सत्ता धारण करने की तिथि से आरंभ होता है।

सिकंदर के विजय-अभियान में जो लोग उसके साथ आए थे उनमें से तीन भारत के विषय में अपनी रचनाओं के कारण उल्लेखनीय हैं (१) निआर्कस जिसे सिकंदर ने सिंधु नदी तथा फारस की खाड़ी के बीच के समुद्र-तट का पूरी तरह पता लगाने के लिए नियुक्त किया था (२) ओनेसिक्रिटस जो इस यात्रा में निआर्कस के साथ था और बाद में उसने इस विषय पर तथा भारत के बारे में एक पुस्तक लिखी थी और (३) अरिस्टोबुलस जिसे सिकंदर ने भारत में कुछ काम सौंपे थे।

तीसरी शताब्दी ई० पू में जिन यूरोपीय राजदूतों को यूनानी राजाओं ने भारत भेजा था उनमें से कुछ ने सिकंदर के इन साथियों की रचनाओं में पूरक जोड़े हैं। दुर्भाग्यवश इनमें केवल मैगास्थनीज ही एक ऐसा था जिसने इस सुअवसर का सदुपयोग किया। क्लासिकल साहित्य में वही भारत का पूर्णतम विवरण छोड़ गया था परंतु वह विवरण अपने मूल रूप में नहीं मिलता। उसका पता

केवल बाद के लेखकों की रचनाओं में उसके उद्धरणों से ही मिलता है, जिनमें से निम्नलिखित लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं।—

१ स्ट्राबो इसका जीवनकाल लगभग ६४ ई० पू० से १९ ई० तक था। इसने भूगोल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के १५वें भाग का प्रथम अध्याय भारत के बारे में है। इसमें सिकन्दर के साथियों तथा मेगास्थनीज की रचनाओं से ली गई सामग्री के आधार पर भारत के भूगोल, उसके निवासियों के रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों का वर्णन किया गया है।

२ डियोडोरस ३६ ई० पू० तक जीवित रहा। इसने मेगास्थनीज की रचनाओं के आधार पर भारत का एक वृत्तांत लिखा।

३ प्लिनी ज्येष्ठ जो नेचुरल हिस्ट्री (प्रकृति वृत्त) नामक विशद ज्ञान कोष का रचयिता है। उसकी यह रचना लगभग ७५ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें यूनानी रचनाओं तथा व्यापारियों के नवीनतम विवरणों के आधार पर भारत का विवरण दिया गया था।

४ एरियन इसका जन्म लगभग ९० ई० में हुआ था। यह कम-से-कम १७२ ई० तक जीवित रहा। इसने सिकन्दर के अभियानों का सबसे अच्छा वृत्तांत (ऐनाबसिस) और निआर्कस, मेगास्थनीज तथा भूगोलवेत्ता एराटोस्थनीज (२७६-१९५ ई० पू०) की रचनाओं के आधार पर भारत, उसके भूगोल, यहाँ के रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों के बारे में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है।

५ प्लूटार्क (लगभग ४५-१२५ ई०) जिसकी लाइव्स (जीवनियाँ) नामक रचना के ५७वें से ६७वें अध्यायों तक सिकन्दर की जीवनी दी गई है। इन अध्यायों में भारत का भी विवरण मिलता है।

६ जस्टिन, जो दूसरी शताब्दी ईसवी में हुआ था। इसने एक एपिटोम (सारसंग्रह) की रचना की थी जिसके १२वें खंड में भारत में सिकंदर के विजय अभियानों का विवरण दिया गया है।

भारतीय रचनाएँ लैटिन तथा यूनानी स्रोतों के अतिरिक्त ब्राह्मणों, बौद्धों तथा जैनों के साहित्य में भी ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जिनसे चन्द्रगुप्त के जीवन तथा उसके समय की परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण स्रोतों में पुराण, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा विशाखदत्त का मुद्राराक्षस और कुछ हद तक सोमदेव का कथासरित्सागर तथा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी-जैसी रचनाएँ शामिल हैं। मुख्य बौद्ध स्रोत दीपवंश, महावंश, महावंश-टीका तथा महाबोधिवंश हैं। जैन साहित्य में मुख्य प्रामाणिक स्रोत हैं भद्रबाहु का कल्पसूत्र तथा हेमचंद्र का परिशिष्टपर्वन। बौद्ध महत्त्व के अन्य स्रोतों, ग्रंथों, शिलालेखों अथवा मुद्राओं का उल्लेख इस विवरण के दौरान में यथास्थान किया जाएगा।

स्थापित हुई थी उसे उसके उत्तराधिकारी अक्षुण्ण न रख सके। उसके बाद भारत के इतिहास की दिशा को निर्धारित करनेवाली कोई एक राजनीतिक सत्ता नहीं रही। भारत एक बार फिर अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया जिनमें से प्रत्येक का अलग-अलग अपना इतिहास है।

साधन यूनानी तथा लैटिन ग्रंथ : मौर्यकालीन इतिहास में एक सुविधा यह है कि उसके साधन पर्याप्त प्रामाणिक तथा विविध प्रकार के हैं। भारतीय इतिहास की एक सबसे बड़ी खोज (जिसके लिए हम सर विलियम जोन्स के आभारी हैं) यह थी कि यूनानी भाषा का सैंड्रोकोट्टोस अथवा ऐंड्रोकोट्टस नाम भारतीय नाम चंद्रगुप्त ही है (एशियाटिक रिसर्चेज ४ पृ० ११)। इस बात से यह निष्कर्ष निकला कि चंद्रगुप्त सिकंदर का समकालीन था और स्वयं सिकंदर से मिला भी था। यह बात हमें प्लूटार्क की रचनाओं से मालूम होती है जिसने लिखा है "ऐंड्रोकोट्टोस जो उस समय नवयुवक ही था स्वयं सिकंदर से मिला था।" इस खोज के फलस्वरूप चंद्रगुप्त मौर्य तथा उसके शासनकाल के बारे में प्रचुर प्रमाण मिल गए हैं, जो भारत में सिकंदर के विजय-अभियानों का इतिहास लिखने वालों ने अपनी रचनाओं में दिये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी स्रोतों के कारण भारतीय इतिहास के एक ऐसे अध्याय पर विपुल प्रकाश पड़ता है जो अन्यथा अपनी महान् उपलब्धियों के कारण इतना गौरवशाली होते हुए भी अंधकार में ही खोया रहता। भारतीय इतिहास उस खोज के लिए भी इन्हीं स्रोतों का आभारी है जिसे 'उसके कालक्रम का मूल आधार' कहा गया है क्योंकि भारतीय कालक्रम चंद्रगुप्त के सार्वभौम सत्ता धारण करने की तिथि से आरंभ होता है।

सिकंदर के विजय-अभियान में जो लोग उसके साथ आए थे उनमें से तीन भारत के विषय में अपनी रचनाओं के कारण उल्लेखनीय हैं (१) निआर्कस जिसे सिकंदर ने सिंधु नदी तथा फारस की खाड़ी के बीच के समुद्र-तट का पूरी तरह पता लगाने के लिए नियुक्त किया था (२) ओनेसिक्रिटस जो इस यात्रा में निआर्कस के साथ था और बाद में उसने इस विषय पर तथा भारत के बारे में एक पुस्तक लिखी थी और (३) अरिस्टोबुलस जिसे सिकंदर ने भारत में कुछ काम सौंपे थे।

तीसरी शताब्दी ई० पू० में जिन यूरोपीय राजदूतों को यूनानी राजाओं ने भारत भेजा था उनमें से कुछ ने सिकंदर के इन साथियों की रचनाओं में पूरक जोड़े हैं। दुर्भाग्यवश इनमें केवल मेगास्थनीज ही एक ऐसा था जिसने इस सुअवसर का सदुपयोग किया। क्लासिकल साहित्य में यही भारत का पूर्णतम विवरण छोड़ गया था परंतु यह विवरण अपने मूल रूप में नहीं मिलता। उसका पता

केवल बाद के लेखकों की रचनाओं में उसके उद्धरणों से ही समता है, जिनमें से निम्नलिखित लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

१ स्ट्राबो इसका जीवनकाल लगभग ६४ ई पू से १९ ई तक था। इसने भूगोल की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक के १५वें भाग का प्रथम अध्याय भारत के बारे में है इसमें सिकंदर के साथियों तथा मेगास्थनीज की रचनाओं से ली गई सामग्री के आधार पर भारत के भूगोल उसके निवासियों के रहन-सहन तथा रीति रिवाजों का वर्णन किया गया है।

२ डियोडोरस ३६ ई० पू० तक जीवित रहा। इसने मेगास्थनीज की रचनाओं के आधार पर भारत का एक वृत्तांत लिखा।

३ प्लिनी ज्येष्ठ जो नेचुरल हिस्ट्री (प्रकृति वृत्त) नामक विशद ज्ञान कोष का रचयिता है। उसकी यह रचना लगभग ७५ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें यूनानी रचनाओं तथा व्यापारियों के नवीनतम विवरणों के आधार पर भारत का विवरण दिया गया था।

४ एरियन : इसका जन्म लगभग १३ ई० में हुआ था। यह कम-से-कम १७२ ई तक जीवित रहा। इसने सिकंदर के अभियानों का सबसे अच्छा वृत्तांत (ऐनाबसिस) और निआर्कस मेगास्थनीज तथा भूगोलवेत्ता एराटोस्थनीज (२७६ १९५ ई० पू०) की रचनाओं के आधार पर भारत उसके [illegible] वहाँ के रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों के बारे में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है।

५ प्लूटार्क (लगभग ४५ १२५ ई), जिसकी लाइव्स (Lives) नामक रचना के ५७वें से ६७वें अध्यायों तक सिकंदर की [illegible] उन अध्यायों में भारत का भी विवरण मिलता है।

६ जस्टिन, जो दूसरी शताब्दी ईसवी में हुआ था। [illegible] (सारसंग्रह) की रचना की थी जिसके [illegible] में [illegible] अभियानों का विवरण दिया गया है।

अर्थशास्त्र का युग : उपर्युक्त प्रामाणिक स्रोतों में अर्थशास्त्र के विषय में कुछ मतभेद है कि यह मौर्य इतिहास का प्रामाणिक स्रोत है या नहीं। प्रोफ़ेसर एफ॰ डब्ल्यू॰ टामस का यह मत है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया १ पृ॰ ४६७) कि इसका रचनाकाल स्पष्टतः मौर्यकाल की सीमाओं के भीतर या उससे बहुत निकट है। इससे पहले स्वर्गीय डॉ॰ विन्सेंट ए॰ स्मिथ ने अपनी अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया में और डॉ॰ एच॰ जैकोबी तथा डॉ॰ का॰ प्र॰ जायसवाल ने भी यही मत प्रकट किया था। प्रस्तुत पुस्तक में इसी मत का अनुसरण किया गया है। अर्थशास्त्र की विषय-सूची तथा उसमें कही गई बातों से पता चलता है कि उसके वर्तमान रूप में उसकी रचना किसी समय भी क्यों न हुई हो उसमें ऐसी प्राचीनकालीन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है जो मौर्यकालीन भारत पर पूरी तरह चरितार्थ होती है। जैसा कि एफ॰ डब्ल्यू॰ टामस ने आगे चलकर (पूर्वोक्त पृ॰ ४७४) कहा है 'विस्तृत मौर्य साम्राज्य की दशा तथा उसके संगठन के बारे में यूनानियों से हमें काफ़ी परिमाण में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त हुई है और चूँकि अर्थशास्त्र की सहायता से हम उसकी पूरी शासन-व्यवस्था भू-व्यवस्था वित्तीय पद्धति उसके कानून और उसकी समाज-व्यवस्था का वर्णन कर सकते हैं इसलिए हम इस चित्र पर विचार करने के सुअवसर से अपने को वंचित न रखेंगे। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के सुअवसर विरले ही मिलते हैं। बहुत बाद में जाकर अकबर के काल में आइन-ए-अकबरी के रूप में हमें इस प्रकार का दूसरा उदाहरण मिलता है।"

जन्म : चन्द्रगुप्त के जन्म के बारे में अनेक मतभेद है। एक मत के अनुसार उसका जन्म कुलीन घराने में हुआ था वह उच्च कुल का क्षत्रिय था और राजपद पाने के सर्वथा योग्य था लेकिन दूसरा मत उसे यह कहकर कलंकित करता है कि उसका जन्म नीच कुल में हुआ था वह शूद्र की संतान था और इसलिए राजपद पाने के योग्य नहीं था। हमें इस विवाद का फ़ैसला करने के लिए दोनों पक्षों की ओर से दिए जाने वाले प्रमाणों पर विचार करना होगा।

प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण : सबसे पहले तो हम विदेशी प्रामाणिक स्रोतों की साक्षी पर विचार करें। इसमें दो सुविधाएँ हैं। पहली यह कि यह सामग्री सबसे पुरानी और चन्द्रगुप्त के समय से सबसे निकट की है और दूसरे यह समकालीन भारतीय रिपोर्टों और कुछ इतिहासकारों द्वारा स्वयं इस विषय पर एकत्रित की गई प्रचलित कहानियों तथा परम्पराओं पर आधारित है।

प्राचीन स्रोतों में से हम निम्नलिखित उद्धरण दे रहे हैं, जिनसे इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ता है :

(१) कर्टियस ने (प्रथम शताब्दी ईसवी) पोरस ने (भारतीय राजा जिसे

सिकंदर ने हाइडैस्पीज (झेलम) की लड़ाई में पराजित किया था और जो उस समय उस प्रदेश का सबसे महान् व्यक्ति था) सिकंदर को बताया 'वर्तमान राजा (नंदवंश का राजा जिसे बाद में हटाकर चंद्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा) न केवल ऐसा आदमी है जिसमें मूलतः कोई प्रतिष्ठा नहीं थी बल्कि उसकी स्थिति नीचतम थी। उसका पिता वास्तव में नाई था" जो चोरी-छिपे रानी का प्रेमी बन गया और उसने छल से राजा का वध करवा दिया। 'फिर राजकुमारों के अभिभावक के रूप में काम करने के बहाने उसने सारी सत्ता अपने हाथ में कर ली और मार-मार अल्पवयस्क राजकुमारों की हत्या करवा दी। इसके बाद उसके एक संतान हुई जो वर्तमान राजा है जिससे उसकी प्रजा घृणा करती है या उसे क्षुद्र समझती है।"

(२) डियोडोरस से : पोरस ने सिकंदर को सूचना दी "कि गंगारिडाई का राजा (नंदवंश का राजा) बिल्कुल दुश्चरित्र आदमी है जिसका कोई सम्मान नहीं करता और उसे लोग नाई की संतान समझते हैं।

(३) प्लूटार्क से : "ऐंड्राकोट्टोस (चंद्रगुप्त) जो उस समय नवयुवक ही था स्वयं सिकंदर से मिला था और बाद में वह कहा करता था कि सिकंदर बड़ी आसानी से पूरे देश पर ('गंगारिडाई तथा प्रासाई' देश पर जिस पर नंदवंश के राजा का शासन था) अधिकार कर सकता था क्योंकि वहाँ का राजा स्वभावतः दुष्ट था और उसका जन्म नीच कुल में हुआ था और इसलिए उसकी प्रजा उसे घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।

(४) जस्टिन से (जिसने जैसा कि हम देख चुके हैं ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी की यूनानी रचनाओं के आधार पर, दूसरी शताब्दी ईसवी में अपनी पुस्तक लिखी थी) 'सिकंदर की मृत्यु के बाद मानो' भारत की गरदन पर से गुलामी का जुआ उतर गया और उसने सिकंदर के नियुक्त किये हुए पदाधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया। भारत को स्वतंत्र करानेवाला नेता सैंड्राकोट्टस (चंद्रगुप्त) था। उसका जन्म एक मामूली घराने में हुआ था परन्तु एक शकुन के कारण वह राजत्व प्राप्त करने के लिए प्रेरित हुआ। अपनी उद्दंडता के कारण उसने नंद्रस[1] को क्रुद्ध कर दिया और उसने मार डालने की आज्ञा दी थी परन्तु वह अपने प्राण लेकर वहाँ से भाग निकला।

नंदवंश के राजाओं का नीच कुल में जन्म इन उद्धरणों से पता चलता

---

१ "आम तौर पर इस स्थान पर 'अलेक्जेंड्रम' शब्द मिलता है जिसके बारे में गुटश्मिड ने सिद्ध किया है कि वह गलत है इसलिए उसके स्थान पर 'नंद्रम' शब्द रख दिया गया है।" (मैक्क्रिंडल-रचित 'इनवेज़न ऑफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर' पृ० ३२७)।

है कि जस्टिन के उद्धरण के अतिरिक्त और किसी उद्धरण में चन्द्रगुप्त के वंशक्रम का उल्लेख नहीं मिलता। जस्टिन में केवल इतना कहा है कि चंद्रगुप्त का जन्म एक मामूली घराने में हुआ था यह कहीं नहीं कहा गया है कि उसका जन्म नीच घराने में हुआ था जस्टिन ने केवल यह कहा है कि वह एक साधारण जन्म का आदमी था और उसकी नसों में राजाओं का खून नहीं था परन्तु वह 'राजत्व का पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। अन्य उद्धरणों से पता चलता है कि चंद्रगुप्त राजत्व का पद प्राप्त करने की चेष्टा क्यों कर रहा था ? उन उद्धरणों ने उस समय शासनारूढ़ भारतीय राजा के चरित्र के बारे में अनेक अपमानजनक बातें कही गई हैं उसका जन्म अप्रतिष्ठित था वह एक नाई का जारज पुत्र था 'उसकी प्रजा उससे घृणा करती थी तथा उसे क्षुद्र समझती थी। प्लूटार्क के उद्धरण से हमें यह भी पता चलता है कि नंद राजा के 'नीच कुल' में पैदा होने की बात स्वयं चंद्रगुप्त ने सिकन्दर से कही थी। क्या इस कथन से निश्चित रूप से इस बात का संकेत नहीं मिलता कि स्वयं चन्द्रगुप्त का जन्म नीच कुल में नहीं हुआ था ? यदि उसका जन्म 'नीच कुल में हुआ होता तो वह भी नीच कहलाता। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने स्वयं अपने कथन द्वारा अपने-आपको इस कलंक से मुक्त कर लिया है कि उसका सम्बन्ध किसी अप्रतिष्ठित राजकुल से था या स्वयं उसका जन्म किसी नीच कुल में हुआ था। उपरोक्त उद्धरणों से पता चलता है कि किस प्रकार उस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ चन्द्रगुप्त के लिए राजत्व का पथ प्रशस्त कर रही थीं जिसके लिए वह उचित ही 'प्रयत्नशील' था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी लोगों की साक्षी में जो उस समय के भारतवासियों द्वारा दिये गए विवरणों तथा उस समय देश में प्रचलित कहानियों पर आधारित है चन्द्रगुप्त पर इस प्रकार का कोई लांछन नहीं लगाया गया है कि उसका जन्म नीच कुल में हुआ था या उसका सम्बन्ध किसी अप्रतिष्ठित कुल से था। बल्कि इसके विपरीत इस साक्षी में यह दोष 'पूर्वी' भारत के तत्कालीन शासनारूढ़ राजा में बताया गया है और इसके फलस्वरूप उसकी स्थिति डाँवाँडोल होने का वर्णन किया गया है जिसके कारण यह आवश्यक हो गया था कि उसका तख्ता उलट दिया जाए। शुरू में चन्द्रगुप्त का यह विचार था कि सिकंदर आक्रामी है उसे राजसिंहासन से हटा देगा क्योंकि उसे जनता के प्रेम का संरक्षण प्राप्त नहीं था जो एक राजा के लिए श्रेष्ठतम सुरक्षा हो सकती है। जनता इस बात पर बहुत क्षुब्ध थी कि नीच कुल के एक व्यक्ति ने एक नाई की सन्तान एक शूद्र ने बलात् सत्ता का अपहरण कर लिया है, और यों इन बातों के अतिरिक्त अंतिम नंद शासक का हत्यारा भी था और

अत्यंत दुरभिसंधि तथा स्वभावतः 'दुष्ट प्रकृति' का था। जब चंद्रगुप्त ने देखा कि सिकंदर मार्ग से हट गया है और वह अपने विजय अभियान को और आगे नहीं ले जा सकता और नंद के साम्राज्य में घोर आतंककारी राजनीतिक स्थिति का किसी भी प्रकार लाभ नहीं उठा सकता तो स्वयं इस काम का बीड़ा उठाने का विचार उसके मन में उत्पन्न हुआ और जैसा कि जस्टिन ने कहा है 'राजत्व का पद प्राप्त करने' की प्रेरणा ने उसे प्रोत्साहित किया। परन्तु यदि वह स्वयं उस कलंक से मुक्त न होता जिसके कारण नंद से उसकी प्रजा इतनी घृणा करती था तो वह इस ध्येय को पूरा करने का बीड़ा किस प्रकार उठा सकता था? यदि वह देश को सम्राट् सत्ता का अपहरण कर लेनेवाले इस घृणित व्यक्ति से मुक्त कराने के लिए जनता का समर्थन प्राप्त करना चाहता था और यदि वह उनके नैतिक समर्थन का सहारा चाहता था जो अप्रतिष्ठित कुल में पैदा होने के कारण तथा अपने निन्दनीय कृत्यों के कारण नंद को प्राप्त नहीं हो सका था तो जब तक स्वयं उसकी उत्पत्ति बिलकुल निष्कलंक न होती तब तक वह इसकी आशा नहीं कर सकता था। एक ऐसा व्यक्ति जो इस बात का राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश कर रहा था कि उसके प्रतिद्वंद्वी का जन्म नीच कुल में हुआ था वह स्वयं नीच कुल की संतान नहीं हो सकता था। जस्टिन ने चंद्रगुप्त के बारे में यह भी बता दिया है कि नंदवंश के राजाओं के साथ कोई दूर का भी अपना अवैध सम्बन्ध होना तो दूर रहा उसमें राजवंश या अभिजात वर्ग के भी रक्त का कोई अंश नहीं था। बाद के कुछ संस्कृत ग्रंथों में इस मत का उल्लेख मिलता है कि उसका सम्बन्ध नंद राजवंश के साथ था। वह नंदवंश के राजा को इसलिए गद्दी से नहीं हटाना चाहता था कि एक सम्बन्धी के नाते उसे उससे कोई ईर्ष्या थी बल्कि उसे तो केवल देश को नंदवंश के राजा के घृणित प्रभुत्व से मुक्त कराके जनता की इच्छा को पूरा करने की धुन थी ठीक उसी प्रकार जैसे उसने देश को विदेशी शासन से मुक्त करा लिया था।

यदि यूनानी-रोमी भारतीय प्रमाणों पर आधारित विदेशी इतिहासों में इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता कि चंद्रगुप्त की उत्पत्ति में किसी प्रकार का दोष था तो फिर उसके अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेने की बात कहाँ से निकली? समस्त उपलब्ध साक्ष्य का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से पता चलता है कि इस बात का स्रोत प्रसंग से बहुत दूर का है, और वह सर्वथा प्रामाणिक भी नहीं है।

अब हम इस विषय से सम्बन्धित सभी भारतीय ग्रंथों ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन-ग्रंथों पर विचार करेंगे।

पुराणों को सबसे ब्राह्मणों के मुख्य ग्रंथ पुराण हैं। पुराणों से पता

चलता है कि इनमें चंद्रगुप्त की अपेक्षा नन्दवंश के राजाओं के वंशक्रम की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उनमें देश में क्षत्रियों के शासन का अंत हो जाने और उसके स्थान पर नन्दवंश के शूद्रों का शासन स्थापित हो जाने पर बहुत चिंता प्रकट की गई है। नंदवंश के इन राजाओं को पुराणों में खुले तौर पर अधार्मिक कहा गया है। नंद राजवंश के संस्थापक को पुराणों में 'शूद्रागर्भोद्भव' (शूद्रा से उत्पन्न) और 'महापद्मपति' (विल्सन जिसका अर्थ 'असंख्य लाखपति' करते हैं) कहा गया है। टीकाकार के मतानुसार 'महापद्म' शब्द का अर्थ असंख्य सेना अथवा अपार सम्पदा (महापद्म = १० ००० करोड़) हो सकता है। (विल्सन का विष्णु पुराण पृ० १८४)।

पुराणों से हमें पता चलता है कि पूर्ववर्ती शिशुनाग राजा क्षत्रिय थे (क्षत्र-बंधव)। उनके बाद नन्दवंश के नौ राजा हुए, महापद्मनन्द तथा उसके आठ पुत्र। महापद्म 'अपर परशुराम' 'समस्त क्षत्रिय जाति का अंत करने वाला' (सर्वक्षत्रान्तकृत्) 'समस्त क्षत्रियों को जड़ से उखाड़ देने वाला' (सर्वक्षत्रानुद्-धृत्य) 'क्षत्रियों का विनाश करने वाला' (क्षत्रविनाशकृत) बन गया और उसने अपने आपको 'पूरे राज्य के एकमात्र सार्वभौम शासक' (एक-राट्) के रूप में स्थापित कर लिया और पूरे राज्य को 'एक ही सत्ता की छत्रच्छाया में (एक-च्छत्रम्) ले आया जिससे कोई टक्कर नहीं ले सकता था' (अनुल्लंघित-शासनः)। इसके बाद पुराणों में कहा गया है कि 'अधार्मिक' राजाओं के इस वंश को 'एक द्विज' 'कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण' 'समूल नष्ट कर देगा' और वही 'कौटिल्य चंद्रगुप्त को राज्य के सार्वभौम शासक के रूप में सिंहासन पर बिठायेगा' (राज्येऽभिषेक्ष्यति)।

उन्हें केवल नंद के नीच कुल में पैदा होने का ज्ञान है। पुराणों के इन उद्धरणों में किसी प्रकार की शंका का स्थान नहीं रहने दिया गया है। इनसे स्पष्ट रूप से निम्नलिखित बातों का संकेत मिलता है : (१) नन्दवंश के राजाओं का जन्म नीच कुल में हुआ था और इन्होंने शूद्र के अधार्मिक तथा अवैध शासन की स्थापना की थी जो शास्त्रों के प्रतिकूल है, (२) देश को शूद्र शासकों द्वारा बलात् अपहृत की गई सत्ता के शासन से मुक्त कराने और पुनः क्षत्रियों के वैध शासन को स्थापित करने का काम धर्मरक्षक के रूप में कौटिल्य नामक स्वधर्मप्रिय ब्राह्मण ने पूरा किया, और (३) नन्दवंश का 'निर्मूल' कर देने का अपने जीवन का लक्ष्य पूरा कर लेने के बाद कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को सिंहासन का अधिकारी चुना और विधिवत् उसका राज्याभिषेक करके उसे सिंहासन पर बिठाया। कौटिल्य जैसे कट्टर ब्राह्मण शास्त्राचार्य तथा वैदिक धर्मरक्षक के द्वारा सार्वभौम शासक के रूप में चंद्रगुप्त का विधिवत् राज्याभिषेक

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि उसने जिस व्यक्ति को इस पद के लिए चुना था वह अवश्य ही कुलीन घराने का रहा होगा वह अवश्य ही राजत्व का पद प्राप्त करने के योग्य क्षत्रिय रहा होगा।

अर्थशास्त्र से भी इसी बात का प्रमाण मिलता है यह बात अत्यन्त महत्व पूर्ण है कि स्वयं कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी पुराणों के इन उद्धरणों का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। अर्थशास्त्र के अंत में कहा गया है "अर्थशास्त्र का संकलन एक ऐसे व्यक्ति ने किया है जिसने मातृभूमि को उसकी संस्कृति तथा उसके ज्ञान (शास्त्र) को उसकी सैनिक शक्ति को (शस्त्र) नन्दवंश के राजाओं के चंगुल से बलपूर्वक (अमर्षेण) तथा शीघ्र (आशु) मुक्त कराया।" इस उद्धरण से पता चलता है कि कौटिल्य इस बात को अपना तात्कालिक तथा अपरिहार्य धार्मिक कर्तव्य समझता था कि वह शूद्र राजाओं के अवैध शासन का यथाशीघ्र तथा बलपूर्वक अंत कर दे क्योंकि देश के आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक हित यहाँ तक कि सैनिक हित भी उनके हाथों में नहीं छोड़े जा सकते थे। कौटिल्य जिस सामाजिक व्यवस्था तथा समाज-पद्धति का समर्थक था उसे वर्णाश्रमधर्म कहते हैं जिसमें शूद्रों को राजत्व का अधिकार नहीं है। केवल क्षत्रियों को ही इसका एकमात्र अधिकारी बताया गया है जिनका काम 'शस्त्र धारण करना' (शस्त्राजीव) और 'मनुष्यमात्र की रक्षा करना' बताया गया है अर्थात् सेना-सम्बन्धी तथा प्रशासन-सम्बन्धी कृत्य क्षत्रियों के हैं। क्षत्रिय राजा का यह काम है कि वह सर्वोच्च सत्ता के रूप में धर्म की नीति के शासन की रक्षा करने तथा उसका परिपालन कराने के लिए दण्ड के रूप में अर्थात् कार्यांग के रूप में काम करे। इसलिए यह समझना बिल्कुल बतुकी बात है कि कौटिल्य ने जिसने इस धर्म अर्थात् इस व्यवस्था के माथे पर से एक शूद्र के प्रभुत्व के कलंक को धो देने का बीड़ा उठाया था इस पवित्र ध्येय की पूर्ति के लिए एक ऐसे व्यक्ति को अपना निमित्त बनाया होगा जिसमें स्वयं भी वही दोष रहा हो। वह एक शूद्र के स्थान पर दूसरे शूद्र को सार्वभौम शासक के रूप में अभिषिक्त नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त हम उच्च कुल में जन्म लेने वाले (अभिजात) और नीच कुल में जन्म लेने वाले (अनभिजात) राजा के बारे में स्वयं कौटिल्य का मत भी जानते हैं। कौटिल्य उच्च कुल में जन्म लेने वाले राजा को चाहे वह कमजोर और शक्तिहीन (दुर्बलम्) ही क्यों न हो नीच कुल में जन्म लेने वाले राजा की तुलना में चाहे वह कितना ही बलवान क्यों न हो बेहतर समझते हैं। उनका तर्क यह है कि जन-साधारण उच्च कुल में पैदा हुए राजा का अपने-आप स्वागत करते हैं (प्रकृतय: स्वयम् उपनमन्ति) और वे उसका अनुसरण करने को तैयार रहते हैं (अनुवर्तन्ते) क्योंकि उनके हृदय

में कुल-उत्पत्ति (आर्य्य कुलोत्पन्नम्) तथा चरित्र (ऐश्वर्यप्रकृति एश्वर्य-
हीता) से प्राप्त होने वाली महानता के प्रति एक स्वाभाविक सम्मान होता
है। इसके प्रतिकूल जन-साधारण के हृदय में नीच कुल में जन्म लेने वाले राजा
के प्रति एक स्वाभाविक अरुचि होती है और उसकी तिकड़मों (उपजापम्)
का समर्थन करने के लिए वे तैयार नहीं होते (विसम्वादयन्ति न अनुवर्तन्ते)।
क्योंकि कहावत है कि 'प्रेम सद्गुणों से जागृत होता है' (अनुरक्तो सार्वगुण्यम्)
(अर्थशास्त्र ८)। इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानो कौटिल्य अपनी सफाई
दे रहे हों कि उन्होंने शक्तिशाली तथा धनवान शूद्र राजा नंद की तुलना में
चंद्रगुप्त-जैसे साधारण व्यक्ति को, जो एक कुलीन क्षत्रिय था राजपद के लिए
अधिक उपयुक्त क्यों समझा ?

'मौर्य' शब्द पुराणों के एक टीकाकार ने पुराणों में चंद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त
'मौर्य' शब्द की एक अनोखी व्युत्पत्ति का पता लगाकर चंद्रगुप्त के नीच कुल
में पैदा होने का मत पहली बार व्यक्त किया था। इस टीकाकार ने 'मौर्य'
शब्द का अर्थ 'मुरा' का पुत्र लगाया था जो राजा नंद की एक पत्नी थी (चंद्र
गुप्तम् नंदस्यैव पत्न्यंतरस्य मुरासंज्ञस्य पुत्रम् मौर्याणाम् प्रथमम्)। भगवान्
बचाये ऐसे टीकाकारों से जो मूलपाठ में अपनी कल्पना के गढ़े हुए तथ्य जोड़
देते हैं। टीकाकार ने इस प्रसंग में यह आश्चर्यजनक बात कही है कि चंद्रगुप्त
नंदवंशीय राजा का पुत्र था जबकि किसी भी पुराण में इस आशय का एक
शब्द भी नहीं कहा गया है। यह बात पुराणों में चंद्रगुप्त से सम्बन्धित उन
उल्लेखों के जिनके बारे में ऊपर बताया जा चुका है सर्वथा प्रतिकूल बैठती
है। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यदि किसी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती
राजवंश के बीच कोई सम्बन्ध होता है तो पुराणों में इस बात का उल्लेख अवश्य
किया जाता है। उदाहरण के लिए—शिशुनाग राजवंश के बारे में जिसके
बाद नंदवंश के राजा गद्दी पर बैठे यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि दस
शिशुनाग राजाओं में से नवाँ नंदिवर्धन था और दसवाँ राजा उसका पुत्र महा
नंदिन था और "एक शूद्र स्त्री से महानंदिन का एक पुत्र होगा महापद्म (नंद)
जो राजा बनेगा और समस्त क्षत्रियों का नाश करेगा। इसके बाद जो राजा होंगे
वे शूद्रों की संतान होंगे। यदि यही बात मौर्यों पर भी चरितार्थ होती और
मौर्यवंश के प्रथम राजा का पूर्ववर्ती नंदवंश के राजा के साथ वैसा ही सम्बन्ध
होता जैसा कि नंदवंश के राजा का अपने पूर्ववर्ती शिशुनागवंश के राजा के
साथ था तो पुराणों में इस बात का उल्लेख अवश्य किया गया होता। व्याकरण
की दृष्टि से 'मुरा' से 'मौर्य' की उत्पत्ति निकालना टीकाकार की कोरी कल्पना
के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। टीकाकार को यहाँ सच्चाई की कोई चिन्ता

नहीं है, वहाँ उसका व्याकरण का ज्ञान भी बहुत ही थोड़ा है। व्याकरण के किसी भी नियम से 'मौर्य' शब्द की व्युत्पत्ति का प्रत्यक्ष स्रोत 'मुरा' शब्द में ढूँढ़ सकना असंभव है। मुरा से जो शब्द बनेगा वह 'मौरेय' होगा। 'मौर्य' शब्द केवल पुल्लिंग शब्द 'मुर' से बन सकता है, जिसका उल्लेख पाणिनि के सूत्र के एक गणपाठ में एक नाम के रूप में किया गया है (४. १. १५१)। बड़े आश्चर्य की बात है कि 'मौर्य' शब्द की व्युत्पत्ति का स्रोत इस शब्द में नहीं खोजा गया है। टीकाकार का व्याकरण की अपेक्षा चंद्रगुप्त की माँ का नाम खोजने में ज्यादा दिलचस्पी थी। टीकाकार में अच्छाई की बात केवल इतनी है कि उसमें न केवल व्याकरण तथा इतिहास का कोई ज्ञान नहीं है बल्कि उसे चंद्रगुप्त की कुल-उत्पत्ति में किसी कलंक का भी ज्ञान नहीं है। क्योंकि उसने यह नहीं कहा है कि चंद्रगुप्त की तथा-कथित माता एक शूद्र स्त्री थी या वह नंदवंशीय राजा की रखैल थी। उसने मुरा को राजा की वैध पत्नी तो बताया है, पर उसकी जाति के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा है। इस प्रकार हम पुराण के इस टीकाकार को भी चंद्रगुप्त के कुलहीन होने के मत का प्रवर्तक नहीं ठहरा सकते।

प्रश्न यह है कि आखिर इस लांछन का जन्मदाता कौन है?

मुद्राराक्षस की साक्षी : 'वृषल' तथा 'कुलहीन' शब्दों का प्रयोग—आम तौर पर यह माना जाता है कि इस कहानी का असली स्रोत मुद्राराक्षस है, जिसके इस प्रसंग के उद्धरणों पर हम आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारी कहानी 'वृषल' तथा 'कुलहीन' शब्दों के अर्थ पर आधारित है जिनका प्रयोग इस नाटक में चंद्रगुप्त के लिए किया गया है। इन शब्दों को उनके प्रसंग से अलग करके उनकी व्याख्या स्वतंत्र रूप से नहीं की जानी चाहिए। इस नाटक में 'वृषल' शब्द का प्रयोग चंद्रगुप्त के लिए कई जगह किया गया है और उसका वही अर्थ लगाया गया है जो साधारणतया इस शब्द का होता है—'शूद्र की संतान'। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस शब्द का एक और अर्थ भी हो सकता है, जो कलंक का सूचक न होकर प्रशंसा का बोधक है। स्वयं इस नाटक में एक जगह (३. १८) 'वृषल' शब्द का प्रयोग सम्मानसूचक अर्थ में किया गया है—'जो राजाओं में वृष के समान हो अर्थात् सर्वश्रेष्ठ राजा'। अन्य कई स्थानों पर भी चाणक्य अपने प्रिय शिष्य को इसी नाम से संबोधित करता है और एक प्रकार से यह उसका प्यार का नाम बन गया है। नाटक में केवल चंद्रगुप्त के शत्रुओं को ही उसका अपमान करने के लिए इस शब्द का प्रयोग करते हुए दिखाया गया है (६, ६) और सो भी उसके प्यार के नाम के श्लेष का लाभ उठाते हुए। इस प्रकार नाटक से यह बात कहीं भी सिद्ध नहीं होती कि 'वृषल' शब्द का प्रयोग अपमानसूचक अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार

चंद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त दूसरे शब्द 'कुलहीन' (२, १७) का भी ऐसा ही अर्थ लगाने का प्रयत्न किया गया है, और यह बताने की कोशिश की गई है कि इस शब्द में निःसंदेह उसकी 'निम्न कुल-उत्पत्ति' का संकेत मिलता है। परन्तु जिस प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग किया गया है उससे केवल यह पता चलता है कि इसका अर्थ 'निम्न' (साधारण) कुल है—'नीच' कुल नहीं। इस शब्द से उसकी उत्पत्ति पर कोई कलंक नहीं लगता। इसका अर्थ लगभग वही है जो जस्टिन ने कहा है कि 'उसका जन्म एक मामूली घराने में हुआ था'। वास्तव में इसका अर्थ यह है कि चंद्रगुप्त का जन्म एक हीन कुल में अर्थात् एक मामूली घराने में हुआ था। इसके विपरीत नंदवंशीय राजाओं को 'प्रथित-कुलज' अर्थात् 'प्रतिष्ठावान कुल का' या 'उच्च कुल का' [उच्चैरभिजनम् (१ ९)] कहा गया है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त के शत्रु उसके खिलाफ जिस बात पर जोर देते हैं वह यह है कि वह एक 'नया' (अप-स्टार्ट) राजा है जिसके वंश की कभी कोई ख्याति अथवा कीर्ति नहीं रही (अप्रथित-कुल) जिसमें अभिजात-वंश या राजाओं के रक्त का अंश भी नहीं है और इसलिए वह उस सिंहासन पर बैठने के सर्वथा अयोग्य है जिसे नंदवंश के कुलीन राजाओं ने सुशोभित किया था। वह तो पुराणों के अर्थ का समर्थन करता है। जबकि पुराणों में नंदवंश के राजाओं को शूद्र बताया गया है और उनकी कुल-उत्पत्ति पर घृणा प्रकट की गई है, मुद्राराक्षस में पाँसा बिलकुल उलट दिया गया है, उसमें नंदवंशीय राजाओं को गौरवशाली कुल का बताया गया है। एक साधारण कुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति के सारे अवगुण चंद्रगुप्त के हिस्से में आए हैं और उसे एक अज्ञात तथा अप्रतिष्ठित परिवार का 'नया' धनी दिखाया गया है। परन्तु नाटक के पक्षपात अथवा पूर्वाग्रह को इतिहास नहीं माना जा सकता और न ही एक ऐसे नाटक को जो चंद्रगुप्त के समय के आठ सौ वर्ष बाद लिखा गया हो इतिहास के स्रोत के रूप में पुराणों से अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

टीकाकार की साक्षी : यद्यपि चन्द्रगुप्त पर कोई कलंक लगाने के लिए मुद्राराक्षस का सहारा नहीं लिया जा सकता परन्तु चंद्रगुप्त को इस नाटक के टीकाकार के चंगुल से छुड़ाना मुश्किल है जो निश्चित रूप से यह कलंक उस पर लगाता है। मुद्राराक्षस के अठारहवीं शताब्दी के ढुण्ढिराज नामक एक टीकाकार ने इतिहास में कुछ नयी बातों का समावेश किया है। अपनी टीका के 'उपोद्घात' में इसने सर्वार्थसिद्धि नामक एक व्यक्ति का उल्लेख किया है जिसकी दो पत्नियाँ थीं—सुनंदा और मुरा। सुनंदा के नौ पुत्र हुए जो नंद कहलाये और छोटी पत्नी मुरा के मौर्य नामक एक पुत्र हुआ। चंद्रगुप्त के बारे में जो नाना प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं, उनके कारण इतिहास में इस बात की

खोज करने का काम ढुण्ढिराज के लिए ही छोड़ दिया गया था कि मुरा 'वृषलात्मजा' थी अर्थात् वह 'वृषल' यानी शूद्र की पुत्री थी। ढुण्ढिराज के इस मत का किसी ने भी समर्थन नहीं किया है और हम उसके वक्तव्य का वही मूल्यांकन करेंगे जो उसका प्राप्य है। इस टीका में यह भी अर्थ निहित है कि सर्वार्थसिद्धि तथा उसकी क्षत्रिय पत्नी सुनंदा के नौ पुत्र जो नव नंद कहलाए ऊँची जाति के थे। ढुण्ढिराज के मतानुसार चंद्रगुप्त का पिता मौर्य था और सर्वार्थसिद्धि ने अपना सेनापति अपने नव पुत्रों को न बनाकर मौर्य को बनाया था। इस पर नव नंदों ने छल से मौर्य तथा उसके सब पुत्रों को मरवा दिया। केवल चंद्रगुप्त भाग निकला। नंदों का एक दूसरा शत्रु चाणक्य भी था। समान शत्रुता के कारण ये दोनों मित्र बन गए।

मुद्राराक्षस की कुछ और बातें मुद्राराक्षस में इस विषय में कुछ और बातों का भी रहस्योद्घाटन किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि चंद्रगुप्त के प्रति इस नाटक का रुख सर्वत्र एक-जैसा भी नहीं है और न ही वह सुसंगत है। कहीं-कहीं तो इस बात का अत्यधिक ध्यान रखा गया है कि उसे वृषल कहकर उसके प्रति तिरस्कार न प्रकट किया जाए, बल्कि उसे 'राजकुमार' नंद वंश की संतान 'नन्दान्वय' या 'मौर्य-पुत्र' (२ ६) कहकर संबोधित किया जाए और जब नंदवंशीय राजा के स्वामिभक्त अनुचर तथा मंत्री राक्षस ने अपने आपको चंद्रगुप्त का 'पितृपर्यायगत' अर्थात् उसके परिवार में अपने बाप-दादों के समय से मंत्री का काम करनेवाला कहा तो उसमें भी इसी भावना का बोध होता है। उसने एक जगह चंद्रगुप्त को अपना 'स्वामिपुत्र' भी कहा है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस नाटक में चंद्रगुप्त को 'नंद-पुत्र' न कहकर 'मौर्य-पुत्र' कहा गया है। फिर भी उसे 'नंदवंश की संतान' कहा गया है क्योंकि वह सर्वार्थसिद्धि के पुत्र मौर्य का बेटा था और सर्वार्थसिद्धि भी नंदों का पिता था और स्वयं नंदवंश की संतान था। इस बूढ़े राजा को भी नंद कहा गया है। नाटक में दिखाया गया है कि राक्षस के परामर्श से वह पाटलिपुत्र छोड़कर वन में भाग गया था क्योंकि चंद्रगुप्त तथा चाणक्य ने एक-एक करके उसके सभी पुत्रों नौ नंदों को मरवा डाला था। फिर भी चंद्रगुप्त को अपने पिता का हत्यारा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे कहीं नंद-पुत्र नहीं कहा गया है। वह उन नौ नंदों में किसी की भी संतान नहीं था। उसके लिए जिस दूसरे शब्द 'मौर्य-पुत्र' का प्रयोग किया गया उसके कारण वह इस जघन्य अपराध के दोष से मुक्त हो गया है (देखिए—सी॰ डी॰ चटर्जी इंडियन कल्चर में 'आब्जर्वेशंस ऑन दि बृहत्कथा', खंड १ पृष्ठ २२१)।

इस प्रकार इस नाटक में जो बात कही गई है, वह पुराणों के अनुकूल नहीं

है क्योंकि पुराणों में चंद्रगुप्त तथा नंद के बीच रक्त के किसी सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया गया है। नाटक में यह बात पुराण के टीकाकार से की गई है, जिसने जैसा कि हम पहले देख चुके हैं पहली बार इस प्रकार के सम्बन्ध का प्रमाण जुटाया था।

मुद्राराक्षस की अन्य कई बातें भी पुराणों से मेल नहीं खाती। जबकि पुराणों में केवल नौ नंदों का उल्लेख किया गया है इस नाटक म सर्वार्थसिद्धि नामक एक दसवें नंद का भी उल्लेख मिलता है जिसे नंदवंशीय कहा गया है और जिसे अंतिम नंद राजा के देहान्त के बाद सिंहासन पर बिठाया गया है। इस प्रकार चाणक्य तथा चंद्रगुप्त को जिस शत्रु के विरुद्ध लड़ना पड़ा वह स्वयं नंद राजा नहीं था जैसा कि पुराणों में कहा गया है, बल्कि उसका गोत्री था। नाटक चाणक्य के इस कथन से आरम्भ होता है कि उसने "पृथ्वी पर से भी नंदों का नाम-निशान मिटा दिया है और मगधराज को निर्मूल कर दिया है। परन्तु जब तक नंदवंश की किसी भी शाखा का एक भी व्यक्ति जीवित है तब तक वह अपने लक्ष्य को पूरा नहीं समझ सकता।" और इस प्रकार, इस दृष्टि से *उसने सर्वार्थसिद्धि की हत्या* कराकर ही दम लिया जो उस समय जंगल में तपस्विया का जीवन व्यतीत कर रहा था क्योंकि वह 'नंदवंश की' एकमात्र शेष 'शाखा के रूप म बच रहा था।

काश्मीरी परम्परा काश्मीर की कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामञ्जरी नामक दो संस्कृत रचनाओं मे जो दोनों ही बहुत बाद की (११वीं शताब्दी) रचनाएं हैं चंद्रगुप्त के वंश का एक दूसरा ही चित्र प्रस्तुत किया गया है।

इन रचनाओं म न तो नौ नंदों का उल्लेख है और न उनके पिता सर्वार्थसिद्धि का ही जिनका उल्लेख मुद्राराक्षस मे किया गया है। इन रचनाओं म केवल दो नंदों का उल्लेख किया गया है (१) पूर्व-नंद, जिसे चंद्रगुप्त का पिता बताया गया है (जबकि मुद्राराक्षस मे उसके पिता का नाम मौर्य बताया गया है) (२) हिरण्यगुप्त अथवा हरिगुप्त के पिता योग-नंद।

यह बात स्पष्ट नहीं की गई है कि पूर्व-नंद और योग-नंद का आपस में क्या *सम्बन्ध था और न ही यह बात साफ-साफ बतायी गई है कि इन दोनों का* उन नौ या दस नंदों के साथ क्या सम्बन्ध था जिनका उल्लेख मुद्राराक्षस में मिलता है।

यह बात भी कहीं नहीं कही गई है कि पूर्व-नंद राजपुत्र था भी या नहीं। हमें केवल इतना पता चलता है कि दूसरा नंद अर्थात् योग-नंद राजा था जो चाणक्य की 'कृत्या' अर्थात् जादू के फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हुआ और चाणक्य ने उसके स्थान पर चंद्रगुप्त को सिंहासन पर बिठाया। इस नंद के बारे में भी यह कहा गया है कि वह शूद्र था और उसका पड़ाव अयोध्या में था।

इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाए तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि नंद, चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त के नामों के अलावा कश्मीर की रचनाओं में और मुद्राराक्षस की कथा में कोई समानता नहीं है। यद्यपि मुद्राराक्षस के बारे में यह धारणा बहुत व्यापक है कि यह या तो गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आधारित है या उसके परवर्ती कश्मीरी रूपांतरों पर, या यह भी संभव है कि यह बृहत्कथामञ्जरी पर आधारित हो। कश्मीरी रचनाओं का कथानक बिल्कुल ही भिन्न है। उसमें तथा मुद्राराक्षस की कहानी में कोई समानता नहीं है (सी० डी० चटर्जी: इंडियन कल्चर, खंड १ पृष्ठ २१० तथा उसके बाद के पृष्ठ)।

बौद्ध दृष्टिकोण : अब हम बौद्ध रचनाओं के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे जिनमें कहा गया है कि 'नंदिन' के कुल का कोई पता नहीं चलता (अज्ञात कुल) और चंद्रगुप्त को असंदिग्ध रूप से अभिजात कुल का बताया गया है। चंद्रगुप्त के बारे में कहा गया है कि वह मोरिय नामक क्षत्रिय जाति की संतान था। मोरिय जाति शाक्यों की उस उच्च तथा पवित्र जाति की एक शाखा थी जिसमें महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। कथा के अनुसार जब अत्याचारी कोसल नरेश विड्डभ ने शाक्यों पर आक्रमण किया तो मोरिय अपनी मूल बिरादरी से अलग हो गए और उन्होंने हिमालय में एक सुरक्षित स्थान में जाकर शरण ली। यह प्रदेश मोरों के लिए प्रसिद्ध था जिस कारण वहाँ जाकर बस जाने वाले ये लोग मोरिय कहलाने लगे जिसका अर्थ है मोरों के स्थान के निवासी। मोरिय शब्द 'मोर' से निकला है, जो संस्कृत के 'मयूर' शब्द का पालि पर्याय है। एक और कहानी भी है जिसमें मोरियनगर नामक एक स्थान का उल्लेख मिलता है। इस शहर का नाम मोरिय-नगर इसलिए रखा गया था कि वहाँ की इमारतें 'मोर की गरदन के रंग की ईंटों' की बनी हुई थीं। जिन लोगों ने इस नगर का निर्माण किया था वे मोरिय कहलाये। महाबोधिवंश (सम्पादक स्ट्रांग पृ० ९८) में कहा गया है कि "कुमार" चंद्रगुप्त जिसका जन्म राजाओं के कुल में हुआ था (नरिंद-कुल-संभव) जो मोरिय नगर का निवासी था जिसका निर्माण शाक्यपुत्रों ने किया था चाणक्य नामक ब्राह्मण (द्विज) की सहायता से पाटलिपुत्र का राजा बना।

महाबोधिवंश में यह भी कहा गया है कि चंद्रगुप्त का 'जन्म क्षत्रियों के मोरिय नामक वंश में' हुआ था (मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं)।

बौद्धों के दीघ निकाय नामक ग्रंथ में (२ १६७) पिप्फलिवन में रहने वाला मोरिय नामक एक क्षत्रिय वंश का उल्लेख मिलता है।

दिव्यावदान (सम्पादक कावेल पृ० १७०) में बिंदुसार (चंद्रगुप्त के पुत्र) के बारे में कहा गया है, कि उसका एक क्षत्रिय राजा के रूप में विधिवत् अभिषेक

हुआ था (क्षत्रिय-मूर्धाभिषिक्त) और अशोक (चंद्रगुप्त के पौत्र) को क्षत्रिय कहा गया है।

जैन परम्परा : जैन परम्परा में भी यह वर्णन मिलता है कि चंद्रगुप्त एक गाँव के मुखिया की बेटी का पुत्र था जहाँ के रहने वाले 'राजा के मोरों की देखभाल करने वाले' (मयूर-पोषक-ग्रामे) कहलाते थे [हेमचंद्र कृत परिशिष्ट पर्वन (८, २३०)]। नंद के बारे में इसी ग्रंथ में कहा गया है कि उसका पिता नाई और माँ वेश्या थी (जिसे यूनानियों ने पिछले राजा की रानी बताया है) (पूर्वोक्त ६ २३२)। इस प्रकार उस पर दोहरा कलंक लगाया गया है, क्योंकि उसके माता-पिता दोनों ही कलंकित थे। आवश्यक सूत्र (पृ १९१) में भी नौ नंदों का (नवमे नंदे) उल्लेख किया गया है, और इनमें से पहले नंद को नाई की संतान बताया गया है (नापितदास राजा जात.)।

परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि परिशिष्टपर्वन (८ ३१२) की कहानी के अनुसार नवनंदीय राजा को सिंहासन से उतार देने के बाद चाणक्य ने उसे इस बात की अनुमति दे दी थी कि वह एक रथ भर सामान लेकर पाटलिपुत्र छोड़कर जा सकता है। चलते समय उसके साथ उसकी दो पत्नियाँ तथा एक बेटी थी जो चन्द्रगुप्त को देखते ही उस पर मोहित हो गई और उसके पिता नंद ने उसे चन्द्रगुप्त से विवाह कर लेने की इजाजत दे दी "क्योंकि क्षत्रिय कन्याएँ अपना वर प्रायः स्वयं चुनती हैं" (प्रायः क्षत्रिय-कन्यानाम् शस्यते हि स्वयंवर)। इससे तो यही ध्वनि निकलती है कि नंद अभी तक क्षत्रिय होने का दावा करता था।

स्मारकों की साक्षी : स्मारकों के ज्वलंत प्रमाण से बौद्ध तथा जैन दृष्टिकोणों की बड़े अनोखे ढंग से पुष्टि होती है इन दोनों में मोरिय अथवा मौर्यवंश का सम्बन्ध मयूर शब्द के साथ बताया गया है। नंदनगढ़ में अशोक-स्तंभ के निचले सिरे पर जो भूमि के धरातल के नीचे था एक मोर का चित्र अंकित है और साँची के विशाल स्तूप में भी पत्थर पर खुदे हुए अनेक चित्रों में वही मोर की आकृति देखने में आती है। इन चित्रों का सम्बन्ध अशोक से बताया जाता है, क्योंकि उनमें उसी के जीवन की घटनाओं का चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है। फूशे तथा 'सर जॉन मार्शल' दोनों ही 'ग्रुनवेडेल' से सहमत हैं जिन्होंने सबसे पहले यह बात कही थी कि मोर का चित्र इस बात का द्योतक है कि मोर मौर्यों का वंश प्रतीक था।

सारांश : चंद्रगुप्त के जन्म तथा वंशक्रम से सम्बन्धित इन विभिन्न प्रचलित परम्पराओं का सारांश निकालते हुए हम देखेंगे कि उनमें किन बातों पर मतैक्य है और किन बातों पर मतभेद। यूनानी वृत्तांतों तथा पुराणों में इस बात पर

मतैक्य है कि अकस्मात उत्पत्ति चंद्रगुप्त की नहीं बल्कि नंदवंशीय राजा की थी। यूनानी वृत्तांतों में नंदवंशीय राजा को एक नाई का जारज पुत्र कहा गया है और पुराणों में नंदवंश को शूद्र कहा गया है। यूनानी वृत्तांतों में उनकी नीच-कुल-उत्पत्ति का और विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसका शूद्र पिता एक रूपवान नाई था जिससे राजा नंद की रानी प्रेमपाश में बँध गई थी। इन दोनों के बीच अवैध प्रणय-सम्बन्ध चलते रहे और अंत में रानी ने अपने राजवंशीय पति की हत्या करवाकर उसे मार्ग से हटा दिया। परंतु मुद्राराक्षस में बिल्कुल ही उलटा चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें नंदों को अभिजात कुल का बताया गया है और चंद्रगुप्त को एक अज्ञात कुल का नया राजा। इस नाटक में कहीं-कहीं यह असंगति भी पाई जाती है कि उसमें चंद्रगुप्त को नंदवंश की संतान कहा गया है। बौद्ध और जैन परम्पराओं का इस विषय पर मतैक्य है कि चंद्रगुप्त का जन्म कुलीन वंश में हुआ था।

यह बात उल्लेखनीय है कि सिकंदर द्वारा भारत के आक्रमण के यूनानी वृत्तांतों में मोरिएइस नामक एक भारतीय जाति का उल्लेख मिलता है जो मोरिय का यूनानी पर्याय है।

प्रारंभिक जीवन चंद्रगुप्त की उत्पत्ति तथा उसके प्रारंभिक जीवन के बारे में इतनी कम जानकारी प्राप्त है कि इन विषयों पर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। अंधकार के बारे में नाना प्रकार की कथाएँ प्रचलित हो ही जाती हैं। जो भी व्यक्ति साधारण कुल में जन्म लेने के बाद महानता का पद प्राप्त कर लेता है उस इन कथाओं में असाधारण गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के पद पर बिठा दिया जाता है। चंद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन के बारे में जानकारी हमें बौद्ध कथाओं से प्राप्त होती है। इन कथाओं का स्रोत मुख्यतः दो रचनाओं में मिलता है, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं (१) महावंश टीका, जिसे वंसत्थप्पकासिनी भी कहते हैं (जिसकी रचना लगभग १०वीं शताब्दी ईसवी के मध्य में हुई थी) और (२) महाबोधिवंस जिसके रचयिता उपतिस्स हैं (लगभग १०वीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध में)। इन दोनों ही ग्रंथों का आधार, सीहलट्ठकथा तथा उत्तरविहारट्ठकथा नामक प्राचीन ग्रंथ हैं। सीहलट्ठकथा के बारे में कहा जाता है कि उसकी रचना थेर महिन्द (अशोक का पुत्र) तथा उनके साथ मगध से आये हुए अन्य भिक्षुओं ने की थी जिन्हें संघ के प्रधान ने धर्म प्रचार के लिए लंका भेजा था। अशोक ने धर्म-प्रचारकों के इस मंडल में बोधिगुप्त तथा सुमित्र-जैसे उपासकों को भी भेजा था जो धर्म-प्रचारक नहीं थे। बोधिगुप्त तथा सुमित्र अशोक की पहली पत्नी देवी के भाई थे। लंका के राजा देवानांप्रिय तिष्य ने उन दोनों को बोधि-वृक्ष द्वारा लंका की विजय का विवरण लिखने के लिए मुख्य लेखकों के रूप में

(लोकाख्यप-महल्लेख्य) नियुक्त किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी रचना जो अब कहीं उपलब्ध नहीं है, आंशिक रूप से उत्तरविहारट्ठकथा में सम्मिलित कर ली गई थी। इस रचना में मौर्य इतिहास के बारे में कुछ ऐसी बातों का विवरण मिलता है जो महावंसट्ठकथा में नहीं है। इन बातों का स्रोत कदाचित् मगध के उपरोक्त इतिहासकारों की रचना में रहा होगा और उन्हें मतभेद रखने वाले तथा रूढ़ि-विरोधी उत्तर विहार वासी अथवा धम्मरुचिकों की रचना में शामिल कर लिया गया होगा (श्री सी॰ डी॰ चटर्जी द्वारा प्रदान की गई जानकारी के आधार पर)।

इन वृत्तांतों के अनुसार चंद्रगुप्त का जन्म मोरिय नामक क्षत्रिय जाति में हुआ था जिसका शाक्यों के साथ सम्बन्ध था। अपनी जन्मभूमि छोड़कर चली जाने वाली मोरिय जाति का मुखिया चन्द्रगुप्त का पिता था दुर्भाग्यवश वह सीमांत पर एक झगड़े में मारा गया और उसका परिवार अनाथ रह गया। उसकी अबला विधवा अपने भाइयों के साथ भागकर पुष्पपुर (= कुसुमपुर = पाटलिपुत्र) नामक नगर में पहुँची जहाँ उसने चंद्रगुप्त को जन्म दिया। सुरक्षा के विचार से इस अनाथ बालक को उसके मामाओं ने एक गोशाला में छोड़ दिया जहाँ एक गड़रिए ने अपने पुत्र की तरह उसका लालन-पालन किया और जब वह बड़ा हुआ तो उसे एक शिकारी के हाथ बेच दिया जिसने उसे गाय-भैंस चराने के काम पर लगा दिया। कहा जाता है कि इस साधारण ग्रामीण बालक चंद्रगुप्त ने राजकीलम् नामक एक खेल का आविष्कार करके जन्मजात नेता होने का परिचय दिया इस खेल में वह राजा बनता था और अपने साथियों को अपना अनुचर बनाता था। वह राजसभा भी जुटाता था जिसमें बैठकर वह न्याय करता था। गाँव के बच्चों की ऐसी ही एक राजसभा में चाणक्य ने पहली बार चंद्रगुप्त को देखा था। चाणक्य ने अपनी दिव्यदृष्टि से तुरन्त इस ग्रामीण अनाथ बालक में राजत्व की प्रतिभा तथा चिह्न देखे और वहीं पर १०० कार्षापण देकर उसे उसके पालक-पिता से खरीद लिया। उस समय चन्द्रगुप्त आठ या नौ वर्ष का बालक रहा होगा। चाणक्य जिसे तक्षशिला नामक नगर का निवासी (तक्कसिला-नगर-वासी) बताया गया है, बालक को लेकर अपने नगर लौटा और ७ या ८ वर्ष तक उस प्रख्यात विद्यापीठ में उसे शिक्षा दिलाई, जहाँ जातक-कथाओं के अनुसार, उस समय की समस्त 'विद्याएँ तथा कलाएँ' सिखायी जाती थीं। वहाँ चाणक्य ने उसे अप्राविधिक विषयों और व्यावहारिक तथा प्राविधिक कलाओं की भी सर्वांगीण शिक्षा दिलाई (बहुस्सुतभावञ्च उग्गहितसिप्पञ्च)।

तक्षशिला में विद्योपार्जन जातक-कथाओं से हमें पता चलता है कि उस समय के राजा अपने राजकुमारों को विद्योपार्जन के लिए तक्षशिला भेजा करते

थे जहाँ 'विश्व-विख्यात' अध्यापक थे। इन कथाओं में हम पढ़ते हैं "सारे भारत से क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के पुत्र इन अध्यापकों से विभिन्न कलाएँ सीखने आते थे।" तक्षशिला प्राथमिक शिक्षा का ही नहीं बल्कि उच्च शिक्षा का केन्द्र था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि वहाँ बालकों को १६ वर्ष की अवस्था में अर्थात् 'किशोरावस्था में प्रवेश करने पर' भरती किया जाता था। इससे बड़ी अवस्था के छात्र अथवा गृहस्थ लोग भी यहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे। वे अपने रहन सहन का प्रबंध स्वयं करते थे। हम तक्षशिला के एक ऐसे अध्यापक का भी उल्लेख मिलता है जिसकी पाठशाला में केवल राजकुमार ही पढ़ते थे "उस समय भारत में इन राजकुमारों की संख्या १०१ थी।" वहाँ जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी उनमें तीन वेदों तथा १८ शिल्प अर्थात् शिल्पों का उल्लेख मिलता है जिनमें धनुर्विद्या (इस्सत्थ-सिप्प) आखेट तथा हाथियों से सम्बन्धित ज्ञान (हत्थिसुत्त) का उल्लेख किया गया है जिन्हें राजकुमारों के लिए उपयुक्त समझा जाता था। सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही की शिक्षा दी जाती थी। तक्षशिला अपनी विधि-शास्त्र चिकित्सा-विज्ञान तथा सैन्य विद्या की अलग-अलग पाठशालाओं के लिए प्रख्यात था। तक्षशिला की सैनिक अकादमी का भी उल्लेख मिलता है जिसमें १ ३ राजकुमार शिक्षा पाते थे। एक जगह यह विवरण मिलता है कि किस प्रकार एक शिष्य को सैन्य-विद्या की शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद उसके गुरु ने प्रमाणपत्र के रूप में स्वयं अपनी "तलवार, एक धनुष और बाण एक कवच तथा एक हीरा" दिया और उससे कहा कि वह उसके स्थान पर सैन्य-विद्या की शिक्षा प्राप्त करने वाले ५०० शिष्यों की पाठशाला के प्रधान का पद ग्रहण करे क्योंकि वह वृद्ध हो गया था और अवकाश ग्रहण करना चाहता था। [विस्तृत विवरण के लिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की ऐन्शेंट इंडियन एजुकेशन (मैकमिलंस लंदन) नामक रचना का १९वाँ अध्याय देखिए।]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य अपने अल्पवयस्क शिष्य की शिक्षा का इससे अच्छा कोई दूसरा प्रबंध नहीं कर सकता था कि उसे विद्योपार्जन के लिए तक्षशिला में भरती करा दे। इसने राजकुमारों के साथ रहकर आठ वर्ष तक सैनिक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह उस समय की समस्त सैन्य विद्याओं तथा कलाओं में निपुण हो गया होगा। चंद्रगुप्त को उसके अभिभावक चाणक्य ने जो महान् कार्य सौंपा था उसे पूरा करने के लिए इससे अच्छी तैयारी तथा इससे अच्छा प्रशिक्षण कोई दूसरा नहीं हो सकता था।

प्रसंगवश यह भी कह दिया जाए कि तक्षशिला में चंद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन तथा विद्योपार्जन से प्लूटार्क के इस उल्लेखनीय कथन की भी एक तरह से पुष्टि हो जाती है कि वह अपनी युवावस्था में सिकंदर से उस समय मिला

(संकायत-महालेखक) नियुक्त किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी रचना जो अब कहीं उपलब्ध नहीं है आंशिक रूप से उत्तरविहारट्ठकथा में सम्मिलित कर ली गई थी। इस रचना में मौर्य इतिहास के बारे में कुछ ऐसी बातों का विवरण मिलता है जो सीहलट्ठकथा में नहीं हैं। इन बातों का स्रोत कदाचित् मगध के उपरोक्त इतिहासकारों की रचना में रहा होगा और उन्हें मतभेद रखने वाले तथा रूढ़ि-विरोधी उत्तरविहार वासियों अथवा धम्मरक्खित की रचना में शामिल कर लिया गया होगा (श्री सी डी चटर्जी द्वारा प्रदान की गई जानकारी के आधार पर)।

इन वृत्तांतों के अनुसार चंद्रगुप्त का जन्म मोरिय नामक क्षत्रिय जाति में हुआ था जिसका शाक्यों के साथ सम्बन्ध था। अपनी जन्मभूमि छोड़कर चली आने वाली मोरिय जाति का मुखिया चंद्रगुप्त का पिता था दुर्भाग्यवश वह सीमांत पर एक झगड़े में मारा गया और उसका परिवार अनाथ रह गया। उसकी अबला विधवा अपने भाइयों के साथ भागकर पुष्पपुर (= कुसुमपुर = पाटलिपुत्र) नामक नगर में पहुँची जहाँ उसने चंद्रगुप्त को जन्म दिया। सुरक्षा के विचार से इस अनाथ बालक को उसके मामाओं ने एक गोशाला में छोड़ दिया जहाँ एक गड़रिए ने अपने पुत्र की तरह उसका लालन-पालन किया और जब वह बड़ा हुआ तो उसे एक शिकारी के हाथ बेच दिया जिसने उसे गाय-भैंस चराने के काम पर लगा दिया। कहा जाता है कि इस साधारण ग्रामीण बालक चंद्रगुप्त ने राजकीलम् नामक एक खेल का आविष्कार करके जन्मजात नेता होने का परिचय दिया इस खेल में वह राजा बनता था और अपने साथियों को अपना अनुचर बनाता था। वह राजसभा भी जुटाता था जिसमें बैठकर वह न्याय करता था। गाँव के बच्चों की ऐसी ही एक राजसभा में चाणक्य ने पहली बार चंद्रगुप्त को देखा था। चाणक्य ने अपनी दिव्यदृष्टि से तुरंत इस ग्रामीण अनाथ बालक में राजत्व की प्रतिभा तथा चिह्न देखे और वहीं पर १०० कार्षापण देकर उसे उसके पालक-पिता से खरीद लिया। उस समय चन्द्रगुप्त आठ या नौ वर्ष का बालक रहा होगा। चाणक्य जिसे तक्षशिला नामक नगर का निवासी (तक्कसिला-नगर-वासी) बताया गया है, बालक को लेकर अपने नगर लौटा और ७ या ८ वर्ष तक उस प्रख्यात विद्यापीठ में उसे शिक्षा दिलाई, जहाँ पालि-कथाओं के अनुसार, उस समय की समस्त विद्याएँ तथा कलाएँ सिखाई जाती थीं। यहाँ चाणक्य ने उसे शास्त्रीय विषयों और व्यावहारिक तथा प्राविधिक कलाओं की भी सर्वांगीण शिक्षा दिलाई (बहुस्सुतसमत्थ उग्गहितसिप्पकम्म)।

तक्षशिला में विद्योपार्जन : पालि-कथाओं से हमें पता चलता है कि उस समय के राजा अपने राजकुमारों को विद्योपार्जन के लिए तक्षशिला भेजा करते

थे जहाँ 'विश्व-विख्यात' अध्यापक थे। इन कथाओं में हम पढ़ते हैं "सारे भारत से क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों के पुत्र इन अध्यापकों से विभिन्न कलाएँ सीखने आते थे।" तक्षशिला प्राथमिक शिक्षा का ही नहीं बल्कि उच्च शिक्षा का केंद्र था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि यहाँ बालकों को १६ वर्ष की अवस्था में अर्थात् 'किशोरावस्था में प्रवेश करने पर' भरती किया जाता था। इससे बड़ी अवस्था के छात्र अथवा गृहस्थ लोग भी यहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे। वे अपने रहने आदि का प्रबंध स्वयं करते थे। हमें तक्षशिला के एक ऐसे अध्यापक का भी उल्लेख मिलता है जिसकी पाठशाला में केवल राजकुमार ही पढ़ते थे "उस समय भारत में इन राजकुमारों की संख्या १ १ थी।" यहाँ जिन विषयों की शिक्षा दी जाती थी उनमें तीन वेद तथा १८ 'शिल्प' अर्थात् शिल्पों का उल्लेख मिलता है जिनमें धनुर्विद्या (इस्सत्थ-सिप्प) आखेट तथा हाथियों से सम्बन्धित ज्ञान (हस्तिसूत्र) का उल्लेख किया गया है जिन्हें राजकुमारों के लिए उपयुक्त समझा जाता था। सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही की शिक्षा दी जाती थी। तक्षशिला अपनी विधि-शास्त्र चिकित्सा-विज्ञान तथा सैन्य विद्या की अलग-अलग पाठशालाओं के लिए प्रख्यात था। तक्षशिला की सैनिक अकादमी का भी उल्लेख मिलता है जिसमें १०१ राजकुमार शिक्षा पाते थे। एक जगह यह विवरण मिलता है कि किस प्रकार एक शिष्य को सैन्य विद्या की शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद उसके गुरु ने प्रमाणपत्र के रूप में स्वयं अपनी 'तलवार, एक धनुष और बाण एक कवच तथा एक हीरा' दिया और उससे कहा कि वह उसके स्थान पर सैन्य विद्या की शिक्षा प्राप्त करने वाले ५ ० शिष्यों की पाठशाला के प्रधान का पद ग्रहण करे क्योंकि वह वृद्ध हो गया था और अवकाश ग्रहण करना चाहता था। [विस्तृत विवरण के लिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की 'ऐन्शेंट इंडियन एजुकेशन (मैकमिलन्स लंदन)' नामक रचना का १९वाँ अध्याय देखिए।]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य अपने अल्पवयस्क शिष्य की शिक्षा का इससे अच्छा कोई दूसरा प्रबंध नहीं कर सकता था कि उसे विद्योपार्जन के लिए तक्षशिला में भरती करा दे। इतने राजकुमारों के साथ रहकर आठ वर्ष तक सैनिक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह उस समय की समस्त सैन्य विद्याओं तथा कलाओं में निपुण हो गया होगा। चंद्रगुप्त को उसके अभिभावक चाणक्य ने जो महान् कार्य सौंपा था उसे पूरा करने के लिए इससे अच्छी तैयारी तथा इससे अच्छा प्रशिक्षण कोई दूसरा नहीं हो सकता था।

प्रसंगवश यह भी कह दिया जाए कि तक्षशिला में चंद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन तथा विद्योपार्जन से प्लूटार्क के इस उल्लेखनीय कथन की भी एक तरह से पुष्टि हो जाती है कि वह अपनी युवावस्था में सिकंदर से उस समय मिला

था जबकि वह अपने विजय-अभियान के दौरान में पंजाब पहुँचा था। उस जगह रहने वाले एक युवक के लिए यह बात सर्वथा संभव थी जिसने सैन्य-विद्या का एक विद्यार्थी होने के नाते स्वयं अपने ज्ञान में वृद्धि करने के लिए उस समय के सबसे बड़े सैनिक नेता से भेंट की होगी।

पालि स्रोतों से प्राप्त चंद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन के इस विवरण से जस्टिन के इस कथन की भी पुष्टि होती है कि उसका 'जन्म एक मामूली घराने में' हुआ था।

अध्याय २

विजय-अभियान तथा कालक्रम

चाणक्य तथा चंद्रगुप्त की पहली भेंट । हम पिछले अध्याय में इस बात का उल्लेख कर आए हैं कि चाणक्य तथा चंद्रगुप्त एक-दूसरे से किन परिस्थितियों में पहली बार मिले । यह भेंट एक युगांतरकारी भेंट थी और इसके फलस्वरूप आगे चलकर न केवल उनके वैयक्तिक जीवन में बल्कि देश के इतिहास में भी बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन होने वाले थे । चाणक्य से उसकी इस मुलाकात ने चंद्रगुप्त के जीवन की धारा को एक नयी दिशा में मोड़ दिया । अब वह एक भगोड़े व्यक्ति की भाँति निर्जन स्थानों में शिकारी का संकटमय जीवन व्यतीत नहीं करता था । अब उसे एक सुसंस्कृत नागरिक का जीवन व्यतीत करना था उसे सुदूर तक्षशिला में भारत की सबसे बड़ी विद्यापीठ में उस समय की उच्चतम शिक्षा मिलने वाली थी और उसे इतिहास के एक सबसे बड़े प्रयास के लिए तैयारी करनी थी । परन्तु चंद्रगुप्त के राजनीतिक जीवन पर विस्तारपूर्वक विचार करने से पहले उन परिस्थितियों को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है जिनमें दूरस्थ पाटलिपुत्र नगर के निकट चाणक्य तथा चंद्रगुप्त की यह युगांतरकारी भेंट हुई थी ।

विचार का केंद्र पाटलिपुत्र जैसा कि महावंस टीका में बताया गया है चाणक्य ने तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक की लम्बी यात्रा ज्ञान की खोज में तथा साम्राज्य की राजधानी के शास्त्रार्थों में भाग लेने के उद्देश्य से की थी (वादं परियेसंतो पुप्फपुरं गंत्वा) ।

भारत की बौद्धिक राजधानी के रूप में पाटलिपुत्र के लिए यह एक असाधारण गौरव की बात थी कि चाणक्य जैसा निष्णात् विद्वान्, जो तक्षशिला-जैसी महानतम विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त कर चुका था, पूर्वी भारत के इस सुदूर नगर में अपने ज्ञान का और गौरवान्वित करने की खोज में आये।

विद्या के केंद्र के रूप में पाटलिपुत्र की ख्याति युगों तक बनी रही, उसके राजनीतिक वैभव का अंत हो जाने के बाद भी। इसके लगभग हजार वर्ष बाद की कवि राजशेखर की काव्यमीमांसा नामक अमर रचना में उसका उल्लेख मिलता है। उसमें राजशेखर ने लिखा है, 'कहा जाता है (श्रूयते) कि पाटलिपुत्र समस्त शास्त्रकारों, विभिन्न दर्शन-पद्धतियों के संस्थापकों तथा प्रवर्तकों की परीक्षा (शास्त्रकार-परीक्षा) का केंद्र था। यहीं पर वर्ष तथा उपवर्ष, पाणिनि तथा पिंगल और व्याडि-जैसी सुविख्यात सृजनात्मक प्रतिभाओं तथा लेखकों की परीक्षा ली गई। बाद में चलकर विद्या के इस नगर में परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद ही वररुचि तथा पतञ्जलि ने विद्वानों के रूप में ख्याति प्राप्त की।'

यह बात स्पष्ट है कि 'वर्ष' एक अत्यंत प्राचीन लेखक थे, क्योंकि वह स्वयं पाणिनि (लगभग ५ ई० पू० या उससे भी पहले) के गुरु थे। उनके भाई 'उपवर्ष' ने मीमांसा सूत्र तथा वेदांत सूत्र की टीकाएँ लिखी थीं, जिनके भाष्यों के उद्धरण स्वयं जगद्गुरु शंकराचार्य ने दिये हैं। कहा जाता है कि छंद-शास्त्र के रचयिता पिंगल पाणिनि के छोटे भाई थे। व्याकरणाचार्य व्याडि पाणिनि के बाद हुए और उन्होंने उनकी व्याकरण-पद्धति के बारे में बहुत कुछ लिखा। वररुचि तथा पतञ्जलि तो बहुत बाद में हुए। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर ने वर्ष से लेकर वररुचि तक और पिंगल से लेकर पतञ्जलि तक इन समस्त विद्वानों का उल्लेख उनके जीवनकाल के क्रमानुसार किया है। वेद के विभिन्न भागों से सम्बन्ध रखने वाले इन सभी विद्वानों ने पाटलिपुत्र की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ही ख्याति प्राप्त की।

उग्रसेन-नंद — पालि-ग्रंथों में मगध के तत्कालीन शासक का नाम, जिसका उल्लेख संस्कृत ग्रंथों में केवल नंद के नाम से किया गया है, धन-नंद बताया गया है। इसके अतिरिक्त पालि-ग्रंथों में भी नन्दों के नाम तथा उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ बातें भी बतायी गई हैं। इन ग्रंथों से हमें पता चलता है कि नंद-वंश के नौ राजा, जो सब भाई थे, बारी-बारी से अपनी आयु के क्रम से (वुड्ढपटिपाटिया) गद्दी पर बैठे। धन-नंद उनमें सबसे छोटा था। उनके बड़े भाई का नाम उग्रसेन-नंद बताया गया है, वही नंद-वंश का संस्थापक था। चन्द्रगुप्त की तरह ही उसका प्रारंभिक जीवन भी अत्यंत रोमांचपूर्ण था। वह मूलतः सीमांत प्रदेश का निवासी था (पच्चंत-वासिक)। एक बार डाकुओं ने उसे पकड़ लिया

भारत की बौद्धिक राजधानी के रूप में पाटलिपुत्र के लिए यह एक असाधारण गौरव की बात थी कि चाणक्य जैसा निष्णात् विद्वान् जो तक्षशिला-जैसी महानतम विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त कर चुका था पूर्वी भारत के इस सुदूर नगर में अपने ज्ञान को और योग्यताभिषिक्त करने की तलाश में आया।

विद्या के केन्द्र के रूप में पाटलिपुत्र की ख्याति युगों तक बनी रही उसके राजनीतिक वैभव का अन्त हो जाने के बाद भी। इसके लगभग हजार वर्ष बाद के कवि राजशेखर की काव्यमीमांसा नामक अमर रचना में उसका उल्लेख मिलता है। उसमें राजशेखर ने लिखा है — कहा जाता है (श्रूयते) कि पाटलिपुत्र समस्त शास्त्रकारों विविध शास्त्र-पद्धतियों के संस्थापकों तथा प्रवर्तकों की परीक्षा (शास्त्रकार-परीक्षा) का केन्द्र था। यहीं पर वर्ष तथा उपवर्ष पाणिनि तथा पिंगल और व्याडि जैसी सुविख्यात सूत्रात्मक प्रतिभाओं तथा रचनाओं की परीक्षा की गई। बाद में चलकर विद्या के इस नगर में परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद ही वररुचि तथा पतञ्जलि ने विद्वानों के रूप में ख्याति प्राप्त की।

यह बात स्पष्ट है कि वर्ष एक अत्यन्त प्राचीन लेखक थे क्योंकि वह स्वयं पाणिनि (लगभग ५ ई पू या उससे भी पहले) के गुरु थे। उनके भाई 'उपवर्ष' ने मीमांसा सूत्र तथा वेदान्त सूत्र की टीकाएं लिखी थी जिनके भाष्यों के उद्धरण स्वयं जगद्गुरु शंकराचार्य ने दिये हैं। कहा जाता है कि छंद-शास्त्र के रचयिता पिंगल पाणिनि के छोटे भाई थे। व्याकरणाचार्य व्याडि पाणिनि के बाद हुए और उन्होंने उनकी व्याकरण-पद्धति के बारे में बहुत कुछ लिखा। वररुचि तथा पतञ्जलि तो बहुत बाद में हुए। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर ने वर्ष से लेकर वररुचि तक और पिंगल से लेकर पतञ्जलि तक इन समस्त विद्वानों का उल्लेख उनके जीवनकाल के क्रमानुसार किया है। ज्ञान के विभिन्न मार्गों से सम्बन्ध रखने वाले इन सभी विद्वानों ने पाटलिपुत्र की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ही ख्याति प्राप्त की।

उग्रसेन-नंद — पालि-कथा में मगध के तत्कालीन शासक का नाम, जिसका उल्लेख संस्कृत ग्रंथों में केवल नंद के नाम से किया गया है, धन-नंद बताया गया है। इसके अतिरिक्त पालि-कथा में नौ नंदों के नाम तथा उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ बातें भी बताई गई हैं। इन ग्रंथों से हमें पता चलता है कि नंद-वंश के नौ राजा जो सब भाई थे बारी-बारी से अपनी आयु के क्रम से (वुड्ढपटिपाटिया) गद्दी पर बैठे। धन-नंद उनमें सबसे छोटा था। सबसे बड़े भाई का नाम उग्रसेन-नंद बताया गया है। वही नंद-वंश का संस्थापक था। चन्द्रगुप्त की तरह ही उसका प्रारम्भिक जीवन भी अत्यन्त रोमांचपूर्ण था। वह मूलतः सीमांत प्रदेश का निवासी था (पच्चन्त-वासिक)। एक बार डाकुओं ने उसे पकड़ लिया

चाणक्य ने राजा का नाश किया, उसके वंश का निर्मूल कर नन्द की सत्ता ली और एक सच्चे धार्मिक साधु के भेष में उसके समूल से वध किया। कुसुम-पुर महत्वपूर्ण उसकी देन बाद में हुई, जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध-ग्रंथों की इस कथा की प्रतिध्वनि मुद्राराक्षस नामक संस्कृत रचना में मिलती है जिसमें कहा गया है कि राजा नन्द ने भरे दरबार में चाणक्य को उसके उस सम्मानित पद पर से हटा दिया था जो उसे दरबार में दिया गया था [मुद्राराक्षसोपोद्घात (I, २)], जिस पर चाणक्य ने सौगंध ली कि वह उसके सारे परिवार तथा वंश को निर्मूल करके ही दम लेगा।

चंद्रगुप्त का पहला काम : यूनानी शासन का उन्मूलन — अब हम फिर उस इतिहास पर आते हैं जो चाणक्य की सहायता से चंद्रगुप्त के मन में अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने का साधन मिल जाने के बाद घटित हुआ। हम पहले देख चुके हैं कि चाणक्य ने कितने धैर्य के साथ और बड़े तरह चंद्रगुप्त को यथासंभव उच्चतम शिक्षा देने का सबसे पहला काम पूरा किया, ताकि उसके सामने जो विशाल योजनाएँ थीं, उन्हें पूरा करने के वह योग्य हो जाए। सबसे पहला काम तो उस विपदा से छुटकारा पाना था जो उसके द्वार पर आ पहुँची थी। अपनी आँखों के सामने अपनी मातृभूमि पर विदेशी आक्रमण, पंजाब के छोटे-छोटे गणतंत्रों के निवासियों द्वारा विभिन्न स्थानों में उस आक्रमण का विरोध करने के निष्फल प्रयत्नों और अंत में बलात् देश पर विदेशी यूनानी शासन की स्थापना को देखकर युवक चंद्रगुप्त के विचारों में एक तूफ़ान-सा आ गया था। इस प्रकार उसके सामने तात्कालिक काम अपने देश को इस विदेशी पराधीनता से मुक्त कराना था। इस काम में उसे अपने गुरु कौटिल्य की शिक्षाओं से प्रेरणा मिली। कौटिल्य ने विदेशी शासन को एक असहनीय अभिशाप कहकर उसकी भर्त्सना की थी। कौटिल्य ने विदेशी शासन (वैराज्य) को शासन का निकृष्टतम रूप बताकर उसकी निंदा की है, जिसमें विजेता उस देश को, जिसे वह बलपूर्वक अपने अधीन कर लेता है, (परस्यादाय) कभी भी अपना निज देश नहीं समझता (नैतत् मम इति मन्यमानः) उस पर अत्यधिक कर लगाता है तथा धन वसूल करता है (कर्षयति) और उसकी सम्पदा का निचोड़ लेता है (अपवाहयति) (८, २)। इस विषय में पूरी जानकारी नहीं मिलती कि सिकन्दर की विजय के कारण और भारतवासियों द्वारा उस आक्रमण का विरोध निष्फल हो जाने के बाद जो निराशा चारों ओर फैल गई थी उस वातावरण में इस कठिन काम को पूरा करने के लिए उसने कौन से उपाय किए तथा किस प्रकार उसने इसके लिए साधन जुटाए। ज्यों ज्यों

मिलता है उसके बारे में बस इतना कहा गया है कि वह पहले लूटमार का जीवन व्यतीत करता था जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। अंत में उसने बलपूर्वक मगध पर शासन करने वाले राजवंश का तख्ता उलट दिया। बौद्ध प्रथा तथा अन्य ग्रंथों में एक और उल्लेखनीय मतभेद यह है कि बौद्ध-ग्रंथों में भी नंदों का उल्लेख तो किया गया है और उनमें से प्रत्येक का नाम भी बताया गया है पर उन सबको भाई बताया गया है। महावंस में लिखा है "नव नंदा (नवभातरो भी) ततो आसु। बौद्ध-ग्रंथों में इन नंदवंशियों के विरुद्ध जो सबसे बड़ी कलंक की बात कही गई है वह यह कि पूर्व-काल में वे डाकू थे। महाबोधिवंश में नंदवंशी राजाओं को (चोरपुब्बा [1]) पहले के डाकू कहा गया है।

धन-नंद द्वारा चाणक्य का अपमान कुछ भी हो इतना निश्चित है कि जिस समय चाणक्य पाटलिपुत्र आया था उस समय धन-नंद वहाँ का राजा था। वह अपने धन के लोभ के लिए बदनाम था। वह ८० करोड़ (कोटि) की सम्पत्ति का मालिक था और खालों गोंद वृक्षों तथा पत्थरों तक पर कर वसूल करता था। तिरस्कार में उसका नाम धन-नंद रख दिया गया था क्योंकि वह धन के संग्रह करने का आदी था (महावंस टीका)। कथासरित्सागर में नंद की ९९ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि उसने गंगा नदी की तली में एक चट्टान खुदवाकर उसमें अपना सारा खजाना गाड़ दिया था [महावंस टीका]। उसकी धन-सम्पदा की ख्याति दक्षिण तक पहुँची। तमिल भाषा की एक कविता में उसकी सम्पदा का उल्लेख इस रूप में किया गया है कि पहले वह पाटलि में संचित हुई और फिर गंगा नदी की बाढ़ में छिप गई। [ऐय्यंगर बिगिनिंग्स ऑफ साउथ इंडियन हिस्ट्री पृष्ठ ८९]। परन्तु चाणक्य ने उसे बिलकुल ही दूसरे रूप में देखा। अब वह धन बटोरने के बजाय उसे दान-पुण्य में व्यय कर रहा था। यह काम दानशाला नामक एक संस्था द्वारा संगठित किया जाता था जिसकी व्यवस्था का संचालन एक 'संघ' के हाथों में था जिसका अध्यक्ष कोई ब्राह्मण होता था। नियम यह था कि अध्यक्ष एक करोड़ मुद्राओं तक का दान दे सकता था और संघ का सबसे छोटा सदस्य एक लाख मुद्राओं तक का। चाणक्य को इस संघ का अध्यक्ष चुना गया। परन्तु हानी की बात राजा को उसकी कुरूपता तथा उसका क्रूर स्वभाव अच्छा न लगा और उसने उसे पदच्युत कर दिया। इस अपमान पर क्रुद्ध होकर

१—[illegible] ने इस शब्द को 'न चोरपुब्बा' (=न चोरपुब्बा) पढ़ा है पर श्री सी० डी० चटर्जी के सुझाव पर (११ दिसम्बर १९२९) उन्होंने इस शब्द के उपर्युक्त रूप चोरपुब्बा को सही स्वीकार कर लिया है।

चाणक्य ने राजा को मार दिया उसके वंश को निर्मूल कर नंद की धमकी दी और एक नग्न आजीविक साधु के भेस में उधर चंगुल से बच निकला। घूमते फिरते संयोगवश उसकी भेंट बालक चन्द्रगुप्त से हुई जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध-ग्रंथों की इस कथा की प्रतिध्वनि मुद्राराक्षस नामक संस्कृत रचना में मिलती है जिसमें कहा गया है कि राजा नंद ने भरे दरबार में चाणक्य को उसके उस सम्मानित पद पर से हटा दिया जो उसे दरबार में दिया गया था [अग्रासनात्‌अवकृष्टस्य नाम (I २)] जिस पर चाणक्य ने सौगंध ली कि वह उसके सारे परिवार तथा वंश को निर्मूल करके नंद से बदला लेगा।

चन्द्रगुप्त का पहला काम यूनानी शासन का उन्मूलन : अब हम फिर उस इतिहास पर आते हैं जो चाणक्य को भाग्यवश चन्द्रगुप्त के रूप में अपनी योजनाओं को पूरा करने का साधन मिल जाने के बाद घटित हुआ। हम पहले देख चुके हैं कि चाणक्य ने कितने धैर्य के साथ आठ वर्ष तक चंद्रगुप्त को यथासंभव उच्चतम शिक्षा देने का सबसे पहला काम पूरा किया ताकि उसके सामने जो विशाल योजनाएँ थीं उन्हें पूरा करने के वह योग्य हो जाए। सबसे पहला काम तो उस विपदा से छुटकारा पाना था जो उसके द्वार पर आ पहुँची थी। अपनी आँखों के सामने अपनी मातृभूमि पर विदेशी आक्रमण, पंजाब के छोटे-छोटे गणराज्यों के निवासियों द्वारा विभिन्न स्थानों में उस आक्रमण का विरोध करने के निष्फल प्रयत्नों और अंत में अपने देश पर विदेशी यूनानी शासन की स्थापना को देखकर युवक चंद्रगुप्त के विचारों में एक तूफान-सा आ गया था। इस प्रकार उसके सामने तात्कालिक काम अपने देश को इस विदेशी पराधीनता से मुक्त कराना था। इस काम में उसे अपने गुरु कौटिल्य की शिक्षाओं से प्रेरणा मिली। कौटिल्य ने विदेशी शासन को एक असंदिग्ध अभिशाप कहकर उसकी भर्त्सना की थी। कौटिल्य ने विदेशी शासन (वैराज्य) को शोषण का निकृष्टतम रूप ठहराकर उसकी निंदा की है जिसमें विजेता उस देश को जिसे वह बलपूर्वक अपने अधीन कर लेता है, (परस्याच्छिद्य) कभी भी अपना प्रिय देश नहीं समझता (नैतत् मम इति मन्यमानः), उस पर अत्यधिक कर लगाता है तथा धन वसूल करता है (कर्षयति) और उसकी सम्पदा को निचोड़ लेता है (अपवाहयति) (८, २)। इस विषय में पूरी जानकारी नहीं मिलती कि सिकंदर की विजय के कारण और देशवासियों द्वारा उस आक्रमण का विरोध निष्फल हो जाने के बाद जो निराशा चारों ओर फैल गई थी उस वातावरण में इस विशाल कार्य को पूरा करने के लिए उसने कौन से उपाय किए तथा किस प्रकार उसने इसके लिए साधन जुटाए। उस उस

किरात के मध्यप्रदेश का सहारा लेना पड़ा। उसने किरात की उन सुलगती हुई चिनगारियों को फिर से ज्वाला के रूप में भड़काया और सैनिकों तथा युद्ध-सामग्री के रूप में देश के सैन्य-साधनों का देश की स्वतंत्रता के लिए एक और राष्ट्रीय प्रयास करने के उद्देश्य से नये सिरे से संगठित किया।

चन्द्रगुप्त की सेना के स्रोत सिकंदर से टक्कर लेने वाली पंजाबी जातियाँ महावंश टीका से पता चलता है कि तक्षशिला में चन्द्रगुप्त की शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनों विभिन्न स्थानों से (ततो ततो बलं समिनातेत्वा) सेना के लिए सैनिक ढूंढने (बलं संगण्हित्वा) निकल पड़े। इस प्रकार जो सेना तैयार हुई उसे चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में रख दिया (महाबलकायं संगहेत्वा तं तस्स पटिपादेसि)। रीज डैविड्स लिखते हैं (बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६७) कि "जिस सेना के बल पर चन्द्रगुप्त ने मगध को जीतकर उसे प्राप्त किया था उसका मूल पंजाब से भरती किये गए सैनिकों पर था। जस्टिन ने भी लिखा है (XV ४) कि चन्द्रगुप्त ने स्थानीय निवासियों की भरती करके एक सेना तैयार की। इन स्थानीय निवासियों को जस्टिन ने 'लुटेरे' कहा है। जैसा कि मैक्क्रिंडल ने बताया है (इन्वेज़न ऑफ इंडिया बाई अलेक्ज़ेंडर, पृष्ठ ४०६) 'लुटेरे' शब्द से अभिप्राय उन पंजाबी जातियों से था जिनका पंजाब में उस जमाने में बोलबाला था। इन्हें आरट्ट अथवा अराष्ट्रक अर्थात् 'राजा-रहित' जातियाँ कहा जाता था—इनकी जातियाँ जो किसी राष्ट्र अथवा राज्यसत्ता के अधीन नहीं रहती थी और उस समय राज्यसत्ता का प्रचलित रूप राजतंत्र था। बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में (लगभग ४०० ई० पू०) पंजाब का 'आरट्टा' का रूप बताया है (१, १ २, १३-१५)। महाभारत में आरट्टों को पाञ्चनद (८ ४४ २०७) अर्थात् 'पाँच नदियों वाले देश के निवासी' और बाहीक (VIII ४५, २११०) अर्थात् 'नदियों वाले देश के निवासी' कहा गया है, जिनमें प्रस्थल मद्र गांधार, आरट्ट वसाति सिंधु तथा सौवीर नामक जातियों के नाम थे।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य ने सेना के लिए भरती के स्रोत निम्नलिखित बताए हैं—(१) 'चोर' या 'प्रतिरोधक' जो लुटेरे और डाकू थे (२) 'चोर-गण' लुटेरों के संगठित दल (३) पर्वतवासी किरात आदि जैसी म्लेच्छ जातियाँ (४) वनवासी 'आटविक' और (५) शस्त्रोपजीवि श्रेणियाँ लड़ाकू गण-जातियाँ। यह बात भी उल्लेखनीय है कि चाणक्य ने इन सब जातियों में से भरती किए गए सैनिकों का 'प्रवीर' बताया है (VII १० VIII १४)। उस समय पंजाब में इस प्रकार की सेना के लिए उपयुक्त जातियों की कोई कमी नहीं थी। स्वयं सिकन्दर को भारत विजय-अभियान के दौरान

में इनमें से कई जातियों का सामना करना पड़ा था। जैसा कि आगे चलकर बताया गया है इन आक्रमणों के प्राचीन वृत्तांतों में इन जातियों के जो यूनानी नाम दिये गये हैं उनके भारतीय पर्यायवाची शब्द ढूंढ निकालना संभव है।

महाभारत में उल्लिखित गणतांत्रिक जातियाँ : महाभारत में इस प्रदेश की इन गणतांत्रिक जातियों का उल्लेख मिलता है—(१) यौधेय (II ५२ VII ९] (२) क्षुद्रक [II ५१ VI ५०] (३) मालव [II ३२ II, ५२) (४) वसाति (II, ५२ V २०) (५) शिबि (II, ३२ II, ५२) (६) उदुम्बर (II ५२) (७) प्रस्थल (VIII ४४) (८) त्रिगर्त (II, ५२) (९) मद्र (II, ५२ VI, ६१) (१०) केकय (II, १२०) और (११) अम्बष्ठ (III २५४)।

पाणिनि द्वारा उल्लिखित गणतांत्रिक जातियाँ पाणिनी ने गणतंत्र के लिए 'संघ' अथवा 'गण' (III ३ ८६) शब्द का प्रयोग किया है। इनमें से अधिकांश गणतंत्र शस्त्रास्त्र धारण करने लगे और उन्हें 'आयुधजीवि-संघ' कहा जाने लगा। ये वाहीक देश् के अर्थात् 'नदियों के देश' के निवासी थे जो पंजाब का ही दूसरा नाम था (V ३ ११४)। आयुधजीवियों के इन स्व-शासित संघों के उदाहरणों के रूप में पाणिनि ने इनका उल्लेख किया है —

(१) क्षुद्रक (यूनानी आक्सीड्रकाई), (IV २, ४५)।

(२) मालव (यूनानी मल्लोई) (उपरोक्त)।

(३) वृक जिन्हें वार्कण्य भी कहते थे (V ३ ११५) कदाचित् यह वही जाति थी जिसे हिरकेनियन (यवन) कहा जाता था जिन्हें दारा प्रथम के बेहिस्तुन के शिलालेख में वर्कान और फ़ारसी के एक दूसरे प्राचीन शिलालेख में वर्काः कहा गया है।

(४) दामनि तथा अन्य जातियाँ (इनकी पहचान नहीं हो पाई है) (V ३ ११६)।

(५) छः त्रिगर्तो का संघ—ये त्रिगर्त थे (क) कौण्डोपरथ (ख) दाण्डकि (ग) क्रौष्टकि (घ) जालमानि (ङ) ब्रह्मगुप्त और (छ) जानकि।

(६) पर्शु, जिसका सम्बन्ध असुर तथा राक्षस जातियों से था। कदाचित् ये उस देश के निवासी थे जिन्हें दारा प्रथम के बेहिस्तुन शिलालेख में पार्स कहा गया है जो अकमनी जाति के लोगों का निवासस्थान था और इसी से उस देश का नाम फ़ारस अर्थात् पर्शिया पड़ा।

(७) यौधेय।

(८) साल्व (अलवर तथा उसके आस-पास का इलाका) यह एक बहुत बड़ा राज्यसंघ था जिसमें ये जातियाँ सम्मिलित थीं—(क) उदुंबर, (ख)

तिलखल (ग) मद्रकार (घ) युगंधर, (ङ) भूलिंग (च) शरदण्ड (छ) बुध (झ) अजक्रंद और (ट) अजमीढ़ (IV १ १७३)।

(९) वर्ग जिनका उल्लेख गण-पाठ में इन जातियों के साथ किया गया है—(क) कच्छ (ख) कैकेय (ग) काश्मीर, (घ) साल्व (ङ) सुराष्ट्र (च) उरश (हजारा जिले के) और (छ) कौरव्य (IV १ १७८)।

(१०) अम्बष्ठ (यूनानी अबस्तानोई) जिनका उल्लेख महाभारत में (II ५२ १४-१५) शिवि क्षुद्रक मालव और उत्तर-पश्चिम की अन्य जातियों के साथ किया गया है।

(११) हास्तिनायन (VI, ४ १७४) (यूनानी अस्तानेनोई)।

(१२) प्रकण्व (VI १ १५३) जो आजकल फरगाना है जहाँ के निवासियों को परिकानिओई कहा गया है जो प्रकण्वायन का ही पर्याय है (स्टेन कोनो खरोष्ठी इंस्क्रिप्शंस पृष्ठ XVIII)।

(१३) मद्र (IV २ १३१)।

(१४) मधुमंत (IV २ १३३ महाभारत भीष्म पर्व ९, ५३) इन्हीं को आज मोहमन्द कहते हैं।

(१५) आप्रीत (IV २, ५३) (यूनानी अपर्यताई जिन्हें आज अफरीदी कहते हैं)।

(१६) वसाति (IV २ ५३) (यूनानी आस्साडिओई)।

(१७) शिबि (IV २ ११२) (यूनानी सिबिओई)।

(१८) आश्वायन (IV १ ११०) तथा आश्वकायन (IV १ ९९), जिन्हें यूनानी में क्रमशः अस्पसाई तथा अस्साकेनोई कहा गया है जिनका गढ़ मस्सग (मशकावती) में था।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस नगर को यूनानियों ने आओर्नोस कहा है, वह वही है जिसे पाणिनि ने वरणा कहा है (IV २, ८२)।

उपर्युक्त सूची में उन गणतांत्रिक जातियों को छोड़ दिया गया है जो पंजाब और चन्द्रगुप्त के कार्य-क्षेत्र के बाहर थे।

उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि पाणिनि के काल में अलग-अलग गणतंत्र भी थे जो स्वतंत्र रूप से अपना शासन चलाते थे और इस प्रकार के गणतंत्रों के राज्य-संघ भी थे जैसे त्रिगर्त षष्ठ, या साल्व (वी० एस० अग्रवाल-कृत पाणिनिकालीन भारत)।

जैसा कि एरियन से हमें पता चलता है (IV २१) उस समय पंजाब का बहुत बड़ा भाग इन स्वतंत्र भारतीय जातियों के कब्जे में था जिन्हें एरियन ने (IV ४) 'स्वतंत्र जातियाँ' बताया है जो अपना राज्य चलाकर सिकंदर

का मुकाबला करने को तत्पर थी। सिकन्दर ने जो राज्य अपने पुराने शत्रु पोरस (पौरव) को वापस सौंप दिया था उसमें पन्द्रह गणतन्त्रों की भूमि शामिल थी "जिनके अधिकार में ५,००० काफी बड़े शहर और असंख्य छोटे गाँव थे" (प्लूटार्क लाइव्स ४०)।

वे सिकंदर के विरुद्ध कैसे लड़े, उनके सैनिक साधन, सिकन्दर के आक्रमण में पंजाब की इन 'स्वतंत्र' जातियों की रण-दक्षता तथा वीरता को प्रकट कर दिया युवक चंद्रगुप्त ने इन बातों का अवश्य पता लगाया होगा। सिकन्दर के आक्रमणों के विरुद्ध उनके प्रतिरोध की कहानी सिकन्दर की विजयों की कहानी से कम प्रेरणाप्रद नहीं है। भारत के विभिन्न स्थानों में सिकन्दर का जो विरोध किया गया उसका मूल्यांकन स्वयं यूनानियों द्वारा उल्लिखित तथ्यों तथा आँकड़ों के आधार पर किया जा सकता है।

सिकन्दर को सबसे पहले एक गण राज्य के प्रधान के विरोध का सामना करना पड़ा जिसे यूनानी एस्तीज कहते हैं जिसका नाम संस्कृत में हस्तिन है वह उस जाति का प्रधान था जिसका भारतीय नाम हास्तिनायन था (पाणिनि VI,४ १७४)। यूनानी में इसके लिए अस्ताकेनाई या अस्तानेनोई शब्दों का प्रयोग किया गया है और उसकी राजधानी प्यूकेलाओटिस अर्थात् पुष्कलावती लिखी गई है। इस वीर सरदार ने अपने नगरकोट पर यूनानियों की घेरेबंदी का पूरे तीस दिन तक मुकाबला किया और अंत में लड़ता हुआ मारा गया।

इसी प्रकार आश्वायन तथा आश्वकायन भी भारतीय दम तक लड़े जैसा कि इस बात से पता चलता है कि उनके कम-से कम ४०,००० सैनिक बंदी बना लिये गए। उनकी आर्थिक समृद्धि का भी अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इस लड़ाई में २,३०,००० बैल सिकंदर के हाथ लगे।

आश्वकायनों ने २०,००० घुड़सवार, ३८,००० पैदल और ३० हाथियों की सेना लेकर जिसकी सहायता के लिए मैदानों के रहने वाले ७,००० वेतनभोगी सिपाही और थे सिकन्दर से मोर्चा लिया यह पूरी सेना आश्वकायनों की किलेबंद राजधानी मस्सग में [संस्कृत मशक जो मशकावती नामक नदी के तट पर स्थित था जिसका उल्लेख पाणिनि के वार्तिक भाष्य में मिलता है (IV २,८५ VI ३ ११९)] अपनी वीरांगना रानी क्लियोफिस (संस्कृत कृपा ?) के नेतृत्व में आश्वकायनों ने "अंत तक अपने देश की रक्षा करने का दृढ़ संकल्प किया।" रानी के साथ ही वहाँ की स्त्रियों ने भी प्रतिरक्षा में भाग लिया। वेतनभोगी सैनिक शुरू में बड़े निरुत्साह होकर लड़े परन्तु बाद में उन्हें भी जोश आ गया और उन्होंने "अपमान के जीवन की अपेक्षा गौरव के साथ मर जाना" ही बेहतर समझा [(मैक्क्रिंडिल-कृत इनवेजन, पृष्ठ १९४

(कर्टियस) २७ (डियोडोरस)]। उनके इस उत्साह को देखकर अभिसार नामक निकटवर्ती पार्वतीय देश में भी उत्साह जागृत हुआ और वहाँ के लोग भी प्रतिरक्षा के लिए डट गए।

इस प्रदेश के स्वतंत्र नगरों ने भी जैसे आमोर्नोस बजीरा ओरा मस्सग डायर्टा आदि ने प्रतिरोध का यही मार्ग अपनाया और उनमें प्रत्येक ने पटून लम्बी घेरेबंदी के बाद ही हथियार डाले।

भारतीय शौर्यभाव अपने चरम रूप में राजा पोरस (पौरव) की सेना में दिखाई दिया जो सिकंदर का सबसे शक्तिशाली शत्रु था। उसने अरियन के अनुमान के अनुसार ३ पैदल सिपाहियों ४ घुड़सवारों ३ रथों और २ हाथियों की सेना लेकर सिकंदर का मुकाबला किया। उसकी पराजय के बाद भी सिकंदर को उसकी तरफ मैत्री का हाथ बढ़ाना पड़ा।

अगालास्सोई जाति के लोगों ने ४ पैदल सिपाहियों और ३ घुड़सवारों की सेना लेकर सिकंदर से टक्कर ली। कहा जाता है कि उनके एक नगर के २ निवासियों ने अपने आपको बंदियों के रूप में शत्रुओं के हाथों में समर्पित करने के बजाय बाल-बच्चों सहित आग में कूदकर प्राण दे देना ही उचित समझा।

इसके बाद सिकन्दर को कई स्वायत्त जातियों के संघ के संगठित विरोध का सामना करना पड़ा जिनमें मालव तथा क्षुद्रक आदि जातियाँ थीं जिनकी संयुक्त सेना में ९ पैदल सिपाही १ घुड़सवार और ९ से अधिक रथ थे। उनके ब्राह्मणों ने भी पढ़ने-लिखने का काम छोड़कर तलवार सँभाली और रणक्षेत्र में लड़ते हुए मारे गए, बहुत ही कम लोग बंदी बनाए जा सके।

फिर एक और वीर जाति थी जो "अपने शौर्य के लिए दूर-दूर तक प्रख्यात थी (अरियन V २२, २)। कहा जाता है कि रणक्षेत्र में उनके १७ लोग मारे गए थे और ७ बंदी बना लिये गए थे।

मास्सनी में असम से भी ५०० सैनिकों की सेना लेकर एक नदी की घाटी की रक्षा की।

अम्बष्ठों की सेना में ६० पैदल ६ घुड़सवार और ५० रथ थे।

अकेले सिंधु घाटी के निचले भाग में होने वाले युद्ध में ८०० सिपाही मारे गए। इस इलाके में ब्राह्मणों के अनुभाव की ओर प्रतिरोध की भावना तथा युद्ध के प्रति लोगों में अत्यन्त उत्साह पैदा किया और धर्म की रक्षा करते हुए हँसते-हँसते अपने प्राणों की आहुति दे दी। (प्लूटार्क अलेक्जेंडर, कैम्ब्रिज हिस्ट्री I पृष्ठ ३७८)।

उनकी पराजय के कारण : यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन सभी कार्यों बड़ी-बड़ी सेनाओं के लिए सैनिक छोटे-छोटे गणतांत्रिक राज्यों से भरती किये गए थे। हर राज्य की जनसंख्या को देखते हुए सेना में सैनिकों की संख्या का अनुपात बहुत अधिक था। ये गणतांत्रिक जातियाँ आखिरी दम तक लड़ीं होंगी और देशभक्ति की भावना के वश उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा हेतु अपने पूरे मानव-बल को रण के लिए संगठित किया होगा। पुरुषों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी लड़ी थीं। यदि सिकंदर-जैसे श्रेष्ठ सेनानायक के खिलाफ अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए उनकी वीरतापूर्ण लड़ाई उस समय असफल रही तो इसका कारण केवल यह था] कि उनमें नेतृत्व, संगठन, लक्ष्य की एकता और समस्त साधनों को एक जगह केन्द्रित करने की क्षमता का अभाव था। शत्रु का मुकाबला बहुत से अलग-अलग बिखरे हुए केन्द्रों में बहुत ही संकुचित स्थानीय सीमाओं के भीतर रहकर किया गया। उस राष्ट्रव्यापी प्रतिरक्षा के रूप में नहीं संगठित किया गया। इस प्रकार सिकंदर को अलग-अलग टुकड़ों में इस प्रतिरक्षा से निपटने का मौका मिल गया और उसने बड़ी आसानी से उन्हें दबा लिया। अनेक राज्य होने के कारण एक ही शत्रु के विरुद्ध कोई संयुक्त मोर्चा न बन सका और अलग-अलग बिखरे हुए केन्द्रों में विरोधी शक्तियाँ बालू की भीत की तरह ढह गईं। यह विभाजन प्रतिरक्षा के लिए घातक सिद्ध हुआ। एक बार तो क्षुद्रक तथा मालव जातियों के सब राज्य ने एक प्रकार से राष्ट्रीय विरोध संगठित किया। उन्होंने अपने सैन्य साधनों को एक में मिलाकर एक शक्तिशाली संयुक्त सेना बनाई। पाणिनि के समय में भी इस प्रकार की एक संघीय सेना थी जिसे पाणिनि ने 'क्षुद्रक-मालवी-सेना' कहा है। परन्तु चन्द्रगुप्त-जैसे महान् नेता ने जिसमें संगठन की श्रेष्ठतर क्षमता थी शीघ्र ही भारतीय सैनिक परिस्थिति के इन दोषों तथा कमजोरियों को दूर कर दिया।

पंजाब की समस्त गणतांत्रिक जातियों तथा राज्यों और वहाँ के साधारण निवासियों में जो बहुमूल्य सैनिक सामग्री तथा साधन जो निहित क्षमताएँ तथा सम्भावनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं उनका लाभ उठाने तथा एक बार फिर उनका उपयोग करने का श्रेय चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की मेधावी प्रतिभा को मिला। इस आधारभूत सामग्री से जनता में प्रतिरोध की अदम्य भावना से स्वतंत्रता का संग्राम लड़ने और उसमें विजय प्राप्त करने के लिए एक सुसंगठित सेना तैयार करने में उनको कोई कठिनाई नहीं हुई।

चन्द्रगुप्त की सेना के अन्य सैनिक : यदि हम चन्द्रगुप्त की सेना के बारे में प्रचलित परम्परागत कथाओं पर विश्वास करें तो हम देखेंगे कि उसने अपनी सेना को स्थानीय निवासियों के बीच से भरती किये गए सैनिकों तक ही सीमित

नहीं गया। उदाहरण के लिए, मुद्राराक्षस में इस बात का उल्लेख मिलता है कि चाणक्य ने हिमालय पर्वत प्रदेश के एक राज्य के पर्वतक या पर्वतेश नामक प्रधान से मैत्री-संधि की थी। परिशिष्टपर्वन नामक जैन-ग्रंथ में भी इस मैत्री संधि का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि "चाणक्य हिमवत्कूट गया और उस प्रदेश के राजा पर्वतक के साथ उसने मैत्री की संधि की।" बौद्ध वृत्तान्तों में भी चाणक्य के पर्वत नामक एक घनिष्ठ मित्र का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार तीन प्रचलित गाथाओं में इस मैत्री का उल्लेख मिलता है। एफ० डब्ल्यू० टामस ने इससे भी आगे जाकर यह सुझाव रखा है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड १ पृष्ठ ४७१) कि यह पर्वतक कदाचित् वही व्यक्ति था जिसे यूनानियों ने राजा पोरस कहा है। इस बात को देखते हुए कि अपने समय में अपने देश की राजनीति में पोरस का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह मत बिल्कुल तर्कसंगत प्रतीत होता है। पोरस का उस समय इतना महत्त्व था कि उसकी सहायता प्राप्त किये बिना उस प्रदेश में किसी भी युद्ध का बीड़ा नहीं उठाया जा सकता था।

मुद्राराक्षस से ही हमें यह भी पता चलता है कि इस पर्वत-प्रदेश के राजा के साथ मैत्री हो जाने के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त की सेना जिसमें विभिन्न जातियों से सैनिक भर्ती किये गए थे अत्यन्त सुगठित हो गई। इनमें निम्नलिखित जातियों के नाम गिनाये गए हैं : शक यवन (कदाचित् यूनानी) किरात काम्बोज पारसीक बाह्लीक (II. १२)। पाँच राजाओं ने मिलकर चन्द्रगुप्त का विरोध किया—कुलूत का राजा चित्रवर्मा मलय का राजा सिंहनाद काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष और सैन्धवराज सिंधुषेण और पारसीकों का राजा मेघाक्ष जो बहुत बड़ी घुड़सवार सेना (पृथुतुरगबल) लेकर उनमें आ मिला था (I. २०)। मलयकेतु की सेना में निम्नलिखित जातियों में से भरती किये गए सैनिक थे : खस मगध गान्धार, यवन शक चेदि तथा हूण (V. ११)। इस समय चन्द्रगुप्त और मगध में उसके शत्रुओं के बीच जो भीषण युद्ध हुआ उसमें इन विभिन्न जातियों के लोगों ने भाग लिया। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि इस सूची के कारण इतिहास के एक स्रोत के रूप में मुद्राराक्षस का महत्त्व घट जाता है। इनमें कुछ ऐसी जातियों के नाम हैं जैसे शक या हूण जिन्होंने भारतीय इतिहास के रंगमंच पर चन्द्रगुप्त के काल से बहुत बाद में प्रवेश किया।

यूनानी शासन की डाँवाडोल स्थिति : अपने ध्येय को पूरा करने के लिए, चन्द्रगुप्त ने जो सैन्य-शक्ति जुटाई उसके अतिरिक्त भी उस देश की आन्तरिक स्थिति तथा अन्य ऐसे कारणों से बहुत सहायता मिली जो भारत में यूनानी

शासन के भविष्य के लिए बहुत शुभसूचक नहीं थी। आरंभ से ही सिकंदर का आक्रमण बहुत निर्विघ्न रूप से आगे नहीं बढ़ा। वह केवल ऊपर से देखने में ही निर्विघ्न प्रतीत होता था। उसकी कठिनाइयाँ अधिक गहराई में छिपी हुई थीं। सिकंदर जिस इलाके को जीतकर अपने पीछे छोड़ आया था उस पर उसको पूरा भरोसा नहीं था। यूनानियों तथा भारतवासियों दोनों ही के बीच विद्रोह उठ खड़े होने के कारण उसके विजय-अभियान के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। सिकंदर ने जिस काम का बीड़ा उठाया था उसकी सफलता के प्रति उसके अनुयायियों के हृदय में स्वयं उसके जैसा उत्साह नहीं था। सिकंदर की नीति यह थी कि वह उचित केन्द्रों में नये पूर्वी नगरों में अपने विजय-अभियान की प्रगति को सूचित करने के लिए और उस विजय के फलों की रक्षा करने के लिए मँजे हुए यूनानी सैनिकों की बस्तियाँ बसा देता था (अरियान V २७ ५)। इस प्रकार की बस्तियाँ सबसे पहले बैक्ट्रिया तथा सोग्डियाना में स्थापित की गई पर ये बस्तियाँ उनमें बसाये गए लोगों की इच्छा के विरुद्ध स्थापित की गई थीं जो निर्वासन का यह जीवन व्यतीत करने को तैयार नहीं थे। वे हमेशा इस ताक में रहते थे कि कब मौका मिले और वे भाग निकलें। जिस समय सिकन्दर बहुत दूर मालवों से लड़ रहा था और उसके एक घाव लग गया तो दूर-दूर तक उसकी मृत्यु की खबर फैल गई और ये यूनानी प्रवासी जिनकी संख्या है • थी अपने देश के लिए चल पड़े (डियोडोरस XVII ९९)। सिकन्दर स्वयं भी इन उपनिवेशों को दंड देने की बस्तियाँ समझता था जहाँ उसके प्रति वफ़ादारी न रखने के कारण दंडित यूनानी भेजे जाते थे (जस्टिन XII. ५,८,१३)।

यूनानी क्षत्रपियाँ जिन भारतवासियों को उसने अपने अधीन कर लिया था उनका रुख भी कुछ अधिक अनुकूल नहीं था। उनमें विद्रोह की भावना बिलकुल दबी नहीं थी। अपनी विजय को सुरक्षित करने के लिए सिकंदर ने जो प्रशासनात्मक व्यवस्था की उससे ही पता चलता है कि उसे स्वयं इन विजयों के सुरक्षित न होने का कितना भय था। उसने यूनानी भारत को छः क्षत्रपियों में विभाजित किया—तीन सिंधु नदी के पश्चिम में और तीन सिंधु नदी के पूर्व में। पश्चिम वाले तीनों क्षत्रप यूनानी थे पर पूर्व वाले तीनों क्षत्रप भारतीय थे। तीन पश्चिमी क्षत्रपों में पेइथन का सिंध का शासक नियुक्त किया गया। निकानोर के सुपुर्द 'सिंधु नदी के पश्चिम का भारत' नामक प्रान्त किया गया। उसमें काबुल की घाटी का निचला भाग और हिंदुकुश तक के पर्वत-प्रदेश शामिल थे। उसकी राजधानी पुष्कलावती (चारसद्दा) में थी। इस क्षत्रप के अधीन मकदूनियाई सैनिकों की एक दुर्गरक्षक सेना थी जिसका सेनानायक फ़िलिप था।

और ऊपर चलकर आक्सिअर्टीज को परोपानिसदे (काबुल घाटी) प्रान्त का शासक नियुक्त किया गया। इसकी राजधानी 'काकेशस की तलहटी में सिकन्दरिया' नामक नये नगर में थी। पहले सिकन्दर ने वहाँ ईरानी क्षत्रप नियुक्त किये पर वे असफल रहे, जैसा कि हमें कर्टियस से पता चलता है (IX ८) "ईरानी क्षत्रप टाइरिएस्पीज के खिलाफ परोपानिसदे के निवासियों ने बलपूर्वक पैसा वसूल करने और अत्याचार करने के अभियोग सिद्ध कर दिए थे। यह लगभग ३२६ ई पू की बात है। सिकन्दर ने स्वयं अपने ससुर आक्सिअर्टीज को जो एक ईरानी सामन्त था वहाँ का क्षत्रप नियुक्त करके परिस्थिति को सुधारने की चेष्टा की।

सिकन्दर सिंधु नदी से पूर्व की ओर यूनानी क्षत्रप नियुक्त करने का साहस नहीं कर सकता था। यहाँ की तीन क्षत्रपियाँ भारतीय राजाओं के अधीन रखी गईं। सिंधु नदी और हाइडेस्पीज के बीच के प्रदेश पर तक्षशिला का राजा आम्भि शासन करता था, हाइडेस्पीज से लेकर हाइफैसिस तक के इलाके पर पौरस (पौरव) का शासन था और अभिसार देश (कश्मीर) का राजा बाकी इलाके पर शासन करता था।

भारतीय असन्तोष : क्षत्रप निकानोर की हत्या सिंधु नदी से पश्चिम की ओर यूनानी शासकों की स्थिति बड़ी तेजी से डाँवाडोल होती गई। सबसे पहले एक भारतीय शासक के भड़काने पर, जिसे यूनानी सैसीकोटस अथवा शैसी-कोटस कहते थे, कबाइलियों ने विद्रोह का झंडा उठाया। इसके बाद अस्सकायनों की बारी आई जिन्होंने निकानोर नामक यूनानी क्षत्रप को जो उन पर जबरदस्ती लाद दिया गया था मौत के घाट उतार दिया (एरियन V २ ७)। अस्सकायनों ने अपने यूनानी शासक का जीना दूभर कर दिया। यह सिसिकोट्टस अर्थात् शशिगुप्त नामक भारतीय देशद्रोही था जो यूनानी साम्राज्यवाद का भारतीय एजेन्ट था। सिकंदर ने अपनी सबसे पश्चिमी क्षत्रपी से सहायता भेजी और फिर तक्षशिला से फ़िलिप के सेनापतित्व में और अधिक सहायता भेजी।

नये सैनिकों तथा सेना के मनोबल में कमी यह सब घटना उस समय हो रही थी जबकि ३२६ ई पू में सिकन्दर देश के भीतर अपने विजय-अभियान में व्यस्त था। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता जाता था उसे नये सैनिक मिलना कठिन होता जा रहा था। विपाशा के तट पर पहुँचकर उसकी प्रगति बिलकुल रुक गई सुदूर ईरान से पच्चीस हजार सिपाहियों के आने से ही परिस्थिति में कुछ सुधार हुआ। परन्तु वह व्यास नदी से आगे न बढ़ सका। इसका कारण यह था कि उसके अनुयायियों की सहन शक्ति नष्ट हो चुकी थी। उसके सैनिकों के प्रवक्ता कोइनॉस ने उसे परिस्थिति इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में समझाई "हमारी फौजें

में से बेसालियाई सिपाहियों को आपने स्वयं ही घर वापस भेज दिया क्योंकि आपने देखा कि अब वे और अधिक कष्ट सहन करने की स्थिति में नहीं हैं।

बाकी यूनानियों में से कुछ को आपके बसाये हुए नये नगरों में बसा दिया गया है, जहां सब अपनी खुशी से नहीं रहते हैं। कुछ अभी तक इस श्रमसाध्य तथा कष्टमय अभियान में हमारे साथ हैं। उनमें से और मकदूनिया की सेना में से कुछ लोग रणक्षेत्र में मारे गए हैं, कुछ घायल हो गए हैं, कुछ एशिया के विभिन्न भागों में पीछे रह गए हैं परन्तु अधिकांश रोग से मर गए हैं। सैनिकों की उस बहुत बड़ी संख्या में से जो युद्ध में हमारे साथ थी अब केवल थोड़े-से ही बचे हैं और इन थोड़े-से भागों में भी अब वह शारीरिक बल नहीं रह गया है जो उनमें पहले था और उनका मनोबल तो और भी टूट चुका है। आप खुद देखें कि आप जब चले थे उस समय आपके साथ कितने यूनानी और मकदूनियावासी थे और अब कितने थोड़े रह गए हैं।"

सिकन्दर की योजना में अंतर्निहित दोष इन शब्दों से इस बात का पता चल जाता है कि सिकन्दर की महत्वाकांक्षी योजना के पूरा होने के रास्ते में क्या बुनियादी कठिनाई थी। एक ऐसे साम्राज्य का निर्माण करना असंभव था जिसे रसद तथा युद्ध-सामग्री के उपलब्ध होने का आश्वासन न हो और जिसे स्वयं अपनी जनता का समर्थन प्राप्त न हो।

एक भारतीय ऋषि ने बड़ी चतुराई से सिकन्दर को इस परिस्थिति के बारे में भारतीय जनमत से अवगत कराया। उसने एक सूखी खाल जमीन पर फैला कर सिकन्दर से उस पर चलने को कहा। जब सिकन्दर एक कोने पर पैर रखता था तो उसके दूसरे कोने ऊपर उठ जाते थे। खाल को भूमि पर सपाट रखना कठिन था। इस प्रकार सिकन्दर की आंखों के सामने इस बात का एक स्पष्ट चित्र आ गया कि उसकी इस अनोखी योजना का क्या अर्थ था "उसके अपने राज्य के केन्द्र से बहुत दूर स्थित देशों में चलाए जानेवाले सैनिक अभियानों के अनिश्चित तथा अस्थिर परिणाम उसकी आंखों के सामने आ गए (मैक क्रिंडिल इनवेजन पृष्ठ ११५)। ऐसा लगता है कि वास्तविकता यह भी कि भारतवासियों ने सिकन्दर के आक्रमण को बहुत महत्व नहीं दिया। ऐसा ही हुआ जैसे सेना बड़े धूमधाम ढंग से देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चली गई। सुदूर देशों में अपनी विजय को सुदृढ़ बनाने के लिए संचार के ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो विश्वस्त हों। कवि ने भारतीय प्रतिक्रिया की सच्ची अभिव्यक्ति की है—

"The East bowed low before the blast
In patient, deep disdain,

She let the legions thunder past,
And plunged in thought again."

—Matthew Arnold

फिलिप की हत्या आइये अब हम देखें कि यूनानी क्षत्रपियों का क्या हुआ ? भारतीय 'विद्रोहियों' द्वारा क्षत्रप निकानार की हत्या के बाद सिकन्दर ने उसके स्थान पर सेनापति फिलिप को नियुक्त किया। फिलिप भारत में सबसे अनुभवी यूनानी प्रशासक था। सबसे पहले सिकन्दर ने शक्तिशाली भारतीय राजा पोरस की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए तक्षशिला में उसे अपना दूत नियुक्त किया था। जब सिकन्दर हाइडेस्पीज (झेलम) की तरफ अपने विजय-अभियान पर आगे बढ़ा तो पीछे के बीते हुए इलाके की रक्षा करने का काम उसने फिलिप को सौंपा। बाद में जब सिकन्दर ने मालव तथा क्षुद्रक नामक स्वतन्त्र जातियों के राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली—यह इलाका दक्षिण में चिनाब तथा सिंधु के संगम तक फैला हुआ था—तो उसने फिलिप को वहाँ का शासक नियुक्त किया। अब उसके सुपुर्द यूनानी भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रान्त कर दिया गया था जोकि एक प्रकार से भारत का प्रवेशद्वार था। इसके बाद शीघ्र ही जब सिकन्दर हाइडस्पीज नदी के रास्ते वापस लौट रहा था तो फिलिप अपनी नयी राजधानी छोड़कर उसे विदा करने गया। परन्तु उसे क्या पता था कि उसके जीवन के दिन भी पूरे होने वाले थे ! वापस लौटते समय किसी ने उसकी हत्या कर दी।

यूनानी शासन के लिए एक गहरा आघात अर्रियन के मतानुसार (VI. २७. २) फिलिप की हत्या का कारण यूनानियों तथा मकदूनियावालों की पारस्परिक ईर्ष्या थी। परन्तु इतनी गम्भीर घटना के पीछे और भी गहरे कारण थे विदेशी शासन के प्रति जनता में असन्तोष। फिलिप जैसे महत्त्वपूर्ण यूनानी पदाधिकारी की हत्या जो यूनानी शासन का श्रेष्ठतम आधार स्तम्भ तथा प्रतिनिधि था वास्तव में उस शासन पर एक घातक प्रहार था। वह भारत में यूनानी साम्राज्यवाद का एक आधार-स्तम्भ था। उसकी हत्या ३२५ ई० पू० में ऐसे समय पर हुई थी जब सिकन्दर अभी इस स्थिति में था कि वह इसका बदला लेने के लिए वापस लौट सके क्योंकि वह अभी कार्मेनिया तक भी नहीं पहुँचा था। पर वह ऐसा न कर सका। यह हत्या सिकन्दर की सत्ता को एक चुनौती थी। परन्तु इस चुनौती का उत्तर देना उसकी शक्ति के बाहर था। सिकन्दर भारत से पीछे हट रहा था और उसके साथ ही यूनानी शासन भी पीछे हटता जा रहा था। उसकी समझ में केवल यह उपाय आया कि वह अपने भारतीय मित्र तक्षशिला के राजा की सहायता ले। उसने उसे इस आशय के पत्र भेजे

कि वह कृपा करके "उस समय तक के लिए जब तक कि कोई दूसरा क्षत्रप न भेज दिया जाए उस प्रदेश का शासन अपने हाथ में ले ले जिस पर पहले फिलिप शासन करता था" (अरियन VI २७)। उसने कोई क्षत्रप नहीं भेजा। अन्त में सिकन्दर को इस काम के लिए अपने भारतीय मित्र पर ही भरोसा करना पड़ा। इसका अर्थ यह था कि भारतीय राजा को अपनी सत्ता सिंधु नदी और सीमाप्रान्त के पार काबुल की घाटी और हिंदुकुश तक फैलाने में सहायता दी गई। अब भारत में यूडेमस नामक एक यश-कामी यूनान का एकमात्र दूत रह गया था जिसे भारतीय राजा के अधीन पुष्कलावती का दुर्गरक्षक सेना का भार सौंपा गया और साथ ही उसे "इधर उधर बिखरी हुई यूनानी तथा मकदूनियाई सैनिक टुकड़ियों का सेनापति और उस प्रदेश में बसे हुए यूनानी जाति के विभिन्न प्रवासियों का शासक भी नियुक्त किया गया" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री I. पृष्ठ ४२९)।

३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु के बाद यूनानी शासन का ध्वंस: इन सब मुसीबतों के ऊपर सबसे बड़ी मुसीबत यह आई कि ३२३ ई० पू० में सुदूर बैबिलोन में स्वयं सिकन्दर[1] की मृत्यु हो गई। (और उसके कोई सन्तान भी न था) जिसके बाद उसके साम्राज्य में उथल-पुथल मच गई। साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा। उसके सेनापतियों ने फौरन एक सभा की और साम्राज्य को अपने बीच बांट लेने का फैसला किया। ३२१ ई० पू० में त्रिपाराडिसस में दुबारा साम्राज्य का बंटवारा हुआ जिसमें सिंधु नदी के पूरब का भारत का कोई भाग साम्राज्य का अंग नहीं माना गया। सिंध के यूनानी शासक पेइथन को वहां

१ भारतीय साहित्य में सिकन्दर नाम के कई रूप प्रारम्भ हो गए। अशोक के शिलालेखों में अलिकसुदर (शाहबाजगढ़ी चट्टान लेख सं० १३), और अलि-कसुदर (कालसी पाठ) रूप मिलते हैं। मिलिन्द पञ्हो में अलेकसंदरिया (सिकन्दरिया) को अलसन्द कहा गया है। सिल्वां लेवी ने संस्कृत साहित्य में एक स्थान पर सिकन्दर महान् के उल्लेख का भी सन्दर्भ ढूंढा है यह है बाण के हर्षचरित का उल्लेख कि 'अलस चंडकौशा ने सारी पृथ्वी जीतकर भी 'स्त्रीराज्य' में प्रवेश नहीं किया। इस उद्धरण में सिकन्दर ही अभिप्रेत है। इसका पता इस बात से चलता है कि यूनानी परम्परा में इस बात की चर्चा है कि सिकन्दर ने एमेजन्स के राज्य में हठपूर्वक प्रवेश नहीं किया। (मेमोरियल सिल्वां लेवी), पृ० ४१४ (फ्रेंच में)।

वेबर के अनुसार सिकन्दर को भारत में इसी रूप में याद किया कि उसके नाम पर एक 'पाप' को 'स्कंद' कहा गया जिसका उपयोग दुष्ट बच्चों को डराने में होता था। (Birlin S. B 1180 पृ ९ १)

व हटाकर सिंधु नदी तथा पारोपानिसस के बीच का इलाका सुपुर्द कर दिया गया। यूडेमस यूनान का एकमात्र दूत था जो भारत में टिका हुआ था परन्तु साम्राज्य में उसका कोई सरकारी पद नहीं था इसलिए साम्राज्य के बँटवारे में उसकी गणना ही नहीं की गई। कदाचित् वह उन यूनानी 'विदेशियों' का नेता बन बैठा जो सिंधु तथा हाइडेस्पीज की घाटियों में बाकी रह गए थे पर वह भी पैदल सिपाहियों घुड़सवारों और १२ हाथियों की छोटी-सी सेना लेकर जो उसने एक भारतीय राजा (कदाचित् पोरस) का जो उसका विश्वस्त मित्र था छलपूर्वक वध करके प्राप्त किये थे एंटीगोनस के विरुद्ध अपने सरदार यूमेनीज की सहायता करने के लिए ३१७ ई० पू० में भारत से चला गया। बेचारा यूडेमस ऐंटीगोनस के हाथों मारा गया (डियोडोरस XIX ४४ १)। पाइथन भी अपना प्रान्त छोड़कर इस झगड़े में जा कूदा उसका भी वहीं अन्त हुआ। वह डेमेट्रियस के साथ लड़ता हुआ गाजा की लड़ाई में मारा गया (Ib ८५, २)। भारत में इन दोनों में से किसी का भी स्थान लेने के लिए कोई यूनानी न मिला।

क्रान्ति का नेता चन्द्रगुप्त यूनानी भारत से अपने-आप ही नहीं चले गये। एक क्रान्ति के कारण स्वतन्त्रता के उस युद्ध के कारण जिसकी घोषणा उस युद्ध के नेता के रूप में चन्द्रगुप्त ने की थी उन्हें भारत से हटने पर मजबूर होना पड़ा। यूनानी क्षत्रपों की हत्याओं को केवल संयोग की बात या छिटपुट घटनाएँ न समझ लेना चाहिए। वे यूनानी शासन के खिलाफ आक्रमण की एक निश्चित योजना की प्रारम्भिक घटनाएँ थीं। ३२५ ई० पू० से ३२३ ई० पू० तक फिलिप और उसके स्वामी की मृत्यु के बीच जो दो वर्ष का समय बीता उसमें भारत की स्वतन्त्रता की योजनाएँ बनाने वाले बहुत व्यस्त रहे। उस समय जो कुछ हो रहा था उसका पता हमें जस्टिन के निम्नलिखित वर्णन से जो भारतीय इतिहास की इस युगान्तरकारी घटना के प्रमाण का हमारे पास एकमात्र स्रोत है चल सकता है :

"सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने मानो अपने गले से दासता का जुआ उतार फेंका और उसके क्षत्रपों को मार डाला। इस मुक्ति का कर्ता सैंड्रोकोट्टस था। उसका जन्म एक साधारण कुल में हुआ था पर कुछ दैवी प्रोत्साहनों से उसे राजत्व का पद प्राप्त करने की प्रेरणा मिली। हुआ यह कि उसकी धृष्टता पर सिकन्दर को (अलेक्जैंड्रम जिसके स्थान पर कुछ विद्वानों ने नैंड्रम अर्थात् नन्द नाम का प्रयोग किया है) क्रोध आया और उसने उसे मरवा डालने की आज्ञा दी पर वह भागकर जान बचा कर वहाँ से भाग निकला। जब वह थककर लेटा सो रहा था उस समय एक बहुत बड़ा शेर उसके पास आया और उसके शरीर से बहता हुआ पसीना चाटकर धीरे से उसे जगाया और चला गया। इस अनहोनी घटना से

पहले-पहल चन्द्रगुप्त के मन में राजत्व का सम्मान प्राप्त करने की आशा जागृत हुई, और उसने अपने चारों ओर लुटेरों का एक गिरोह जमा करके भारतवासियों को तत्कालीन (यूनानी) शासन का तख्ता उलट देने के लिए भड़काया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ने जा रहा था तो एक विशालकाय जंगली हाथी अपने आप उसके सामने आकर खड़ा हो गया और सहसा पालतू हाथी की तरह धीर स्वभाव का होकर उसने चन्द्रगुप्त को अपनी पीठ पर बिठा लिया और युद्ध में उसका पथ प्रदर्शक बन गया और रण क्षेत्र में बहुत आगे-आगे रहा। इस प्रकार राजसिंहासन पर अधिकार करके सैंड्रोकोट्टस ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इसी समय सेल्यूकस अपनी भावी महानता की नींव डाल रहा था। यदि इसमें से चामत्कारिक तत्वों को निकाल दिया जाए, तो यह उद्धरण इतिहास का एक महत्वपूर्ण अभिलेख है। इसमें निश्चित रूप से यह कहा गया है कि चन्द्रगुप्त इस भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का नायक था। इससे चन्द्रगुप्त की योजना का भी पता चलता है। उसकी योजना यह थी कि वह सबसे पहले यूनानी भारत के चोटी के लोगों का अर्थात् प्रान्तीय क्षत्रपों का जो सिकन्दर के सेनापति थे सफाया कर दे। हम पहले ही देख चुके हैं कि दो सबसे महत्वपूर्ण क्षत्रपों निकानार तथा फिलिप की हत्या करवाकर इस योजना को किस प्रकार व्यवहार में पूरा किया गया। जब सिकन्दर जीवित था उस समय भी वह इस विद्रोह के खिलाफ कोई कारगर कदम उठाने में असमर्थ था और ३२३ ई० पू० में उसकी मृत्यु के बाद तो उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसके सेनापतियों ने आपस में साम्राज्य का बँटवारा करते समय भारत को हाथ नहीं लगाया। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सिकन्दर की मृत्यु वास्तव में भारत में यूनानी शासन की मृत्यु थी। हम पहले देख चुके हैं कि ३२१ ई० पू० में जब सिकन्दर के साम्राज्य का दुबारा बँटवारा हुआ तो उसमें यूनानियों ने भारत की स्वतन्त्रता को जिसे चन्द्रगुप्त ने लगभग ३२३ ई० पू० में और ३२१ ई० पू० से पहले तो हर हालत में प्राप्त कर लिया था लगभग बिलकुल स्वीकार कर लिया।

यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जस्टिन के उपर्युक्त उद्धरण में यदि नैंड्रस शब्द के स्थान पर अलेक्जेंडर शब्द को मान लिया जाए, तो वह परिस्थिति की सम्भावनाओं के सर्वथा अनुकूल होगा। भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेता के उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना का सिकन्दर पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा और उसके मन में आशंका तथा शत्रुता की भावना जागृत हुई होगी। यूनानी शासन के प्रति चन्द्रगुप्त की शत्रुता का जो राष्ट्रीय कारण था उसमें यह एक निजी कारण भी जुड़ गया।

मगध के विरुद्ध युद्ध : इस युद्ध की रणनीति से सम्बन्धित कथाएँ पंजाब को विदेशी शासन से मुक्त कराके अपने जीवन के ध्येय का पहला भाग प्राप्त कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने इस लक्ष्य के दूसरे भाग की ओर ध्यान दिया अर्थात् देश के दूसरे भागों को उसके शासक नन्द-वंश के राजाओं के अत्याचार से मुक्त कराने की ओर। दुर्भाग्यवश चन्द्रगुप्त द्वारा मगध विजय जैसी महत्त्वपूर्ण घटना के बारे में बहुत सामग्री नहीं मिलती। परन्तु इस बात का प्रमाण अवश्य मिलता है कि इस घटना से चारों ओर सनसनी फैल गई और समस्त जनता के बीच इस घटना के प्रति दिलचस्पी पैदा हुई। यह बात लोक-परम्परा तथा लोक-कथाओं का एक अंग बन गई। ऐसा प्रतीत होता है कि पंजाब में स्थानीय रूप से अपनी सेना के लिए ऊपर बताये गए ढंग से सैनिक भरती करके चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त ने सबसे पहले सीमान्त के देशों पर आक्रमण किया (अन्तोजनपदं पविसित्वा) और सार्वभौम सत्ता प्राप्त करने की इच्छा से (रज्जम् इच्छंतो) उनके गाँवों को लूटना आरम्भ किया (गामघातादिकम्मम्)। चन्द्रगुप्त सीमान्त से भारत के मध्य-प्रदेश की ओर, मगध तथा पाटलिपुत्र की ओर बढ़ रहा था परन्तु पहले उसने रणनीति में गलतियाँ कीं। एक कहानी इस प्रकार प्रचलित है "इनमें से किसी गाँव में एक स्त्री ने (जिसके घर में चन्द्रगुप्त के एक गुप्तचर ने शरण ले रखी थी) रोटी पकाकर अपने बच्चे को दी। बच्चे ने रोटी के किनारे छोड़कर केवल बीच का भाग खा लिया और किनारे फेंककर और रोटी माँगने लगा। इस पर वह स्त्री बोली 'यह लड़का तो बिल्कुल वैसी ही बात कर रहा है जैसी चन्द्रगुप्त ने राज्य पर आक्रमण करने में की है।' लड़का बोला 'क्यों माँ मैं क्या कर रहा हूँ और चन्द्रगुप्त ने क्या किया है?' वह औरत बोली 'बच्चे तू रोटी का किनारा किनारा छोड़कर केवल बीच का भाग खा रहा है। ऐसे ही चन्द्रगुप्त ने राजा बनने की महत्त्वाकांक्षा में सीमान्त प्रदेश से आरम्भ किए बिना और रास्ते में पड़ने वाले नगरों पर अधिकार किए बिना देश के मध्यभाग पर आक्रमण कर दिया है और उसकी सेना को घेरकर नष्ट कर दिया गया है। यह उसकी मूर्खता थी" (महावंस टीका पृष्ठ १२१ परिशिष्ट १)। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने दूसरी पद्धति अपनाई। उसने सीमान्त प्रदेश से अपना विजय-अभियान आरम्भ किया (पच्चंतो पट्ठाय) और मार्ग में पड़ने वाले अनेक राष्ट्रों तथा जनपदों पर विजय प्राप्त की पर उसने एक गलती यह की कि अपनी विजयों को सुरक्षित रखने के लिए उसने पीछे सेनाएँ नहीं नियुक्त कीं। परिणाम यह हुआ कि जैसे जैसे वह आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे जिन जातियों को पराजित करके वह पीछे छोड़ता गया वे स्वतन्त्रतापूर्वक आपस में मिल सकती थीं और उसकी सेना को घेरकर उसकी योजनाओं को निष्फल बना सकती थीं। तब उसे सही रणनीति

सूसी। वह जैसे-जैसे इन राष्ट्रों तथा जनपदों पर विजय प्राप्त करता गया वैसे वैसे वह वहां अपनी सेनाएं भी नियमन करता गया (उपगृहीततया बलम् संविभाय) और फिर उसने अपनी विजयी सेना के साथ मगध की सीमा में प्रवेश करके पाटलिपुत्र पर घेरा डाला और धननन्द को मार डाला (परिशिष्ट १)।

परिशिष्टपर्वन नामक जैन-ग्रंथ में भी रणनीति के सम्बन्ध में एक ऐसी ही टीका मिलती है जिसमें कहा गया है "जिस प्रकार कोई बच्चा थाली के किनारे के शीतल भाग से ग्रास लेने के बजाय लालचवश बीच के गरम भाग में उंगली डालकर अपनी उंगली जला लेता है उसी प्रकार चाणक्य की भी पराजय हुई क्योंकि उसने शत्रु के सुदृढ़ क्षेत्र पर आक्रमण करने से पहले आस-पास के प्रदेश पर अपना अधिकार सुदृढ़ नहीं बनाया था। इस बात से उपदेश लेकर चाणक्य हिमवतकूट गया और वहां के राजा पर्वतक से उसने मैत्री की संधि कर ली। फिर उन्होंने प्रान्तों को पराजित करके अपना विजय-अभियान आरम्भ किया" (VIII २९१-३ १)। इसी ग्रन्थ में आगे चलकर बताया गया है कि इस अभियान के आरम्भ में ही चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की पराजय हुई क्योंकि वे एक नगर पर विजय प्राप्त करने में असफल रहे अन्त में चाणक्य ने एक कूट-युक्ति से नगर के रक्षकों को चकमा देकर, नगर पर विजय प्राप्त कर ली। इसके बाद उन्होंने मगध-राज्य (नन्ददेशम्) का विध्वंस कर दिया और पाटलिपुत्र पर घेरा डालकर नन्द को हथियार डाल देने पर विवश कर दिया जिसके धन (कोष-कोष्ठा) सेना (बल) क्षमता (धीः) और शक्ति (विक्रम) में बहुत कमी हो गई थी (पूर्वोक्त, १ ३११३)। परन्तु राजा नन्द को मारा नहीं गया और चाणक्य ने उसे अपनी दो पत्नियों तथा एक पुत्री के साथ और एक रथ में जितना सामान आए, लेकर पाटलिपुत्र से चले जाने की अनुमति दे दी (पूर्वोक्त ,०१ ३१७)।

परन्तु इन सब कहानियों से भारतीय इतिहास के इस युगों पुराने मूलभूत तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि भारत में जितने भी विजय-अभियान हुए हैं उनकी प्रगति सीमान्त प्रदेश से अन्तःप्रदेश की ओर उत्तर से दक्षिण की ओर, पर्वतीय प्रदेश से मैदानों की ओर रही है। केवल अंग्रेजों ने जिन्होंने मुख्यतः अपनी नौ-शक्ति का सहारा लिया दूसरी दिशा अपनाई, समुद्र की तरफ से आगे बढ़कर देश के भीतरी भाग की ओर।

नन्द की शक्ति : इन कथाओं से यह भी पता चलता है कि कदाचित् नन्द के साम्राज्य पर विजय इतनी आसानी से प्राप्त नहीं हुई। कई प्रयत्नों के बाद ही उसे परास्त करने में सफलता प्राप्त हो सकी। इसका कारण यह था कि उस साम्राज्य के पास विपुल शक्ति तथा साधन थे। कर्टियस का अनुमान है कि उसकी सेना में २, •पैदल सिपाही २० ०० घुड़सवार, २ चार घोड़ों

वाले रथ और ३००० हाथी थे। इसके अतिरिक्त साम्राज्य का विस्तार भी बहुत अधिक था। वह पंजाब तक फैला हुआ था। कहा जाता है कि जब सिकन्दर ने पौरस द्वितीय पर आक्रमण किया जिसका राज्य चिनाब तथा रावी के बीच में था तो उसने भागकर अपने पड़ोसी राजा नन्द के राज्य में शरण ली थी (मैक क्रिंडिल इनवेजन, पृष्ठ २७१)। हम पहले देख चुके हैं कि राजा नन्द किस प्रकार विभिन्न राज्यों पर विजय प्राप्त करके अनेक राज्यों का सार्वभौम शासक (एकराट्) बन गया था और उसने इन राज्यों पर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित कर लिया था। ये राज्य ऐक्ष्वाकु, पांचाल, काशी, हैहय, अश्मक, कुरु, मैथिल, शूरसेन तथा वीतिहोत्र नामक जातियों के थे। जैसा कि पुराणों से पता चलता है इन समस्त क्षत्रिय राजवंशों को 'निर्मूल कर दिया गया।' यूनानी उसके गंगारिडाई तथा प्रासाई नामक जातियों के लोगों के शासक के रूप में अर्थात् गंगा की घाटी में रहने वाली और प्राच्य अर्थात् 'पूरब की रहने वाली' उन जातियों के शासक के रूप में परिचित थे जो 'मध्यदेश' से पूरब की ओर रहती थीं जैसे पंचाल, शूरसेन, कोशल आदि। कलिंग पर विजय प्राप्त करके जिसका उल्लेख खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में मिलता है राजा नन्द ने अपना राज्य दक्षिण में फैला लिया। उस शिलालेख में एक प्राचीन नहर के प्रसंग में 'नन्द राज' के नाम का उल्लेख किया गया है और उसके विषय में यह भी कहा गया है कि वह अपनी विजय के प्रतीक-चिह्नों के रूप में प्रथम जिन की मूर्ति (अथवा पद चिह्न) और राज-परिवार का खजाना अपने साथ मगध ले गया था। मैसूर के कुछ शिलालेखों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि नन्द का शासन मैसूर के उत्तर में कुन्तल प्रान्त तक फैला था (राइस 'मैसूर एंड कुर्ग फ्राम इंसक्रिप्शंस' पृष्ठ ३)। परन्तु ये शिलालेख बहुत बाद (बारहवीं शताब्दी) के हैं और इसलिए जब तक इस बात का पहले का कोई प्रमाण न मिले तब तक इन्हें विश्वस्त प्रमाण नहीं माना जा सकता। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार वह जनता पर असह्य कर लगाकर अपार धन-सम्पत्ति का मालिक बन बैठा था और यह सारी धन-सम्पदा उसने जमीन के नीचे भंडारों में भर रखी थी।

उसकी अलोकप्रियता : इस प्रकार राजा नन्द भारी शक्ति तथा धन सम्पदा का स्वामी तो बन बैठा पर जनता उसे चाहती न थी। जैसा कि पहले बता चुके हैं स्वयं चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को जाकर यह सूचना दी थी कि "उसकी प्रजा उससे घृणा करती है" और सिकन्दर ने पौरस (पोरस) तथा फेगलास (भगला) नामक भारतीय राजाओं से पूछकर इस सूचना की पुष्टि भी करवा ली थी। उसके अत्याचारपूर्ण शासन और जनता पर असह्य करों के बोझ के अतिरिक्त अपने पूर्वज के मूल पाप के कारण भी वह लोकप्रिय न हो सकता था। इस प्रकार उसकी सत्ता

धीरे-धीरे क्षीण होती हुई पराभव की स्थिति में आ गई थी। उसे जनता के समर्थन का विस्तृत आधार प्राप्त न था। इस प्रकार नन्द के विरुद्ध लड़ाई में चन्द्रगुप्त को सैनिक तत्त्वों की अपेक्षा इस नैतिक तत्त्व से कहीं अधिक सहायता मिली।

युद्ध में नर-संहार : चन्द्रगुप्त तथा नन्द के बीच जो लड़ाई हुई उसका विवरण नहीं मिलता। परिशिष्टपर्वन नामक जैन ग्रंथ के एक छंद में (VIII २० -५४) कहा गया है कि 'नन्द के शासन को समूल नष्ट करने के लिए जमीन के नीचे छिपा कर रखे गए धन-कोषों की सहायता से चाणक्य ने चंद्रगुप्त की सेना के लिए सैनिक भरती किए।' "कुछ लोगों ने यह मत भी व्यक्त किया है कि कदाचित् नंद के विरुद्ध अपनी लड़ाई में उसने यूनानी वेतनभोगी सैनिकों को भी इस्तेमाल किया होगा।" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री, I पृष्ठ ४९५)। दोनों के बीच भीषण रक्तपातपूर्ण युद्ध हुआ इसका संकेत तो मिलिन्दपन्हो (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट XXVI पृष्ठ १४७) में भी एक जगह कुछ अतिरंजना के साथ मिलता है जिसमें कहा गया है कि इस युद्ध में "सौ कोटि सैनिक १०००० हाथी एक लाख घोड़े तथा ५,००० सारथी" मारे गए थे और उसी में बताया गया है कि भद्दसाल नंद की सेना का सेनापति था। हम इस बात का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं कि मुद्राराक्षस में इस घटना का वर्णन किस रूप में किया गया है जिसके आरंभ में ही चाणक्य यह घोषणा करता है कि उसने नौ नंदों की तो हत्या कर दी है और वह नंदवंश के बचे हुए एकमात्र प्रतिनिधि बूढ़े सर्वार्थसिद्धि को भी जीता नहीं छोड़ेगा जो अपनी राजधानी कुसुमपुर की घेरेबंदी को सहन न कर सका और जाकर जंगल में शरण ले रहा है। यद्यपि वह वहाँ संन्यासी का जीवन व्यतीत करता था पर चाणक्य की आज्ञा पर वहीं उसकी हत्या करवा दी गई, क्योंकि चाणक्य ने नंद-वंश की अंतिम शाखा को भी नष्ट कर देने की सौगंध ले रखी थी।

३०४ ई० पू० में सेल्यूकस की पराजय ; ईरान तक राज्य का विस्तार : चंद्रगुप्त ने केवल इतना ही नहीं किया कि नंदवंशी राजा को मगध की गद्दी से हटाकर उसकी जगह बैठ गया। वह फ़ौरन ही एक ऐसे साम्राज्य का सार्वभौम शासक बन बैठा जो नंद के साम्राज्य से बहुत बड़ा था क्योंकि उसमें सिंधु नदी तक पंजाब देश भी शामिल था। बाद में उसने जो विजयें प्राप्त कीं उनके फल-स्वरूप यह राज्य और भी बढ़ गया। चंद्रगुप्त के इसके बाद के जीवन का पता हमें 'प्लूटार्क' के निम्नलिखित वक्तव्य से चल सकता है (लाइव्स अध्याय ४२) "इसके कुछ ही समय बाद ऐंड्रोकोटस ने जो उसी समय राजसिंहासन पर बैठा था सेल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किए और ६,००,००० की सेना लेकर सारे

वाले रथ और ३०० हाथी थे । इसके अतिरिक्त साम्राज्य का विस्तार भी बहुत अधिक था। वह पंजाब तक फैला हुआ था। कहा जाता है कि जब सिकंदर ने पोरस द्वितीय पर आक्रमण किया जिसका राज्य चिनाब तथा रावी के बीच में था तो उसने भागकर अपने पड़ोसी राजा नन्द के राज्य में शरण ली थी (मैक क्रिंडिल इनवेज़न, पृष्ठ २७१) । हम पहले देख चुके हैं कि राजा नन्द किस प्रकार विभिन्न राज्यों पर विजय प्राप्त करके अनेक राज्यों का सार्वभौम शासक (एकराट्) बन गया था और उसने इन राज्यों पर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित कर लिया था। ये राज्य ऐक्ष्वाकु, पांचाल काशी हैहय अश्मक कुरु मैथिल शूरसेन तथा वीतिहोत्र नामक जातियों के थे। जैसा कि पुराणों से पता चलता है इन समस्त क्षत्रिय राजवंशों को "निर्मूल कर दिया गया।" यूनानी उसका गंगारिडेई तथा प्रासाई नामक जातियों के लोगों के शासक के रूप में अर्थात् गंगा की घाटी में रहने वाली और प्राच्य अर्थात् 'पूरब की रहने वाली' उन जातियों के शासक के रूप में परिचित थे जो 'मध्यदेश' से पूरब की ओर रहती थी जैसे पंचाल शूरसेन कोसल आदि। कलिंग पर विजय प्राप्त करके जिसका उल्लेख खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में मिलता है, राजा नन्द ने अपना राज्य दक्षिण में फैला लिया। उस शिलालेख में एक प्राचीन नहर के प्रसंग में 'नंद राज' के नाम का उल्लेख किया गया है और उसके विषय में यह भी कहा गया है कि वह अपनी विजय के प्रतीक-चिह्नों के रूप में प्रथम जिन की मूर्ति (अथवा पद चिह्न) और राज-परिवार का खजाना अपने साथ मगध ले गया था। मैसूर के कुछ शिलालेखों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि नन्द का शासन मैसूर के उत्तर में कुन्तल प्रान्त तक फैला था (राइस मैसूर एंड कुर्ग फ्राम इंसक्रिप्शंस' पृष्ठ ३)। परन्तु ये शिलालेख बहुत बाद (बारहवीं शताब्दी) के हैं और इसलिए जब तक इस बात का पहले का कोई प्रमाण न मिले तब तक इन्हें विश्वस्त प्रमाण नहीं माना जा सकता। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार वह जनता पर असह्य कर लगाकर अपार धन-सम्पत्ति का मालिक बन बैठा था और वह सारी धन-सम्पदा उसने जमीन के नीचे भंडारों में भर रखी थी।

उसकी अलोकप्रियता : इस प्रकार राजा नन्द भारी शक्ति तथा धन सम्पदा का स्वामी तो बन बैठा पर जनता उसे चाहती न थी। जैसा कि पहले बता चुके हैं स्वयं चंद्रगुप्त ने सिकन्दर का जाकर यह सूचना दी थी कि "उसकी प्रजा उससे घृणा करती है" और सिकंदर ने पोरस (पौरव) तथा फ्लेगास (भगला) नामक भारतीय राजाओं से पूछकर इस सूचना की पुष्टि भी करवा ली थी। अपने अत्याचारपूर्ण शासन और जनता पर असह्य करों के बोझ के अतिरिक्त अपने पूर्वज के मूल पाप के कारण भी वह लोकप्रिय न हो सकता था। इस प्रकार उसकी सत्ता

धीरे-धीरे क्षीण होती हुई पराभव की दिशा में जा रही थी। उसे जनता के समर्थन का विश्वस्त आधार प्राप्त न था। इस प्रकार नन्द के विरुद्ध संघर्ष में चन्द्रगुप्त को सैनिक तत्त्वों की अपेक्षा इस नैतिक तत्त्व से कहीं अधिक सहायता मिली।

युद्ध में नर-संहार : चन्द्रगुप्त तथा नन्द के बीच जो लड़ाई हुई उसका विवरण नहीं मिलता। परिशिष्टपर्वन नामक जैन ग्रंथ के एक छंद में (VIII ८ ५८) कहा गया है कि 'नन्द के शासन को समूल नष्ट करने के लिए जमीन के नीचे छिपा-कर रखे गए धन-कोशों की सहायता से चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की सेना के लिए सैनिक भरती किए।' 'कुछ लोगों ने यह मत भी व्यक्त किया है कि कदाचित् नंद के विरुद्ध अपनी लड़ाई में उसने यूनानी वेतनभोगी सैनिकों को भी इस्तेमाल किया होगा।" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री, I पृष्ठ ४९५)। दोनों के बीच भीषण रक्त-पातपूर्ण युद्ध हुआ। इसका संकेत तो मिलिंदपञ्हो (सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट XXVI पृष्ठ १४७) में भी एक जगह कुछ अतिरंजना के साथ मिलता है जिसमें कहा गया है कि इस युद्ध में "सौ कोटि सैनिक १०,००० हाथी एक लाख घोड़े तथा ५,००० सारथी" मारे गए थे और उसी में बताया गया है कि भद्दसाल नंद की सेना का सेनापति था। हम इस बात का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं कि मुद्राराक्षस में इस घटना का वर्णन किस रूप में किया गया है जिसके आरंभ में ही चाणक्य यह घोषणा करता है कि उसने सौ नंदों की तो हत्या कर दी है और वह नंदवंश के बचे हुए एकमात्र प्रतिनिधि बूढ़े सर्वार्थसिद्धि को भी जीवित नहीं छोड़ेगा जो अपनी राजधानी कुसुमपुर की परेशानी को सहन न कर सका और जाकर जंगल में शरण ले रहा है। यद्यपि वह वहाँ संन्यासी का जीवन व्यतीत करता था पर चाणक्य की आज्ञा पर वहाँ उसकी हत्या करवा दी गई क्योंकि चाणक्य ने नंद-वंश की अंतिम शाखा का भी नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा कर रखी थी।

३०४ ई० पू० में सेल्यूकस की पराजय, ईरान तक राज्य का विस्तार : चंद्रगुप्त ने केवल इतना ही नहीं किया कि नंदवंशी राजा का नाश करके उसे हटाकर उसकी जगह बैठ गया। वह फौरन ही एक एक साम्राज्य का स्वाधीन शासक बन बैठा जो नंद के साम्राज्य से बहुत बड़ा था क्योंकि उसमें सिंध नदी तक पंचनद देश भी शामिल था। बाद में उसने जो विजयें प्राप्त कीं उसके फल-स्वरूप यह राज्य और भी बढ़ गया। चंद्रगुप्त के इस बाद के जीवन का पता हमें प्लूटार्क के निम्नलिखित वक्तव्य से चल सकता है (लाइफ अलेक्जेंडर ६२) "इसके कुछ ही समय बाद ऐंड्राकोटस ने जो उसी समय राजसिंहासन पर बैठा था सेल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किए और ६,००,००० की सेना लेकर सारे

भारत को अपने अधीन कर लिया।" यहाँ पर 'राजसिंहासन' से अभिप्राय मगध के सिंहासन से है जिस पर उसने नंदवंश के राजा को पराजित करके अपना अधिकार जमाया था। सेल्यूकस को यह उपहार इन दोनों के बीच युद्ध के परिणामस्वरूप दिया गया था। ऐसा लगता है कि सिकंदर की मृत्यु के बाद उसके सेनापतियों के बीच आपस में सत्ता के लिए जो संघर्ष चला उसमें ३११ ई० पू० के लगभग तक सेल्यूकस ने बैबिलान के शासक के रूप में अपनी स्थिति बहुत दृढ़ कर ली और तब उसे सुदूर-स्थित प्रांतों में अपने शासन को सुदृढ़ बनाने का अवसर मिला। और ३०५ ई० पू० के लगभग या कुछ-कुछ ३०४ ई० पू० तक उसने भारत के उस भाग पर दुबारा आधिपत्य जमाने की योजना बनाई जिसे सिकंदर ने पहले जीता था। काबुल नदी का रास्ता पकड़कर उसने सिंधु नदी पार की (ऐप्पियन Syr ५५) परन्तु यह अभियान निष्फल रहा और दोनों में संधि हो गई। इसका कारण यह था कि उस एक नये भारत से मोर्चा लेना पड़ा था चन्द्रगुप्त के शासन में एक संयुक्त तथा शक्तिशाली देश था और उसके पास बहुत भारी सैन्य-शक्ति थी। उसने हठधर्मी से लड़ते रहने की अपेक्षा संधि कर लेने में ही कल्याण देखा। इस संधि की शर्तों के अनुसार सेल्यूकस ने अरकोशिया (कंधार) और परोपामिसदी (काबुल) की क्षत्रपियाँ और उसके साथ अरिया (हेरात) तथा गेड्रोसिया (बलूचिस्तान) के कुछ भाग चन्द्रगुप्त को दे दिए। इस प्रकार चन्द्रगुप्त के गौरव को चार चाँद लग गए। उसने अपना साम्राज्य भारत की सीमाओं से आगे ईरान की सीमा तक फैला लिया। यही कारण था कि उसके पौत्र अशोक ने अपने दो शिलालेखों (दूसरे तथा १३ वें) में यह घोषणा की कि सीरिया का सम्राट् ऐन्टियोकस (अंतियोको योन-राजा) उसका पड़ोसी अथवा प्रत्यंत राजा था। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को ५०० युद्धोपयोगी हाथी उपहार में देकर इस मैत्री को सुदृढ़ बनाने में अपना योगदान किया। यह उपहार सेल्यूकस के लिए बहुत बहुमूल्य था क्योंकि उसके संघ के कैसेंडर, लाइसिमैकस तथा टॉलेमी नामक राजाओं ने जो उसके मित्र थे अपने समान शत्रु ऐन्टिगोनस के विरुद्ध उससे सहायता माँगी थी जिसके कारण वह बहुत चिंतित था। चंद्रगुप्त के दिये हुए हाथी ठीक समय पर इप्सस के रणक्षेत्र में पहुँच गए और ऐन्टिगोनस का बना-बनाया खेल बिगड़ गया। जब चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को हाथी भेंट किए तो उसके बाद पश्चिमी देशों में लड़े जाने वाले युद्धों के लिए उनकी माँग होने लगी। २८१ ई० पू० में पाइरस द्वारा इन हाथियों का इस्तेमाल किया गया। २५१ ई० पू० में हैस्ड्रूबल ने पैनारमस में 'भारतीय' महावतों द्वारा चलाए जानेवाले हाथी इस्तेमाल किए। रोम के विरुद्ध द्वितीय प्यूनिक युद्ध में हैनिबाल तथा हैस्ड्रुबल ने इन्हीं हाथियों को इस्तेमाल किया और राफिया की

लड़ाई में टोलेमी के लीबियाई हाथी एन्टीओकस के भारतीय हाथियों के सामने पस्त होकर न टिक सके (वार्मिंगटन कामर्स बिटवीन रोमन एम्पायर एंड इंडिया पृष्ठ १५१)।

हाथियों के इस उपहार के बाद दोनों राजाओं के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की अभिव्यक्ति अन्य रूपों में भी हुई। ऐप्पियन (Syr ५५) ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि दोनों राजाओं के बीच विवाह के सम्बन्ध भी स्थापित हुए और इस प्रकार सेल्यूकस या तो चन्द्रगुप्त का ससुर बन गया या दामाद। स्ट्राबो की यह बात (XV ७२४) अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है कि दोनों राजवंशों के बीच विवाह करने का अधिकार स्थापित कर दिया गया। इस बात की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वर्णों को मानने वाले उस देश में दोनों जातियों के बीच परस्पर विवाह करने का अधिकार दे दिया गया हो। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री I पृष्ठ ४११)। सेल्यूकस के साथ चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध बाद में भी बहुत मैत्रीपूर्ण रहे इसका पता एथेनीयस की उस कहानी से चलता है जिसमें उसने कहा है कि उसने सेल्यूकस को कुछ भारतीय औषधियाँ उपहार में भेजीं (पूर्वोक्त पृष्ठ ४१२) और सेल्यूकस ने मेगस्थनीज़ को मौर्य राज-दरबार में अपना राजदूत नियुक्त करके इस मैत्री की पुष्टि की। इससे पहले मेगस्थनीज़ अराकोसिया के क्षत्रप सिबिर्टियस के दरबार में सेल्यूकस का राजदूत था। अरियन के कथनानुसार मेगस्थनीज़ कुछ समय तक पोरस के दरबार में भी रहा था (V २२) परन्तु स्वानबेक ने मूल पाठ के इस अंश का अनुवाद दूसरे ढंग से किया है। कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि वह ३०४ ई० पू० और २९९ ई० पू० (जिस वर्ष चन्द्रगुप्त की मृत्यु हुई थी) के बीच किसी समय पाटलिपुत्र राजदूत होकर आया था। इस प्रकार उसने चन्द्रगुप्त के जीवनकाल के अन्तिम वर्षों में मौर्य भारत को उसके शासन के अधीन एक सुसंगठित राज्य के रूप में अपने गौरव के शिखर पर देखा था।

इन दोनों राजाओं की मृत्यु के बाद भी भारत तथा पश्चिम के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बने रहे। चन्द्रगुप्त के बेटे बिन्दुसार ने सेल्यूकस के बेटे एंटिओकस प्रथम से कुछ मीठी शराब, अंजीरें और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। एंटिओकस प्रथम ने प्लेटिया के डायमेकस को अपना राजदूत बनाकर बिन्दुसार के यहाँ भेजा था। प्लिनी (नेचरल हिस्ट्री VI, ५८) ने इस बात का उल्लेख किया है कि टालेमी फ़िलाडेल्फ़स (मिस्र का राजा २८५–२४७ ई० पू०) ने डायोनीसियस को अपना राजदूत बनाकर भारत भेजा था। डायोनीसियस को जिस राजा के यहाँ राजदूत बनाकर भेजा गया था वह या तो बिन्दुसार हो सकता है या उसका बेटा अशोक जिसने अपने १३वें शिलालेख में मिस्र के इस राजा

का उल्लेख उन पाँच राजाओं में किया है जिनके दरबार में उसने स्वयं अपने धर्मप्रचार-मण्डल भेजे थे।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि मैक्क्रिण्डल ने कहा है कि उसके समय के अनेक लेखक (यूनानी लेखक) सिन्धु नदी का उल्लेख भारत की पश्चिमी सीमा के रूप में नहीं करते बल्कि भारत में उन चार प्रान्तों को भी शामिल करते हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है (प्लिनी द्वारा उद्धृत ५६वाँ अंश)।

दक्षिण-विजय अपना राज्य भारत की सीमाओं के आगे तक फैला लेने के बाद विन्ध्य-पर्वत के पार दक्षिण में अपना साम्राज्य स्थापित करने का विचार उसके मन में उत्पन्न हुआ। प्लूटार्क का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है उसमें कहा गया है कि "उसने ६,००,००० की सेना लेकर सारे भारत को अपने अधीन कर लिया।" इस भारत दिग्विजय के पूरे विवरण नहीं मिलते पर अशोक के शिलालेखों में इसके निश्चित प्रमाण मिलते हैं। पहली बात तो यह है कि मैसूर के चितलदुर्ग जिले में सिद्दपुर, ब्रह्मगिरि और जटिंग रामेश्वर पर्वत पर उसके शिलालेखों से, कोपबल ताल्लुक में गोविमठ तथा पाल्कीगुण्डु के शिलालेखों में हैदराबाद दक्षिण में मस्की के शिलालेख में और कर्नूल जिले में यर्रगुडी के शिलालेख में इस बात का प्रमाण मिलता है कि अशोक का राज्य दक्षिण में फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त चोल तथा पाण्ड्य, सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र आदि जातियों का उल्लेख अपने पड़ोसी राज्यों के रूप में करके (शिलालेख २, १३) अपने साम्राज्य की दक्षिणी सीमाएँ अशोक ने इंगित कर दी हैं। तीसरे अशोक ने अपने १३वें शिलालेख में इस बात की सूचना दी है कि उसने स्वयं केवल कलिंग पर विजय प्राप्त की है और यह कि उस विजय के कारण उसे बहुत दुःख तथा पश्चात्ताप हुआ क्योंकि उसमें बड़ी हिंसा और रक्तपात हुआ था। उस युद्ध में "१,५०,००० लोग बन्दी बनाये गए (अपवुढे) १,००,००० लोग मारे गए (हते) और इससे कई गुनी संख्या में लोग युद्ध के बाद घावों के कारण मर गए। इस भीषण नरसंहार तथा विपदा के लिए वह स्वयं उत्तरदायी था। इस बात का उसे इतना तीव्र आघात हुआ कि उसने तुरन्त घोषणा की कि भविष्य में अब कभी वह ऐसे रक्तपात द्वारा किसी देश पर विजय नहीं प्राप्त करेगा और उसने धर्म विजय को अपने साम्राज्य की नीति घोषित किया और इसके पहले की आक्रमण तथा देश-विजय की नीति का अन्त कर दिया। अब वह अहिंसा का पूर्ण प्रचारक बन गया। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि दक्षिण-विजय का श्रेय अशोक को नहीं है। और इसका भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि वह विजय उसके पिता बिन्दुसार ने प्राप्त की हो, जबकि प्लूटार्क ने यह बात निश्चित रूप से कही।

अचानक ऐसे समय पर राजसिंहासन क्यों त्याग दिया जब उसकी अवस्था भी बहुत अधिक नहीं थी और वह अपनी सत्ता के शिखर पर था। जैसा कि उन्होंने कहा है "चंद्रगुप्त मौर्य का घटनामय शासन जिस ढंग से समाप्त हो गया उस पर प्रकाश डालनेवाला एकमात्र प्रमाण इन ग्रंथों में मिलता है। बहुत ही कम आयु में (उस समय उसकी आयु पचास से कम ही रही होगी) उसके विलुप्त हो जाने की समस्या का पर्याप्त समाधान इस बात से हो जाता है कि उसने स्वयं राजसिंहासन त्याग दिया था।"

इस बात को कि चंद्रगुप्त ने जैन-धर्म अंगीकार कर लिया था सभी जैन लेखकों ने बिना किसी शंका या विरोध की आवश्यकता के स्वीकार कर लिया है और इसका खंडन करने वाला भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। जैसा कि हम देख चुके हैं नंदवंश के राजाओं के शासनकाल में जिनका झुकाव जैन-मत की ओर था और जिनके दरबार में जैन-मंत्री थे जैन-मत का वातावरण पाटलिपुत्र में व्याप्त हो चुका था (हिंदू सभ्यता, पृष्ठ २७७)। मुद्राराक्षस में पाटलिपुत्र के राज-दरबार में जैनों के प्रमुख स्थान और स्वयं चाणक्य द्वारा जो ब्राह्मण धर्म का कट्टर समर्थक था अपने मुख्य दूत के रूप में एक जैन की नियुक्ति के जो प्रसंग मिलते हैं वे भी इसी तथ्य की स्वीकृति हैं। राज-दरबार में जैन प्रभाव आ चुका था [राइस, मैसूर एंड कुर्ग फ्राम इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ ३–९, Ep Carn. II पृष्ठ ३५–४१ श्रवण बेलगोला के शिलालेख]।

इसलिए यदि इस बात को सच मान लिया जाए कि चंद्रगुप्त ने अपने जीवन के अंतिम दिन श्रवण बेलगोला में व्यतीत किये थे तो यह मान लेना भी अनुचित न होगा कि वह किसी ऐसे स्थान में ही जाकर बसा होगा जो उसके साम्राज्य की सीमाओं के भीतर और अशोक के शिलालेखों के कहीं निकट ही रहा होगा।

तमिल परम्परा इसके अतिरिक्त दक्षिण पर मौर्य आक्रमण का उल्लेख तमिल साहित्य में भी मिलता है। तमिल रचनाओं में चार जगह इस बात का उल्लेख मिलता है, तीन जगह अहनानूर में और चौथी जगह पुरनानूर में। इनमें कहा गया है कि मोहूर के राजा का दमन करने के लिए, जिसने उनके आधिपत्य को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था मौरिय अपने रथों और "अपनी भालों तथा हाथियों की सेना" के साथ चट्टानों को तोड़ते हुए आगे बढ़ते गए। इस अभियान में उनके स्थानीय मित्रों कोसरों ने जिन्होंने "रणक्षेत्र में शत्रु की सेनाओं को परास्त कर दिया" और वडुकरों ने सहायता की जो "अपने तीव्रगामी तीरों" से लड़ते थे। कुछ लोगों का मत है कि इन प्रकरणों में कदाचित् मौरिय से तात्पर्य कोंकण के उन बाद के मौर्यों से है जो इतिहास के रंगमंच पर पाँचवीं शताब्दी ईसवी में आये परन्तु एक प्रकरण में "नंदवंशियों की अकूत सम्पदा

साम्राज्य सिंध नदी के पार के प्रांतों में ईरान की सीमा तक बढ़ा लिया। इस प्रकार हम इस बात को मान सकते हैं कि ३२४ और ३२१ ई० पू० के बीच चंद्रगुप्त पंजाब का शासक और मगध का सम्राट् बन बैठा। यह मान लेना अनुचित न होगा कि ३२२ ई० पू० में सार्वभौम शासक के रूप में उसका राज्याभिषेक हुआ और उसी वर्ष उसने मौर्य राजवंश की नींव डाली।

इस तिथि की पुष्टि करने के लिए हमें और भी तथ्य-सामग्री उपलब्ध है। यदि हम विभिन्न राजाओं के शासनकाल के बारे में पुराणों में दी हुई तिथियों पर विश्वास करें तो हम देखेंगे कि चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष तक शासन किया और इसलिए उसका शासनकाल २९८ ई० पू० में समाप्त हुआ होगा और उसके बेटे बिंदुसार ने २५ वर्ष तक अर्थात् २७३ ई० पू० तक शासन किया। इस प्रकार हमें मानना पड़ेगा कि अशोक २७३ ई० पू० में सिंहासन पर बैठा होगा। इस तिथि की सशक्त पुष्टि अशोक के अभिलेखों से होती है। महावंस में अशोक के सिंहासन पर बैठने और उसके राज्याभिषेक में अंतर किया गया है और बताया गया है कि इन दोनों के बीच चार वर्ष का अंतर था (V 22)। इस प्रकार उसके राज्याभिषेक की तिथि २६९ ई० पू० निकलती है। उसके अभिलेखों पर भी उसके राज्याभिषेक के हिसाब से तिथियाँ डाली गई हैं। उसके १३वें शिलालेख पर उसके राज्याभिषेक के १३ वर्ष बाद की तिथि पड़ी है। इस प्रकार यदि उसके राज्याभिषेक की तिथि २६९ ई० पू० में सही मानी जाए तो इस शिलालेख की तिथि २५६ ई० पू० होनी चाहिए। यह तिथि सही है क्योंकि स्वयं १३वें शिलालेख के बारे में सुनिश्चित तिथि-सम्बन्धी तथ्य-सामग्री से यह सिद्ध होता है। १३वाँ शिलालेख भारतीय इतिहास में तिथि क्रम की दृष्टि से अपूर्व महत्व रखता है। इस शिलालेख में अशोक ने पाँच समसामयिक महत्वपूर्ण यूनानी राजाओं का उल्लेख किया है, जिन सबके साथ अपने शिष्टमंडलों के जरिए उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। इसलिए जिस समय अशोक ने उनका उल्लेख किया है उसकी तिथि हर-न-हर उस समय की रही होगी जब वे सब जीवित थे और उनके जीवित होने का अशोक को पता था और हम उस तिथि को उससे एक वर्ष पहले की मान सकते हैं जब वे सब हृष्ट-पुष्ट रहे होंगे।

इनमें से निम्नलिखित तीन राजाओं की शासनावधि निश्चित रूप से मालूम है :

(१) अंतियोक, अर्थात् बैबिलोन तथा ईरान का राजा एन्तियोकस द्वितीय थियोस २६१-२४६ ई० पू०।

(२) तुरमय, अर्थात् मिस्र का राजा तॉलेमाइयस द्वितीय फिलाडेल्फोस, २८५-२४७ ई० पू०।

(३) अंतिकिनि अर्थात् मकदूनिया का राजा ऐंटिगोनस गोनाटस २७७-२४० ई० पू० ।

एक दम दो राजाओं के सम्बन्ध में हैं

(४) मक अर्थात् साइरीन का राजा मगस जिसकी शासनावधि हम यह मान सकते हैं जो बेलाख तथा गयर दोनों ने प्रस्तावित की है, अर्थात् ३००-२५० ई० पू० ।

(५) अलिकसुदर, जिसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद है कि वास्तव में यह कौन था और उसने कब से कब तक शासन किया । यह या तो एपिरस का अलेक्जेंडर हो सकता है या कारिंथ का अलक्जेंडर । इन दोनों में एपिरस का अलेक्जेंडर अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण था और उसी की ओर अशोक का ध्यान आकृष्ट होने की अधिक संभावना है । वह एपिरस के प्रख्यात पाइरस का पुत्र और मकदूनिया के ऐंटिगोनस गोनाटस का प्रतिद्वंद्वी था । कारिंथ का अलेक्जेंडर लगभग विलकुल ही स्थानीय राजा था जो अंत में "केवल एक नगर तथा एक द्वीप का आततायी शासक बनकर रह गया जिसे न कोई सैनिक गौरव प्राप्त था और न उसका वंशक्रम ही प्रतिष्ठित था ।" एशिया माइनर के अनेक राजाओं का पद भी इन्हीं के बराबर या इनसे ऊँचा था जिनका उल्लेख अशोक को करना चाहिए था जैसे पेर्गमोन का यूमेनीस (२६३-२४१ ई० पू०) या भारत से और भी निकट बैक्ट्रिया का डियोडोटस । यह ज्ञात है कि एपिरस का अलेक्जेंडर जिसका अशोक ने वास्तव में उल्लेख किया है, २५५ ई० पू० तक जीवित रहा ।

इन पाँच राजाओं के शासनकाल की तिथियों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि २५५ ई० पू० तक वे सब जीवित थे । इससे यह नतीजा निकलता है कि १३वें शिलालेख में अशोक ने जब उनका उल्लेख किया तो वह २५५ ई० पू० से पहले ही किया होगा । हेग (हालैंड) के पी० एच० एल० एगेरमांट ने (जिन्होंने हालैंड पर जर्मन आक्रमण से कुछ ही दिन पहले १० अप्रैल १९४० को 'अशोक के १३वें शिलालेख की तिथि' शीर्षक अपना विद्वत्तापूर्ण लेख भेजकर मुझे सम्मानित किया था, बहुत निपुणता के साथ हिसाब लगाकर बहुत अच्छे ढंग से यह सिद्ध किया है कि इनमें से किसी भी यूनानी राजा की मृत्यु का समाचार पाटलिपुत्र में अशोक के पास तक पहुँचने में ४ या ५ महीने से अधिक का समय नहीं लग सकता था इसलिए एक वर्ष की गुंजा इश रखने की कोई आवश्यकता नहीं है, जैसा कि मैंने अपनी अशोक नामक पुस्तक में किया था । अपनी तर्क-वितर्क के बाद उन्होंने बाकी दो राजाओं एपिरस के अलेक्जेंडर और साइरीन के मगस का निधनकाल भी निर्धारित किया है ।

राज्य अथवा सार्वभौम शासक का यह परम कर्तव्य था कि वह इस समाज-व्यवस्था की रक्षा करे क्योंकि इस व्यवस्था को समाज के स्थायित्व और राज्य के सर्वोच्च ध्येय के रूप में व्यक्तित्व के विकास अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता की पूर्णतम अभिव्यक्ति को सुनिश्चित बनाने के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था समझा जाता था।

दण्ड अर्थात् धर्म के रक्षक के रूप में राजा ऐतरेय ब्राह्मण म [VIII २६] राजा को धर्म का रक्षक (धर्मस्य गोप्ता) बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में [XIV ४ २ २१] कहा गया है कि धर्म की रक्षा करने के लिए अर्थात् 'न्याय के उन सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिए, जिनके द्वारा बलवानों को निर्बलों को खा जाने से रोका जाता है" (अबलीयान् बलीयांस मा शंसते धर्मेण यथा) दण्ड अर्थात् राजा की आवश्यकता होती है। महाभारत में कहा गया है कि दण्ड के बिना समाज मत्स्य-न्याय की अवस्था में पहुँच जाएगा जिसमें "लोग एक-दूसरे को मछलियों या कुत्तों की तरह खा जाएँगे" (परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्। परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम्॥)। कौटिल्य ने इसी मत को इस प्रकार व्यक्त किया है 'जहाँ कोई दण्डधर नहीं होता अर्थात् जहाँ न्याय दण्ड धारण करने वाला कोई नहीं होता वहाँ बलवान निर्बल को उसी प्रकार खा जाते हैं जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। परन्तु राज्य का संरक्षण पाकर निर्बल भी बलवान हो जाते हैं" (अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेनगुप्तः प्रभवति॥)[I, ४]। कौटिल्य ने आगे चलकर कहा है कि जो राजा धर्म की रक्षा करता है वह "इस लोक में और परलोक में सुख का भोग करेगा" (प्रेत्य चेह च नन्दति) [I १]। यह बात भी ध्यान म रखनी चाहिए कि धर्म अर्थात् उस राज्य-विशेष के कानून तथा संविधान की सीमाओं के भीतर राज्य के प्रधान के नाते सार्वभौम शासक अपने राज्य में सर्वोच्च शक्ति का स्वामी होता था (कूटस्थानीयो हि स्वामीति)[VIII १]। कौटिल्य ने यह भी बताया है [III, १] कि वह राजा जो धर्म (सत्ये स्थितः धर्मः, अर्थात् सत्यनिष्ठ धर्म) व्यवहार (निर्धारित नियमों) संस्था (रीति-रिवाज, लोकाचार) और न्याय (विवेक) के अनुसार शासन करता है (अनुशासन) वह समुद्र की सीमाओं तक समस्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेगा (चतुरन्तां महीं जयेत्)। कौटिल्य का यह भी मत है [IV १३] कि यदि कोई राजा अपनी शक्ति का अवैध रूप से उपयोग करेगा तो वह स्वयं भी दंड का भागी होगा (अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि,) अर्थात् जो राजा किसी निर्दोष व्यक्ति को दंड देगा, वह स्वयं उससे तीस-गुने दंड का भागी होगा। यह दंड भोगने क बाद वह अन्याय के पाप से मुक्त हो जायगा (तेन तत पश्चात्

पार्थ राज्ञो धर्मप्रवर्तकम्) । यह इस सिद्धांत को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देता है परन्तु इसका उद्देश्य केवल इस बात पर जोर देना है कि अंत में धर्म ही सर्वोच्च शासक है स्वयं राजा भी जिसके अधीन होता है । मनुष्य पर विधि अथवा नियमों का शासन होता है ।

जब चाणक्य ने देखा कि नंदवंशी राजाओं के क्रूर शासन के अंतर्गत राजाओं के लिए विहित इस उदात्त लक्ष्य का हनन हो रहा है तब उसने इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वयं चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बिठाया ।

लोकाचार विधि के रूप में — हम यह भी देखते हैं कि विधि के जो स्रोत निर्धारित किये गए हैं उनमें से एक आचार भी है जिसे कौटिल्य ने चरित्र या संस्था अर्थात् उस देश के आचार-व्यवहार तथा रीति-रिवाज कहा है । परन्तु अलग-अलग वर्णों जातियों श्रेणियों तथा जनपदों के आचार भी अलग-अलग होते हैं और इन विभिन्न समूहों को स्वयं अपने लिए कानून बनाने का अधिकार होता है। इसीलिए मनु ने कहा है [VIII ४१ ४६] कि शासक का यह कर्तव्य है कि वह इन विभिन्न स्वशासित समूहों कुल जाति श्रेणी तथा जनपद द्वारा अपने लिए बनाये गए कानूनों को मान्यता दे तथा उनका पालन करवाए । गौतम ने [II २ २ २१] इससे भी आगे जाकर कृषकों व्यापारियों पशुपालकों तथा शिल्पकारों की श्रेणियों अथवा वर्गों को भी कानून बनाने का अधिकार दिया है । राजा को इन जनपदीय या स्थानीय कानूनों को मान्यता देनी चाहिए । इसके एक उदाहरण के रूप में मनुस्मृति के एक टीकाकार ने 'मामा की बेटी से विवाह करने' के रिवाज का उल्लेख किया है ।

इस प्रकार जनतंत्र ढाँचा एक और सामाजिक ढाँचे के निम्नतम स्तर तक पहुँच गया था और जनता के उत्थान के सबसे शक्तिशाली साधन के रूप में काम कर रहा था । राज्यसत्ता की व्यवस्था की ही दृष्टि से प्राचीन हिंदू राजतंत्र एक सीमित राजतंत्र था । जिन स्वशासित समूहों पर राज्य की नींव रखी गई थी उन्होंने मिलकर एक ऐसे संयुक्त जनतंत्र का रूप धारण कर लिया था जिसके कारण राज्यसत्ता के शिखर पर आसीन सार्वभौम शासक निरंकुश नहीं हो सकता था ।

मौर्य साम्राज्य को अपने को प्रशासन के इस परंपरागत ढाँचे में ढालना था । स्थानीय शासन-व्यवस्था की धारणा ही कुछ ऐसी थी कि उसने साम्राज्य के शासन की समस्या को हल कर दिया था । सम्राट् को केवल प्रशासन की मौजूदा व्यवस्था का पालन करना था ।

प्रशासनात्मक विभाग : मौर्य साम्राज्य अनेक उप-राज्यों तथा प्रांतों में बँटा हुआ था और इनमें से प्रत्येक हिंदू राज्य सूत्रों में प्रतिष्ठित तथा एक निश्चित

रूप में बने हुए नमूने पर संगठित था। इसकी शासन-व्यवस्था में सबसे ऊपर राज्यपाल होता था फिर मंत्रि-परिषद् होती थी। इसके बाद विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे फिर राजसभा के छोटे-बड़े विभिन्न पदाधिकारी होते थे जिनके अलग-अलग अधिकार-क्षेत्र होते थे और इस पूरे ढाँचे का आधार होता था स्वशासित ग्राम-समुदाय।

चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में साम्राज्य किन प्रांतों में विभाजित था इसके बारे में हमें अधिक प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु उसके पौत्र अशोक के शासनकाल के बारे में हमें कुछ प्रमाण मिलते हैं। उसने अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित कुछ संस्थाओं में सुधार किये थे परन्तु शेष को ज्यों-का-त्यों बना रहने दिया था। जो नयी संस्थाएँ उसने स्थापित की थीं उनका उल्लेख उसने अपने शिलालेखों में कर दिया है। अशोक ने अपने शिलालेखों में जितने प्रांतों का उल्लेख किया है उनमें से किसी के भी बारे में उसने यह नहीं कहा है कि उसकी स्थापना उसने स्वयं की थी।

उप-राज्य : उसके शिलालेखों में कम-से-कम चार उप-राज्यों का उल्लेख मिलता है जिनकी राजधानियाँ इन स्थानों में थीं (१) तक्षशिला (२) उज्जैन (३) तोसलि और (४) सुवर्णगिरि।

इन उप-राज्यों के शासक राजकुमार होते थे जिन्हें अशोक के शिलालेखों में 'कुमार' या 'आर्यपुत्र' कहा गया है। अशोक को उसके पिता ने पहले उज्जैन का शासक नियुक्त किया था फिर वह तक्षशिला में अपने बड़े भाई राजकुमार सुसीम के स्थान पर शासक नियुक्त हुआ। अशोक का बेटा कुणाल तक्षशिला में सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में शासक नियुक्त था। अशोक ने अपने भाई राजकुमार तिस्स को अपने स्थान पर राजधानी में काम करने के लिए उपराज नियुक्त किया था। राज्य के उत्तराधिकारी को युवराज कहते थे।

कौटिल्य ने [XII, २] यह भी बताया है कि यदि राजा को किसी कारणवश देश से बाहर जाना पड़े तो क्या व्यवस्था की जानी चाहिए। इस प्रकार जो स्थान खाली (शून्य) होगा उसे भरने के लिए एक पदाधिकारी नियुक्त होगा और उसे शून्य-पाल कहा जाएगा। उसका पद बहुत-कुछ अशोक के उपराज जैसा ही था।

उपर्युक्त उप-राज्यों (राष्ट्रों) में से तक्षशिला चंद्रगुप्त के साम्राज्य के नव विजित उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत की राजधानी थी और उज्जैन मध्य प्रांत की राजधानी थी जिसे उस समय अवन्तिराष्ट्र कहते थे [महावंश XIII, ८]।

सुवर्णगिरि दक्षिणी प्रांत की राजधानी थी। तोसलि कलिंग राज्य की राजधानी थी पर वह चंद्रगुप्त के समय में मौर्य साम्राज्य का अंग नहीं था।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि भारत जिन पाँच प्रांतों में विभाजित था उनके नाम पुराणों में ये बताये गए हैं

(१) उदीच्य (उत्तरी भारत) या उत्तरापथ।

(२) मध्य देश (मध्यवर्ती भारत)।

(३) प्राच्य (पूर्वी भारत)।

(४) अपरांत (पश्चिमी भारत)।

(५) दक्षिणापथ (मध्य तथा दक्षिणी भारत)।

राजा की तरह ही इन उप-राज्यों के शासकों की भी मंत्रि-परिषद् होती थी इन मंत्रियों को 'महामात्र' कहते थे। राजा की तरह ही उप राज्यों के शासक भी न्याय-सम्बन्धी प्रशासन के निरीक्षण के लिए विशेष मंत्री (महामात्र) नियुक्त कर सकते थे [देखिए मेरी पुस्तक अशोक (मैकमिलन) पृष्ठ ५]।

प्रांतों के शासक : उप-राज्यों के अतिरिक्त जिनके शासक राजकुमार होते थे कुछ प्रांत भी थे। इस प्रकार के कुछ प्रांतों की राजधानियों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में मिलता है जैसे दक्षिण में इसिला तथा समापा और आजकल के उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी। इन प्रांतों के शासक प्रादेशिक महामात्र या 'राजुक' कहलाते थे जो लाखों लोगों पर शासन करते थे। इन्हें शासन के बड़े व्यापक अधिकार मिले हुए थे [उपरोक्त]। परन्तु इसके बाद के काल के १५० ई० के रुद्रदामन के शिलालेख में प्रांत के शासक को 'राष्ट्रिय' कहा गया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं इस शिलालेख से ही हमें यह महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के पश्चिमी प्रांत का नाम आनर्त [illegible] इसकी राज[illegible] गिरनार में थी और इसका

अध्याय ४

राजा

राजा : उसकी शिक्षा प्रशासन का बहुत काम राजा को स्वयं करना पड़ता था। इस काम के योग्य बनने के लिए उसे विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि चंद्रगुप्त इस दृष्टि से बहुत ही भाग्यशाली था कि चाणक्य-जैसा विख्यात पंडित उसका गुरु बना जिसने उसे तक्षशिला में आठ वर्ष तक शिक्षा दिलाई। उस सारे देश में इससे अच्छी शिक्षा प्राप्त करना संभव न था। कौटिल्य ने बताया है [I ५] कि राजकुमारों को जो शिक्षा दी जाए, उसमें क्या-क्या बातें होनी चाहिएँ। शिक्षा में सबसे पहला स्थान अनुशासन (विनय) का बताया गया है जिसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ (१) ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा (शुश्रूषा) (२) सीखे हुए सत्य पर ध्यान देना (श्रवणम्) (३) जो कुछ सीखा जाए, उसे अच्छी तरह समझना (ग्रहणम्) (४) जो समझ में आ जाए उसे हृदयंगम करना (धारणम्) (५) सीखे हुए सत्य को प्राप्त करने के उपाय तथा साधन जानना (विज्ञानम्) (६) निष्कर्ष निकालना (ऊहा) (७) चिंतन-मनन करना।

"क्रिया से केवल उसी पदार्थ को वश में किया जा सकता है, जो इसके योग्य हो उसे नहीं जो इसके योग्य न हो। (क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्)।

शिक्षा में अध्ययन तथा व्यवहार दोनों का ही समावेश होना चाहिए। उसे केवल सैद्धांतिक न होना चाहिए।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि भारत जिन पाँच प्रांतों में विभाजित था उनके नाम पुराणों में ये बताए गए हैं

(१) उदीच्य (उत्तरी भारत) या उत्तरापथ।

(२) मध्य देश (मध्यवर्ती भारत)।

(३) प्राच्य (पूर्वी भारत)।

(४) अपरांत (पश्चिमी भारत)।

(५) दक्षिणापथ (दक्कन तथा दक्षिणी भारत)।

राजा की तरह ही इन उप-राज्यों के शासकों की भी मंत्रि-परिषद् होती थी इन मंत्रियों को महामात्र कहते थे। राजा की तरह ही उप राज्यों के शासक भी न्याय-सम्बन्धी प्रशासन के निरीक्षण के लिए विशेष मंत्री (महामात्र) नियुक्त कर सकते थे [देखिए मेरी पुस्तक अशोक (मैकमिलन) पृष्ठ ५]।

प्रांतों के शासक : उप-राज्यों के अतिरिक्त जिनके शासक राजकुमार होते थे कुछ प्रांत भी थे। इस प्रकार के कुछ प्रांतों की राजधानियों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में मिलता है जैसे दक्षिण में इसिला तथा समापा और आजकल के उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी। इन प्रांतों के शासक 'प्रादेशिक महामात्र' या 'राजुक' कहलाते थे जो लाखों लोगों पर शासन करते थे। इन्हें शासन के बहुत व्यापक अधिकार मिले हुए थे [उपर्युक्त]। परन्तु इसके बाद, ई० पू० के १५० ई० के रुद्रदाम के शिलालेख में प्रांत के शासक को 'राष्ट्रिय' कहा गया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं इस शिलालेख से ही हमें यह महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के पश्चिमी प्रांत का नाम आनर्त तथा सुराष्ट्र था। इसकी राजधानी गिरिनगर में थी और इसका शासक वैश्य पुष्यगुप्त था। कौटिल्य ने प्रांतीय शासक के लिए 'राष्ट्र-मुख्य' या 'राष्ट्र-पाल' [V १] या 'ईश्वर' [II १] शब्दों का प्रयोग किया है।

अध्याय ४

राजा

राजा : उसकी शिक्षा : प्रशासन का बहुत काम राजा को स्वयं करना पड़ता था । इस काम के योग्य बनने के लिए उसे विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी । हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि चंद्रगुप्त इस दृष्टि से बहुत ही भाग्यशाली था कि चाणक्य-जैसा विख्यात पंडित उसका गुरु बना जिसने उसे तक्षशिला में आठ वर्ष तक शिक्षा दिलाई । उस सारे देश में इससे अच्छी शिक्षा प्राप्त करना संभव न था । कौटिल्य ने बताया है [I, ५] कि राजकुमारों को जो शिक्षा दी जाए, उसमें क्या-क्या बातें होनी चाहिएँ । शिक्षा में सबसे पहला स्थान अनुशासन (विनय) का बताया गया है जिसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ (१) ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा (शुश्रूषा) (२) सीखे हुए सत्य पर ध्यान देना (श्रवणम्) (३) जो कुछ सीखा जाए, उसे अच्छी तरह समझना (ग्रहणम्) (४) जो समझ में आ जाए उसे हृदयगम करना (धारणम्) (५) सीखे हुए सत्य को प्राप्त करने के उपाय तथा साधन जानना (विज्ञानम्) (६) निष्कर्ष निकालना (ऊहा) (७) चिंतन-मनन करना ।

"क्रिया से केवल उसी पदार्थ को वश में किया जा सकता है जो इसके योग्य हो, उसे नहीं जो इसके योग्य न हो ।" (क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्) ।

शिक्षा में अध्ययन तथा व्यवहार दोनों का ही समावेश होना चाहिए । उसे केवल सैद्धांतिक न होना चाहिए ।

राजकुमार को अपनी शिक्षा गणित (संख्या) और लिखाई (लिपि) से
आरंभ करनी चाहिए और फिर इन विषयों का अध्ययन करना चाहिए (क)
त्रयी यानी तीनों वेद (ख) अध्यापकों से आन्वीक्षकी अर्थात् दर्शनशास्त्र (ग)
अनुभवी प्रशासकों (अध्यक्षों) से आर्थिक जीवन (वार्ता) के विभिन्न विभागों
का ज्ञान और (घ) राज्य-शासन के सिद्धांत तथा व्यवहार (वक्तृप्रयोक्तृभ्य)
के विद्वान अध्यापकों से दण्डनीति अर्थात् शासन-कला। राजकुमार को १६ वर्ष
की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और तब विवाह करना चाहिए।
उसे अपनी वासनाओं पर पूरा नियंत्रण रखना चाहिए और यह याद रखना
चाहिए कि इन वासनाओं के वशीभूत होकर, भोग विलास में पड़कर बड़े-न-बड़े
राजाओं ने किस प्रकार अपना विनाश को निकट बुलाया [उपरोक्त I ६] और
किस प्रकार वे राजा जो अपने आत्म-संयम के लिए प्रख्यात थे वैभवशाली बने
[उपर्युक्त]।
शिक्षा पूरी कर विवाह करने के बाद भी उसे अपने ज्ञान को बढ़ाते रहने
के लिए सदैव उन लोगों का साथ करना चाहिए जो ज्ञान के क्षेत्र में उससे बड़े
हैं (विद्या-वृद्ध-संयोग)।
प्रातःकाल उसे हाथियों, घोड़ों, रथों तथा पैदल सिपाहियों की सेनाओं के
साथ लड़ने का सैन्य प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए।
तीसरे पहर का समय उसे इतिहास के अध्ययन में लगाना चाहिए, जिसमें
निम्नलिखित पक्ष शामिल हों (१) पुराण (२) इतिवृत्त (अतीत का इतिहास)
जैसे रामायण तथा महाभारत (३) आख्यायिका (घटनाओं तथा महापुरुषों
की कहानियां) (४) उदाहरण (किस्से तथा जीवनियाँ या एक टीकाकार के
अनुसार न्याय, मीमांसा तथा उपन्यास-शास्त्र अर्थात् गल्प रचनाएँ) (५)
धर्म-शास्त्र, मनुस्मृति जैसी विधि-संहिताएँ और (६) अर्थ-शास्त्र।
अवकाश का समय उसे नया ज्ञान प्राप्त करने और जो कुछ सीखा है उसको
आत्मसात् करने में व्यय करना चाहिए।
इस प्रकार शिक्षा तथा विनय प्राप्त कर चुकने वाला राजा सचमुच अजेय
हो जाता है।
उसे कभी भी असावधान न रहना चाहिए, बल्कि सदैव सजग तथा सक्रिय
रहना चाहिए (उत्थानं दुर्वीत) [उपरोक्त १९]।
दिनचर्या : प्रशासन के भार को ध्यान में रखकर ही राजा की दिनचर्या
निर्धारित की गई है।
दिन और रात दोनों को आठ-आठ भागों में बाँट लिया गया था। समय
का ज्ञान सूर्य द्वारा या समय-सूचक जलयंत्र द्वारा प्राप्त किया जाता था। इस

प्रकार समय का प्रत्येक ऐसा विभाजन (नालिका) डेढ़ घंटे के बराबर होता था। राजा दिन-भर इतना व्यस्त रहता था और उस पर ऐसे-ऐसे कार्यों का भार था कि उसकी दिनचर्या साहित्य में हास्य का विषय बन गई है। दशकुमारचरित में [II, ८] दण्डिन् ने कौटिल्य द्वारा राजाओं के लिए निर्धारित दिनचर्या का मजाक उड़ाया है उसका कहना है कि ऐसी दिनचर्या से राजत्व एक असह्य भार बन जाएगा।

यदि हम दिन और रात की लम्बाई बराबर-बराबर मान लें और दिन तथा रात के सोलह भागों का हिसाब घन्टों म लगाएँ तो राजा की दिनचर्या इस प्रकार होगी

रात्रि में १॥ से ३ बजे तक—संगीत या शहनाई की आवाज (तूर्य-घोष) सुनकर सोकर उठना धर्म के आदर्शों (शास्त्रम्) तथा आगामी दिन के कार्यों पर विचार करना।

प्रातःकाल ३ से ४॥ बजे तक—नीति तथा योजनाएँ निर्धारित करना और उनके अनुसार अपने गुप्त दूत भेजना।

प्रातःकाल ४॥ स ६ बजे तक—यज्ञ कराने वाले पुरोहित राजगुरु तथा कुल-पुरोहित के साथ बैठना और उनका आशीर्वाद प्राप्त करना (स्वस्त्ययन) चिकित्सक पाकशाला के पदाधिकारियों तथा ज्योतिषियों से भेंट।

प्रातःकाल ६ से ७॥ बजे तक—दरबार (उपस्थान) म बैठना और वहाँ अपने सैनिक तथा वित्तीय परामर्शदाताओं स रिपोर्ट सुनना।

प्रातःकाल ७॥ से ९ बजे तक—दरबार (उपस्थान) में बैठना और वहाँ नगरवासी तथा ग्रामवासी जनता की समस्याओं पर विचार करना और उन्हें बिना किसी रोक-टोक के दरबार म आने देना।

प्रातःकाल ९ स १०॥ बजे तक—स्नान भोजन तथा धर्मग्रंथों का अध्ययन।

१०॥ से १२ बजे दोपहर तक—पिछले दिन की बची हुई स्वर्णमुद्राएँ वसूल करना (हिरण्यप्रतिग्रहं मतविषसोत्सिक्तमनस्वीकारम्); विभागाध्यक्षों की समस्याओं पर विचार करना और उन्हें काम सौंपना (अध्यक्षान् कुर्वीत कार्यविशेषेषु नियुञ्जीत)।

१२ बजे दोपहर से १॥ बजे तक—मंत्रि-परिषद् के साथ पत्र-व्यवहार *गुप्तचरों के साथ बैठकर जासूसी की योजनाएँ बनाना।*

तीसरे पहर १॥ से ३ बजे तक—मनोरंजन तथा विश्राम और अपनी नीति पर विचार करना।

तीसरे पहर ३ से ४॥ बजे तक—सेना अश्व-सेना हाथियों तथा शस्त्रागार का निरीक्षण।

संध्याकाल ४॥ से ६ बजे तक—सैनिक शक्ति के विषय में प्रधान सेनापति से परामर्श सन्ध्याकालीन प्रार्थना।

संध्याकाल ६ से ७॥ बजे तक—गुप्त दूतों से भेंट।

रात्रि में ७॥ से ९ बजे तक—दुबारा स्नान तथा भोजन और तदुपरांत धार्मिक चिंतन।

रात्रि में ९ से १०॥ बजे तक—संगीत सुनते हुए विश्राम के लिए लेटना।

रात्रि में १ ॥ से १॥ बजे तक—निद्रा।

राजा के लिए यही दिनचर्या निर्धारित की गई थी।

एक प्रकार से हर राजा के लिए यह एक आदर्श था। उसे अपनी दिनचर्या बदलने दिन और रात के विभागों को अपनी इच्छानुसार विभाजित करने और अपनी क्षमता के अनुसार अपने कृत्यों को पूरा करने" का पूर्ण अधिकार था।

उपस्थान तथा अभ्यागार : उपर्युक्त दिनचर्या को देखने से पता चलेगा कि राजा ९ बजे रात्रि से प्रातःकाल ४॥ बजे तक सार्वजनिक काम से छुट्टी पाकर विश्राम करता था उसके बाद विभिन्न प्रकार के प्रशासनात्मक कार्यों का दैनिक क्रम आरंभ हो जाता था। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण काम रोज दरबार में बैठना था जहाँ वह साधारणतया प्रातःकाल ९ बजे से तीन घंटे समय व्यतीत करता था स्वयं विवादों का निपटारा करता था। प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी झगड़े का निपटारा कराने के लिए दरबार में बिना रोक-टोक आने की इजाजत थी। यह बताया गया है कि जिस राजा तक प्रजा आसानी से नहीं पहुँच सकती (दुर्दर्श) और जो अपना काम राज-कर्मचारियों को सौंप देता है वह न केवल अपने काम में गड़बड़ी पैदा करता है बल्कि जन-साधारण में विद्रोह की भावना भी जागृत करता है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उपस्थान उस स्थान को कहते हैं जहाँ लोग राजा का दर्शन करने के लिए प्रतीक्षा करते हैं (उपतिष्ठन्ते- संदर्शनार्थिनो राजानमत्र इति उपस्थानमुच्यते) (अर्थशास्त्र के १९वें अध्याय का टीकाकार)।

जिन कार्यों पर राजा को स्वयं विचार करना चाहिए उनमें देवतार्थी संस्थाओं, सिद्ध विरक्तियों, विद्वान ब्राह्मणों (श्रोत्रिय) पशुओं पवित्र स्थानों, नाबालिगों, वृद्धावस्था, रोग अथवा किसी दुर्घटना के कारण असमर्थ हो जाने वाले लोगों अनाथों तथा स्त्रियों की समस्याओं का उल्लेख किया गया है। इन समस्याओं पर उसे इसी क्रम से या समस्या-विशेष के महत्त्व तथा गंभीरता की दृष्टि से विचार करना चाहिए। वास्तव में राजा के बारे में यह कहा गया है कि उसे सभी आत्यन्तिक कामों की ओर तुरंत ध्यान देना चाहिए। (और हर काम को बिना किसी विलम्ब के शीघ्र निपटा देना चाहिए।)

यह भी कहा गया है कि जिस समय वह उपासना-गृह (अग्न्यागार) में बैठा हो उस समय उसे अपने प्रधान पुरोहित तथा राजगुरु के साथ मिलकर चिकित्सकों तथा तपस्वियों से सम्बन्धित कामों पर विचार करना चाहिए।

जन-साधारण से मिलने के समय राजा की सुरक्षा के लिए कौटिल्य ने यह व्यवस्था बताई है [I, २१] कि राजा को अपरिचित मार्गी साधुओं तथा तपस्वियों से उस समय तक नहीं मिलना चाहिए जब तक कि उसका विश्वस्त अंगरक्षक (आप्तशस्त्रग्राहाधिष्ठित) उसकी रक्षा के लिए मौजूद न हो। उसे विदेशों के राजाओं के राजदूतों से भी उसी समय मिलना चाहिए जब पूरी मंत्रि-परिषद् उपस्थित हो (मंत्रिपरिषदा सामंतदूतम्)।

राजत्व के लिए आवश्यक गुण : अर्थशास्त्र में राजा के लिए यह सारगर्भ आदेश दिया गया है "निरंतर अपनी प्रजा के हित के लिए (उत्थानम्) काम करना ही राजा का व्रत है, प्रशासन का काम (कार्यानुशासनम्) ही उसके लिए श्रेष्ठ धार्मिक कृत्य है, सबके साथ समानता का व्यवहार करना ही उसका सर्वोच्च दान (दक्षिणा) है।

"प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, जो चीज उसे रुचिकर हो उसमें नहीं बल्कि प्रजा की भलाई में ही उसकी भलाई है। प्रजा के सुख में ही उसे अपना सुख खोजना चाहिए।

इस प्रकार जन-कल्याण को ही प्रशासन की सफलता का आधार बताया गया है (अर्थस्य मूलं उत्थानम्) [I, १९]। एक दूसरे प्रसंग में [VI, १] कौटिल्य ने राजा के गुण ये बताए हैं कि उसमें उत्साह का बाहुल्य होना चाहिए और उसे किसी काम में विलम्ब न करना चाहिए (महोत्साहो अदीर्घसूत्रः)। और कौटिल्य ने यह भी कहा है [XII, ११] जो राजा दैववादी (दैवप्रमाणः) होगा जिसमें शक्ति का अभाव होगा (आत्मद्वीनः) या जिसमें उद्यम करने की शक्ति न होगी (निरारंभः) वह संकट में फँस जाएगा।"

कौटिल्य की इन चेतावनियों की प्रतिध्वनि अशोक के छठे शिलास्तम्भ में मिलती है "कारण कि कोई प्रयास करने (उस्तानम्) या किसी कार्य को पूरा करने (अर्थसंतीरण) में ही मुझे कोई संतोष नहीं मिलता। वास्तव में सबके कल्याण (सर्व-लोक-हितम्) के लिए सचेष्ट रहना ही मेरा परम कर्तव्य है। परन्तु उसका भी तो मूल यही दो बातें हैं, प्रयास (उस्तानम्) और कार्य-पूर्ति। लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहने से बढ़कर कोई दूसरा काम नहीं है।

अशोक की दिनचर्या : यह बात ध्यान देने योग्य है कि अशोक की दिनचर्या भी कौटिल्य द्वारा निर्धारित दिनचर्या के ही अनुकूल थी। अपने छठे शिलालेख में अशोक ने कहा है कि चाहे भोजन करते समय या अपने रनवास में (ओरो-

गर्भेषु) या राज प्रासाद के भीतरी कक्षों में (सभागारेषु), या पशुशाला में (वर्गेषु) या धर्मोपदेश सुनते समय (विनीतेषु) या उद्यान में (उपानेषु) हर समय और हर जगह वह सार्वजनिक कार्य के लिए सदैव तत्पर रहता है चाहे वह शासन-सम्बन्धी कोई काम हो (अर्थ-कर्म) या किसी को कोई रिपोर्ट देना हो (प्रतिवेदनम्)।

मेगास्थनीज की साक्षी : इस विषय में मेगास्थनीज ने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि राजाओं के लिए निर्धारित यह दिनचर्या केवल एक आदर्श परामर्श-मात्र नहीं था। मेगास्थनीज ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था कि सम्राट् अर्थात् चन्द्रगुप्त कितना व्यस्त रहता था और किस प्रकार वह हर समय सार्वजनिक कामों में फँसा रहता था। मेगास्थनीज ने लिखा है 'राजा दिन में नहीं सोता। केवल युद्ध के समय ही नहीं बल्कि विवादों का फैसला करने के लिए भी वह राज-प्रासाद से निकलता है। ऐसे अवसरों पर वह दिन भर दरबार (सभा) में रहता है और इस काम में कोई विघ्न नहीं पड़ने देता, चाहे इस बीच में उसकी वैयक्तिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने का ही समय क्यों न आ जाए' [मैक्क्रिंडिल ऐंशेंट इंडिया, पृष्ठ ५८]। कर्टियस ने भी लिखा है [VIII, ९] 'राज प्रासाद में कोई भी आ-जा सकता है चाहे राजा उस समय अपने बाल सँवारने और वस्त्र पहनने में ही क्यों न व्यस्त हो। उसी समय वह राजदूतों से साक्षात्कार करता है और अपनी प्रजा का न्याय करता है।' [उपरोक्त]

हम देखते हैं कि यूनानियों की आँखों-देखी साक्षी से कौटिल्य के कथन की जिसकी पुष्टि होती है। दोनों ही से हमें पता चलता है कि प्रजा की हर समय राजा तक पहुँच थी और उसके काम का अधिकांश विवादों को निबटाना था। मेगास्थनीज ने जिसे कोर्ट (सभा) कहा है उसे कौटिल्य ने उपस्थान तथा आस्थान कहा है। मेगास्थनीज ने तो राजा के न्याय करने या विवादों का फैसला करने का ही उल्लेख किया है पर कौटिल्य ने राजा के प्रशासनात्मक कार्य का उससे अधिक व्यापक अर्थ में किया है जिसमें प्रजा के आवेदनों पर निर्णय देना भी शामिल है। कौटिल्य की बताई दिनचर्या में यह भी स्पष्ट है कि विवादों का फैसला करने में बहुधा सामान्य से कुछ वह समय भी लग जाता होगा जो राजा के स्नान तथा भोजन के लिए रखा गया था जैसा कि यूनानी लेखक ने लिखा है। क्योंकि इस दिनचर्या से यह पता चलता है कि राजा प्रातःकाल ६ से ९ बजे तक उपस्थान में बैठ कर सार्वजनिक काम निबटाता था जिसके बाद स्नान का समय आता था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य की योजना के अनुसार राजा भोजन के बाद दोपहर को १ बजे से तीन बजे तक अन्य प्रजा-

करवकमालाकारकर्म वासक कर्म)। कौटिल्य के कथनानुसार राजा के यहाँ उसकी सेवा-टहल करने के लिए नियमित रूप से कुछ गणिकाएँ नियुक्त रहती थीं जिनकी तीन श्रेणियाँ होती थीं। इनमें सबसे निम्न श्रेणी की गणिकाएँ राजा का छत्र तथा खाने का बकसा (छत्रभृंगार) लेकर चलती थीं दूसरी श्रेणी की गणिकाएँ पंखा झलती थी और जिस समय राजा पालकी में बैठता था उस समय उसकी सेवा करने के लिए उपस्थित रहती थी (व्यजन-शिबिका); और सबसे उच्च श्रेणी की गणिकाएँ उस समय उसकी सेवा करती थी जब वह सिंहासन पर या रथ पर बैठा होता था (पीठिका-रथेषु)। जिनकी उमर ढलने लगती थी वे राज-प्रासाद के भंडार (कोष्ठागार) में या रसोई (महानसे) में काम करने के लिए भेज दी जाती थीं [II २७]। २४ • पण की रकम अदा करके (निष्क्रय) कोई भी गणिका दूसरे प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए मुक्ति प्राप्त कर सकती थी (उपरोक्त)। राजा के सम्मुख नाचने-गाने के लिए आठ वर्ष से अधिक आयु की लड़कियाँ नियुक्त की जाती थीं (अष्टवर्षात् प्रभृति राज्ञः कुशीलव कर्म कुर्यात्) (उपर्युक्त)। इस प्रसंग में हम मेगास्थनीज का यह वक्तव्य भी उद्धृत कर दें [फ्रैग XXVII] कि "जो स्त्रियाँ राजा की निजी सेवा करती थी उन्हें उनके माता-पिता से खरीदा जाता था।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि भरहुत में मूर्तिकला की कृतियों (लगभग ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी की) में एक जुलूस का चित्रण किया गया है जिसमें एक स्त्री सजे हुए घोड़े पर सवार है और हाथ में गरुड़ध्वज लिये हुए है [ए गाइड टु स्कल्पचर्स इन दि इंडियन म्यूजियम I २४]।

आखेट : यूनानी लेखकों के अनुसार राजा तीन अवसरों पर राज प्रासाद से बाहर जाता है और जन-साधारण के बीच घूमता-फिरता है। "एक तो विवादों की सुनवाई करने जिसमें वह सारा दिन व्यस्त रहता था जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं। दूसरे, जब वह शिकारी स्त्रियों से घिरा हुआ शिकार खेलने निकलता था जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। "रस्सियाँ तानकर मार्ग की सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती हैं और जो भी इन सीमाओं को पार कर स्त्रियों के बीच जाता वह फौरन मौत के घाट उतार दिया जाता। ढोल पीटते हुए और घंटे बजाते हुए कुछ लोग आगे-आगे चलते हैं। आखेट-क्षेत्र में पहुँचकर राजा एक ऊँचे स्थान से बैठकर बाण चलाता है, और दो या तीन सशस्त्र स्त्रियाँ उसके पास खड़ी रहती हैं। जब वह किसी ऐसे स्थान में शिकार खेलने जाता है, जो चारों ओर से घिरा हुआ न हो तो वह हाथी पर बैठकर निशाना साधता है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कौटिल्य ने राजा के विहार अथवा क्रीड़ा के लिए अलग एक ऐसा वन होने की बात लिखी है [II, २] जिसमें

राजकार्य की उपेक्षा न हो। अशोक ने भी अपने ८वें शिलालेख में राजा की विहार-यात्राओं का उल्लेख किया है। कौटिल्य के वर्णन के अनुसार इस राज वन की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर एक खाई होती थी (खातगुप्तम्) जिसमें प्रवेश का केवल एक मार्ग होता था और उसमें बहुत बड़ी संख्या में सिंह शिकारी पशु और जंगली भैंस (महिष) होते थे। इन पशुओं के दाँत और नाखून निकाल दिए जाते थे ताकि राजा को प्राणों का कोई खतरा न रहे और वह निर्विघ्न होकर शिकार कर सके। कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि राजा को अपनी व्याधशाला के शिकारी दल साथ लेकर केवल उन्हीं वनों में शिकार खेलने जाना चाहिए जिन्हें उसके वन के रखवालों (लुब्धक) ने पहले से साफ कर दिया हो, उनमें डाकू, चोर आदि का किसी प्रकार का खतरा न हो। इन परिस्थितियों में राजा गतिशील लक्ष्य पर तीर मारते हुए हिरन पर निशाना लगाना सीखता था (चललक्ष्य) [I १]। मुद्राराक्षस में एक उद्यान का उल्लेख मिलता है जहाँ नन्दवंश के राजा गतिशील लक्ष्य पर निशाना लगाते थे।

आखेट राजाओं की एक व्यसनी क्रीड़ा थी। कौटिल्य ने राजाओं के लिए आखेट की उपयोगिता पर विस्तारपूर्वक विचार किया है [VIII ३]। पिशुन ने तो इसे मुख्यतः हानिकर एवं व्यसन बताया है कि उसमें डाकुओं, शत्रुओं, वन्य पशुओं, दावानल, क्षुधा, भूख-प्यास आदि के कारण राजा को शारीरिक क्षति का खतरा रहता था और इस बात का भी खतरा रहता था कि राजा ही रास्ता भूलकर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य से कहीं दूर न निकल जाए। कौटिल्य ने व्यायाम बतलाकर उसे सराहा है जिससे शरीर में जितना [illegible] पित्त, चरबी तथा पसीना होता है वह नष्ट हो जाता है, निशाना ठीक होता है और वन्य पशुओं के स्वभाव का ज्ञान होता है।

मेगास्थनीज ने (भाग १२) और एरियन तथा स्ट्राबो ने कुत्तों के साथ शेर के शिकार का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने भी शिकारी कुत्तों के झुंड लेकर (श्वगणिनः) जंगल में शिकार खेलने जाने वालों का और कुत्तों की सहायता से किए गए शिकार का उल्लेख किया है [IV ३]। कौटिल्य ने ऐसे कुत्ते पालने वालों का भी उल्लेख किया है (I १८) जो उन्हें साथ का रूप शिकार में (श्वगणिनाम् धनुः)।

परन्तु आगे चलकर मृगया और आखेट प्रमाद की अन्य क्रीड़ाओं (अभिरमणि) का राजाओं द्वारा निषिद्ध घोषित करना था जब चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक का था (शिलालेख ८)। इस बात ध्यान देने योग्य है कि महावंश के अनुसार अशोक का भाई तिष्य जब उपराज था तब वह शिकार खेला करता था जिसका अर्थ यह है कि लगभग २६६ ई० पू० तक इस हिंसक शिकार

का त्याग कर भिक्षु बन गया । राजाओं को प्रजा के [illegible] में आनन्द की अनुमति थी ।

दौड़ : उस समय में भारत के बाद राजाओं की सर्वप्रिय क्रीड़ा दौड़ थी । चन्द्रगुप्त के समय में एक खास नस्ल के बैल होते थे "जो घोड़ा के बराबर तेज भाग सकते थे । इस प्रकार के दो बैलों और उनके बीच में एक घोड़े को एक गाड़ी में जोत दिया जाता था । दौड़ लगभग बीस या तीस मील की होती थी और राजा तथा उसके सामन्त इन दौड़ों में भाग लेते और सोने-चांदी का लम्बा जुआ खेलते थे । कौटिल्य ने भी ऐसे बैलों का उल्लेख किया है जो घोड़ा के बराबर तेज दौड़ सकते थे (बलीवर्दानां अश्वसमजवप्रतिवाहिनाम्) [II २९] ।

पशुओं की लड़ाई : राजाओं की अन्य क्रीड़ाओं में एड्रियन ने तो इसका भी उल्लेख किया है कि उस समय में गायों और पशु कुछ लोगों को पाला जाता था कि उनको पशुओं की भांति लड़ाया जाए । परन्तु ज्यादातर लड़ाइयाँ 'नुकीले सींगदार जानवरों के बीच' कराई जाती थीं "जो एक दूसरे को सींगों से मारते थे जैसे जंगली बैल, पालतू दुम्बे और मेढ़े । हाथियों की भी लड़ाइयाँ कराई जाती थीं । दीघ-निकाय में इस प्रकार की क्रीड़ा को 'समाज' कहा गया है और उसकी निन्दा की गई है और "हाथियों, घोड़ों, भैंसों, बैलों, बकरों तथा दुम्बों" जैसे पशुओं और "मुर्गों तथा बटेरों" जैसे पक्षियों की लड़ाइयों का वर्णन किया गया है ।

राजा की सवारी : तीसरा अवसर जब राजा जन-साधारण के बीच आता था वह किसी धार्मिक समारोह या किसी धार्मिक यज्ञ का अवसर होता था । जैसा कि स्ट्राबो ने कहा है [XV १ ६] इन समारोहों के अवसर पर राजा की सवारी में सोने और चांदी के आभूषणों से सुसज्जित कई हाथी, चार घोड़ों वाले रथ और बैलों की जोड़ियाँ चलती थीं । उसके बाद बहुत से नौकर-चाकर अपने सबसे अच्छे वस्त्र पहनकर तथा वैदूर्य लाल आदि रत्नों से जटित सोने के पूरापात्र और सुराहियाँ, छः-छः फुट चौड़ी मेजें, राजसिंहासन, तांबे के बड़े-बड़े तसले तथा परातें, जरी-कमखाब आदि के वस्त्र, चीते, पालतू शेर आदि वन्य पशु और नाना रंगों की सुरीली चिड़ियाँ लेकर चलते थे । क्लेटार्कोस ने "चार-पहियों वाली ऐसी गाड़ियों" का उल्लेख किया है 'जिन पर बड़े पत्ते वाले पेड़ लदे होते थे जिन पर नाना प्रकार की पालतू चिड़ियाँ पिंजरों में लटकी रहती थीं जिनमें उसने किरात पक्षी को सबसे सुरीला बताया है । उसने कतोरू नामक एक दूसरे पक्षी का उल्लेख किया है जो देखने में सबसे सुन्दर होता था और जिसके पर अनेक रंगों के होते थे ।"

राज-दरबार का वैभव : कर्टियस ने चंद्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद में भारतीय

राज-दरबार के वैभव का उल्लेख इन शब्दों में किया था "जब राजा जन साधारण के बीच दर्शन देने की कृपा करता है तो उसके नौकर चाकर हाथ में चाँदी की धूपदानियाँ लेकर चलते हैं और जिस मार्ग से राजा की सवारी निकलती थी उस पूरे मार्ग को धूपादि से सुगन्धित करते थे। राजा रत्न-आभूषणों से सुसज्जित होकर और लाल रंग के तथा सोने के तार के बेल-बूटों से कढ़े हुए बढ़िया मलमल के वस्त्र पहनकर सोने की पालकी में बैठता था। पालकी के पीछे सशस्त्र सैनिक और उसके अंगरक्षक चलते थे जिनमें कुछ अपने हाथों में पेड़ों की डालें लिए रहते थे जिन पर सधाये हुए पक्षी बैठे रहते थे जो बीच-बीच में अपनी बोलियों से इस कार्यक्रम का मन करते रहते थे।

चूड़ाकर्म : स्ट्रैबो के कथनानुसार जब अपने जन्म दिवस पर राजा अपने बाल धोता था तो राज-दरबार में बड़ा समारोह मनाया जाता था। लोग राजा को बहुमूल्य उपहार भेजते थे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी धन-सम्पदा के प्रदर्शन में अपने पड़ोसियों से होड़ करता था' [XV I, ६९] राजा "पशुओं के उपहार, जिनमें हिरन, बारहसिंघे या चीते आदि जंगली जानवर भी शामिल थे या सारस, हंस, बत्तख, कबूतर आदि चिड़ियों के उपहार" सबसे अधिक पसन्द करता था। भारतवासी अपने राजा को पालतू शेर, पालतू चीते, द्रुतगामी बैल या भारी पीले रंग के कबूतर, शिकारी कुत्ते और बंदर आदि लाकर उपहार में देते थे (एइलियन पृष्ठ १४४ मैक्रिण्डिल इन ऐंशेंट इंडिया)।

हाथियों की सलामी : हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राजा को मोरीग हाथी सलामी देते थे। सबसे पहले हाथी को इस तरह सधाया जाता था कि जब राजा व्यायाम करने जाता था तो वह उसका अभिवादन करता था। जैसे ही राजा निकलता था वह हाथी महावत के अंकुश का संकेत पाते ही उसे सैनिक सलामी देता था (मेगास्थनीज अंश २५)।

यात्राएं : राजा की यात्राओं के बारे में यह उल्लेख मिलता है कि "जब उसे कोई छोटी यात्रा करनी होती थी तो वह घोड़े पर सवार होकर जाता था परन्तु जब उसे कहीं दूर जाना होता था तो वह हाथियों पर हौदा कसवाकर उसमें बैठता था और यद्यपि ये हाथी बहुत विशालकाय होते थे पर उनके पूरे शरीर पर सोने की झूलें पड़ी रहती थीं। (उपर्युक्त)

हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि इन यात्राओं के दौरान में राजा सशस्त्र मंडल स्त्रियों से घिरा रहता था [स्ट्रैबो VIII १]।

कौटिल्य के कथनानुसार, जब कभी राजा पूरी सैनिक साज-सज्जा के साथ सम्मुख की गई सेना का निरीक्षण करने जाता था तो वह स्वयं भी पूरी सैनिक वेशभूषा में घोड़े, रथ या हाथी पर सवार होकर जाता था।

यात्रा के समय चाहे वह यात्रा पर जा रहा हो या यात्रा से लौट रहा हो (निर्यायी अभियाने च) मार्ग के दोनों ओर (उभयतः) काठार्मर पुलिस (दण्डिभिः) खड़ी रहती थी जो मार्ग पर किसी भी सशस्त्र व्यक्ति (अपास्तशस्त्रहस्त) साधु या अपंग व्यक्ति को नहीं आने देती थी। राजा भीड़ में नहीं घुसता था (न पुरुषसम्बाधमवगाहेत) (उपर्युक्त)।

कौटिल्य ने लिखा है कि राजा समारोहों के अवसर पर निकलने वाले जुलूसों (यात्राओं) समवेत जन-समुदायों (समाज) वसन्तोत्सव जैसे उत्सवों और उद्यान गोष्ठी आदि को देखने भी निकलता था पर केवल उसी दशा में जब वहाँ उसकी सुरक्षा के लिए सैनिकों (दशवर्गिका) की उचित व्यवस्था हो (उपर्युक्त)।

सुरक्षा की व्यवस्था : कौटिल्य ने यात्रा के समय राजा की सुरक्षा के लिए हर सम्भव उपाय का आयोजन रखा है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा उस समय तक किसी रथ या घोड़े या हाथी पर (यानवाहन) सवार नहीं होगा जब तक उसके विश्वस्त अधिकारी इनके विश्वसनीय होने का प्रमाणपत्र न दे दें। वह नाव पर भी उसी समय चढ़ेगा जब कोई विश्वस्त मल्लाह उसे खे रहा हो और उसके साथ एक दूसरी नाव बँधी हुई हो। परन्तु वह किसी भी दशा में ऐसी किसी नाव पर नहीं बैठेगा जिसे कभी भी आँधी आदि के कारण (वातवेगवशां) ऐसी क्षति पहुँची हो कि वह जल में चलने योग्य न रह गई हो। (उपर्युक्त)

राज-प्रासाद : अब हम साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में स्थित राज प्रासाद के वैभव का वर्णन करेंगे। एरियन के मतानुसार, मेमनान राजाओं के सूसा नामक नगर का सम्पूर्ण वैभव और एकबातन की सारी सम्पदा भी इसका मुकाबला नहीं कर सकती थी।

"राज-प्रासाद की शोभा बढ़ाने के लिए हर ओर सुनहरे स्तंभ हैं जिन पर चारों ओर सोने की अंगूर की बेलें उभरी हुई बनायी गई हैं। इस कलात्मकता में वैभिन्य उत्पन्न करने के लिए जगह जगह उन चिड़ियों की चाँदी की मूर्तियाँ बनी हैं जिन्हें देखते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है।"

राज प्रासाद एक विस्तृत उद्यान में स्थित था। उसने लिखा है कि उसमें असंख्य "पालतू मोर और तीतर पक्षी हैं। छायादार कुंज और वृक्षों के झुरमुट हैं जिनकी डालें उद्यान-कला की किसी चतुर विधि से एक-दूसरे में उलझी रहती हैं। ये वृक्ष सदैव हरे भरे रहते हैं, न कभी सूखते नहीं और उनकी पत्तियाँ कभी नहीं झड़ती। इनमें से कुछ वृक्ष इसी देश के हैं और कुछ किन्हीं से बड़ी सावधानी से लाये गए हैं। ये सब वृक्ष राज प्रासाद की शोभा बढ़ाते हैं। वहाँ पक्षी स्वच्छंद तथा उन्मुक्त हैं। वे अपनी इच्छा से वहाँ आते हैं और इस

राज-दरबार के वैभव का उल्लेख इन शब्दों में किया था : "जब राजा जन-साधारण के बीच दर्शन देने की कृपा करता है तो उसके नौकर-चाकर साथ में चाँदी की धूपदानियाँ लेकर चलते हैं और जिस मार्ग से राजा की सवारी निकलती थी उस पूरे मार्ग को धूपादि से सुगंधित करते थे। राजा रत्न-आभूषणों से सुसज्जित होकर और खास रंग के तथा सोने के तार के बेल-बूटों से बने हुए बढ़िया मलमल के वस्त्र पहनकर सोने की पालकी में बैठता था। पालकी के पीछे सशस्त्र सैनिक और उसके अंगरक्षक चलते थे जिनमें कुछ अपने हाथों में पेड़ों की डाल लिए रहते थे जिन पर सधाये हुए पक्षी बैठे रहते थे जो बीच-बीच में अपनी आसिम्या से इस कार्यक्रम का मन करते रहते थे।

चूड़ाकर्म : स्ट्राबो के कथनानुसार जब अपने जन्म-दिवस पर राजा अपने बाल धोता था तो राज-दरबार में बड़ा समारोह मनाया जाता था और लोग राजा को 'बहुमूल्य उपहार भेजते थे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी धन-सम्पदा के प्रदर्शन में अपने पड़ोसियों से होड़ करता था" [XV I ६९] राजा पशुओं के उपहार, जिनमें हिरन, बारहसिंगे या भैंस आदि जंगली जानवर भी शामिल थे या "शिक्षा दिए हुए तोता, कबूतर आदि चिड़ियों के उपहार" सबसे अधिक पसंद करता था। भारतवासी अपने राजा को पालतू चीते, पालतू चीते, युद्धगामी बैल या पाड़े, पीले रंग के जानवर, शिकारी कुत्ते और बंदर आदि लाकर उपहार में देते थे (एलियन पृष्ठ १४८ मैक्क्रिन्डिल इन ऐंशेंट इंडिया)।

हाथियों की सलामी : हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राजा को श्रीमान हाथी सलामी देते थे। सबसे पहले हाथी को इस तरह सधाया जाता था कि जब राजा न्याय करने जाता था तो वह उसका अभिवादन करता था। जैसे ही राजा निकलता था वह हाथी महावत के अंकुश का संकेत पाते ही उसे सैनिक सलामी देता था (मैगस्थनीज खंड २५)।

यात्राएँ : राजा की यात्राओं के बारे में यह उल्लेख मिलता है कि "जब उसे कोई छोटी यात्रा करनी होती थी तो वह घोड़े पर सवार होकर जाता था परन्तु जब उसे कहीं दूर जाना होता था तो वह हाथियों पर हौदा कसवाकर उसमें बैठता था और यद्यपि ये हाथी बहुत विशालकाय होते थे पर उनके पूरे शरीर पर सोने की झूलें पड़ी रहती थीं। (उपर्युक्त)

इसमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि इन यात्राओं के दौरान में राजा अपना भोजन शिविर में पकवाता था [स्ट्राबो VIII ९]।

कर्टियस के कथनानुसार, जब कभी राजा पूरी सैनिक साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत की गई सेना का निरीक्षण करने जाता था तो वह स्वयं भी पूरी सैनिक वेशभूषा में घोड़े, रथ या हाथी पर सवार होकर जाता था।

यात्रा के समय चाहे वह यात्रा पर जा रहा हो या यात्रा से लौट रहा हो (निर्याणे अभियाने च) मार्ग के दोनों ओर (उभयत:) लाठीबंद पुलिस (दण्डिभि:) खड़ी रहती थी जो मार्ग पर किसी भी सशस्त्र व्यक्ति (अपास्तशस्त्रहस्त) साथ या अपंग व्यक्ति को नहीं आने देती थी। राजा भीड़ में नहीं घुसता था (न पुरुषसम्बाधमवगाहेत) (उपर्युक्त)।

कौटिल्य ने लिखा है कि राजा समारोहों के अवसर पर निकलने वाले जुलूसों (यात्राओं) समवेत जन-समुदायों (समाज) उत्सवों-जैसे उत्सवों और उद्यान भोजों आदि को देखने भी निकलता था पर केवल उसी दशा में जब वहाँ उसकी सुरक्षा के लिए सैनिकों (दशवर्गिका) की उचित व्यवस्था हो (उपर्युक्त)।

सुरक्षा की व्यवस्था कौटिल्य ने यात्रा के समय राजा की सुरक्षा के लिए हर संभव उपाय का आयोजन रखा है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा उस समय तक किसी रथ या घोड़े या हाथी पर (यानवाहनं) सवार नहीं होगा जब तक उसके विश्वस्त अधिकारी इनके विश्वसनीय होने का प्रमाणपत्र न दे दें। वह नाव पर भी उसी समय चढ़ेगा जब कोई विश्वस्त मल्लाह उसे खे रहा हो और उसके साथ एक दूसरी नाव बँधी हुई हो। परन्तु वह किसी भी दशा में ऐसी किसी नाव पर नहीं बैठेगा जिसे कभी भी आँधी आदि के कारण (वातवेगवशां) ऐसी क्षति पहुँची हो कि वह जल में चलने योग्य न रह गई हो। (उपर्युक्त)

राज-प्रासाद अब हम साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में स्थित राज प्रासाद के वैभव का वर्णन करेंगे। एइलियन के मतानुसार 'मेमनोन राजाओं के सूसा नामक नगर का सम्पूर्ण वैभव और एकबातन की सारी सम्पदा' भी इसका मुकाबला नहीं कर सकती थी।

"राज प्रासाद की शोभा बढ़ाने के लिए हर ओर सुनहरे स्तम्भ हैं जिन पर चारों ओर सोने की अंगूर की बेलें उभरी हुई बनायी गई हैं इस कलात्मकता में वैविध्य उत्पन्न करने के लिए जगह-जगह उन चिड़ियों की चाँदी की मूर्तियाँ लगी हैं जिन्हें देखते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है।

राज प्रासाद एक विस्तृत उद्यान में स्थित था। उसने लिखा है कि उसमें असंख्य "पालतू मोर और तीतर पक्षी हैं। छायादार कुंज और वृक्षों के ऐसे झुरमुट हैं, जिनको माली उद्यान-कला की किसी चतुर विधि से एक-दूसरे में उलझी रखती हैं ये वृक्ष सदैव हरे-भरे रहते हैं, न कभी सूखते नहीं और उनकी पत्तियाँ कभी नहीं झड़तीं। इनमें से कुछ वृक्ष इसी देश के हैं और कुछ विदेशों से बड़ी सावधानी से लाये गए हैं। ये सब वृक्ष राज प्रासाद की शोभा बढ़ाते हैं। वहाँ पक्षी स्वच्छंद तथा उन्मुक्त हैं। वे अपनी इच्छा से वहाँ आते हैं और इन

भी पर मयूर घोंसले बनाते हैं। इनमें नाना प्रकार के पक्षी होते हैं पर तोते वहाँ विशेष रूप से रखे गए हैं और वे झुंड बाँधकर राजा के चारों ओर मंडराते हैं। इस राज-विहार में अनेक कृत्रिम विशाल जलाशय हैं जिनमें बहुत बड़ी-बड़ी मछलियाँ रखी जाती हैं पर उन्हें किसी प्रकार हानि नहीं पहुँचाई जाती। अपनी बाल्यावस्था में राजकुमारों के अतिरिक्त किसी को इन मछलियों का शिकार करने की इजाजत नहीं होती। ये बालक इन जलाशयों के साथ जल में मछलियाँ पकड़ने का आनन्द लेते हैं तथा अपनी नावें चलाना सीखते हैं और उनके डूबने का भी कोई खतरा नहीं रहता।

राज-प्रासाद के भीतर : राज-प्रासाद के बाहरी भाग तथा उसके अहाते का वर्णन यूनानी लेखकों ने उपर्युक्त शब्दों में किया है परन्तु राज-प्रासाद के भीतरी भाग की विस्तृत जानकारी हमें कौटिल्य से प्राप्त होती है [I २० २१]। राज प्रासाद की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर प्राचीर और एक खाई होती थी (सप्राकार-परिखा)। राज-प्रासाद के पिछले भाग में स्त्रियों के निवास-कक्ष होते थे जिनके साथ प्रसवकाल में उपयोगी औषधियों के भंडार भी होते थे। इन कक्षों के बाहर राजकुमारों तथा राजकुमारियों के निवासस्थल होते थे। इनके सामने शृंगार गृह (अलंकारभूमि) परामर्श-भवन (मंत्रभूमि) राजदरबार (उपस्थान) और युवराज (कुमार) तथा विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के प्रशासन कार्यालय (अध्यक्षस्थानं) होते थे। इन कक्षों के बीच में एक खाली स्थान होता था उसमें रनवास की रक्षा करने वाले सैनिक (अंतर्वंशिकसैन्यं) तैनात रहते थे। रनवास की एक विशेष गार्ड (आभ्यागारिक) जिसमें ८० पुरुष तथा ५० स्त्रियाँ (या ८० वर्ष के वृद्ध पुरुष तथा ५० वर्ष की वृद्ध स्त्रियाँ) होती थीं रनवास में नैतिक आचरण के पालन पर दृष्टि रखती थी (उपर्युक्त)।

राजा के रहने के कमरे अलग होते थे। प्रातःकाल जब राजा सोकर उठता था तो धनुर्धारी स्त्रियाँ (स्त्रीगणैर्धन्विभिः) जो उसकी सुरक्षा के लिए नियुक्त होती थीं उसका स्वागत करती थीं। दूसरे कक्ष में वस्त्र तथा पगड़ी पहनाने वाले उसके निजी सेवक अन्य बड़े सेवक तथा नपुंसक सेवक उसका स्वागत करते थे। तीसरे कक्ष में बौना कुबड़ा किराता अथवा विशेष वर्षधर(?) रक्षकों की एक टुकड़ी की जमघट खड़ी होती थी। राजा के निवास-कक्ष के सबसे बाहरी भाग की निगरानी जिसमें से राज प्रासाद के बाहरी भाग में जाने का रास्ता होता था एक भरोसेमंद कर्मचारी (प्रामनाविचिक) द्वारपाल (दौवारिकैः) राजा के मंत्रियों तथा रिश्तेदारों के जिम्मे रहती थी।

नौकर-चाकर इस प्रकार राजा के नौकर-चाकरों में ये लोग होते थे (१) कञ्चुक (२) उष्णीषि ( ) वर्षधर (४) प्रसाधक (५) स्नापक

(६) संवाहक, (७) आस्तरक (८) रजक (९) मालाकार और, (१०) आहुतसिक। संवाहकों के सम्बन्ध में स्वामी ने कहा है कि राजा का "अपने शरीर को स्फूर्तिमय रखने का सबसे प्रिय तरीका विभिन्न प्रकार से शरीर की मालिश कराना था जिसमें शरीर पर कुन्दर की लकड़ी के बिलने बेलन फिरवाना उसे विशेष रूप से पसन्द था।

इनके अतिरिक्त और कुछ नौकर चाकरों का भी उल्लेख किया गया है। [I १२] जैसे सूद और आरालिक विभिन्न प्रकार के व्यंजन तथा पेय पदार्थ बनाने वाले रसोइये पानी देने के लिए उदक-परिचारक इनके अतिरिक्त भी राजा के अन्य कई निजी सेवक भी होते थे जैसे (१) कुब्ज (कुबड़े) (२) वामन (बौने) (३) किरात (नाटे कद के अस्पष्ट) (४) मूक (गूँगे) (५) बधिर (बहरे) (६) जड़ (मूर्ख) (७) अंध (अंधे)। इस प्रकार शारीरिक विकारों का भी राजा की सेवा के लिए लाभ उठाया जाता था।

राजा की निजी आवश्यकता की चीजों जैसे छत्र कलश (भृंगार) चँवर (व्यंजन) जूते (पादुका) आसन गाड़ी (यान) और घोड़े (वाहन) की देख भाल करने के लिए भी अनेक नौकर चाकर होते थे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है इनमें से कुछ स्त्रियाँ भी होती थीं।

अन्त में राजा का मनोरंजन करने के लिए भी कुछ विशेष लोग होते थे जिनकी सूची कौटिल्य ने यह बताई है नट-नर्तक-गायक-वादक-वाग्जीवन-कुशीलव [L१२]।

कौटिल्य ने बताया है [L२१] कि राजा के निजी सेवक (आसन्न कर्मचारी) अपने ही देश के लोग हो सकते हैं उनमें कोई विदेशी नहीं हो सकता इन सेवाओं के लिए ऐसे ही व्यक्तियों को रखा जाना चाहिए, जो ऐसे विश्वस्त परिवारों के हों जो कई पुश्तों से राज-परिवार की सेवा करते आए हों और जिनकी स्वामिभक्ति तथा कार्य-कुशलता में किसी प्रकार का संदेह न हो। वे ऐसे लोग होने चाहिएँ, जिनमें किसी भी प्रकार का भय न हो और जो किसी भी दबाव में आकर विश्वासघात न कर सकते हों [I १०]।

राजा की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था राज प्रासाद राजा की सुरक्षा के समुचित प्रबन्ध को दृष्टि में रखकर बनाया गया था। उसमें अनेक भूल-भुलैयाँ गुप्त रास्ते तथा सुरंगें खोखले स्तम्भ चोर-जीने झटका दबाने से सरक जाने वाले फर्श होते थे। उसमें आग विषैले जीव-जंतुओं तथा जहर देने आदि से राजा को सुरक्षित रखने की भी विविध व्यवस्थाएँ रहती थीं। उसमें तोते इसलिए रखे जाते थे कि वे साँप को देखते ही तुरंत चीखकर संकट की सूचना देते थे।

अन्य कई प्रकार के पक्षी भी रखे जाते थे जिन पर विष के देखने मात्र से विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती थीं [I २०]।

विष से रक्षा के उपाय : पाकशाला एक गुप्त स्थान में बनाई जाती है और उस पर कड़ा पहरा रहता है। राजा को भोजन देने से पहले कई काग उसे चख लेते हैं। यदि भोजन में कोई विष पाया जाता है या चखने वालों के व्यवहार से यदि विष का किसी भी प्रकार का सन्देह होता है तो उसकी छानबीन की जाती है। इसी प्रकार राजा को जो औषधियाँ दी जाती हैं उनकी भी परीक्षा की जाती है। जो नौकर राजा को वस्त्र पहनाते हैं तथा उसका शृंगार करते हैं उन्हें नहाकर तथा धुले हुए कपड़े पहनकर आना पड़ता है फिर उनको एक विशेष अधरक्षक शृंगार के मुहरबन्द प्रसाधन देता है इसके बाद ही राजा के शरीर पर इन प्रसाधनों का प्रयोग किया जा सकता है। राजा की दासियाँ उसके वस्त्र-आभूषणों का पहले निरीक्षण कर लेती हैं। लेप आदि पहले उन लोगों पर लगाकर आजमा लिए जाते हैं जो इन चीजों को राजा के लगाते हैं। जो लोग राजा के सम्मुख कोई तमाशा या करतब दिखाते हैं वे किसी ऐसी वस्तु का प्रयोग नहीं कर सकते जिससे आग लगने या विष आदि का कोई खतरा हो और वे किसी हथियार का प्रयोग नहीं कर सकते। गवैयों को राजा के सम्मुख आते समय उन्हीं बाजों का प्रयोग करना पड़ता था जो राज प्रासाद में रखे जाते थे और इस प्रकार विष से सर्वथा मुक्त रहते थे। इसी प्रकार राजा की सवारी के घोड़ों रथों तथा हाथियों की साज-सज्जा भी राज प्रासाद से ही दी जाती थी। राजा के समीप चिकित्सकों तथा विष-विज्ञान के विशेषज्ञों (जांगलीविद) का हर समय उपस्थित रहना आवश्यक था। [I २१]।

राजकुमारों के प्रति व्यवहार : राजा की वैयक्तिक सुरक्षा के प्रसंग में जिस विषय की ओर अर्थशास्त्र में विशेष रूप से ध्यान दिया गया है राजा के वयस्क पुत्रों की समस्या पर भी विचार किया गया है जिसे एफ० डब्ल्यू० टामस ने अत्यन्त उचित शब्दों में "अनेक विवाह करने वाले राजाओं की समस्या" कहा है। उसमें स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार किया गया है कि "राजपुत्र केकड़ों की भाँति अपने ही माता-पिता को खा जाते हैं" (कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः) [I १७]। प्रश्न यह है कि उन्हें राजा के पास ही रहना चाहिए या उनसे दूर रहना चाहिए? यदि उन्हें दूर रखा जाए तो क्या उन्हें नजरबन्द रखा जाए (एकस्थानावरोधः) या किसी सीमान्त दुर्ग में रखा जाए (अन्तपालदुर्गे) या किसी दूसरे राजा के दुर्ग में (सामन्तदुर्गे)? परन्तु यदि राजपुत्रों को किसी दूसरे राजा के दुर्ग में रखा गया तो वह विरोधी राजा

उस राजा के विरुद्ध परिस्थिति का लाभ उठाएगा और जिस प्रकार बछड़े की सहायता से गाय को दुह लिया जाता है, उसी प्रकार वह विरोधी राजा इस राजा को दुह लेगा (वत्सेनेव हि धेनुं पितरमस्य सामन्तो दुह्यात्) । अंतिम उपाय यह है कि इन राजपुत्रों को सबसे अलग किसी गाँव में उनके ननिहाल वालों के पास रख दिया जाए । कुछ भी हो उन पर कड़ी नजर रखी जानी चाहिए और यदि आवश्यक हो तो उन पर गुप्तचर लगा दिये जाएँ, जो उनकी गतिविधियों की सूचनाएँ देते रहें । यदि राजा के कई पुत्र हों तो उनमें से कुछ को सीमांत प्रदेश में या ऐसे दूसरे राज्यों में भेज दिया जाना चाहिए (प्रत्यन्तमन्यविषयं वा प्रेषयेत्) जहाँ राज्य का कोई उत्तराधिकारी न हो और न आगे चलकर होने की कोई आशा हो (ताकि उन्हें वह राजा गोद ले ले और वे राज्य के उत्तराधिकारी बन सकें) । जो पुत्र सबसे योग्य हो उसे प्रधान सेनापति या युवराज बनाया जाना चाहिए ।

उत्तराधिकार : नियम तो यही था कि सबसे बड़े पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाए (ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागी) । परन्तु कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि यदि राजा के केवल एक ही पुत्र हो और वह शिक्षा विनय तथा चरित्र से सवर्था वंचित हो तो उसे भी राज्य का उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहिए (न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत्) । यह भी कहा गया है कि यदि राजा अपने अनेक पुत्रों में से किसी दुष्ट पुत्र को निर्वासित कर दे तो यह अनुचित न होगा । यह भी कहा गया है कि सामान्यतः पिता अपने पुत्रों का शुभचिन्तक होता है । अनेक पुत्रों में से राज्य का उत्तराधिकारी किसे बनाया जाए, इस समस्या को हल करने के लिए कौटिल्य ने एक युक्ति यह सोची थी कि सार्वभौम सत्ता संयुक्त परिवार के हाथों में हो क्योंकि इस प्रकार की सामूहिक सार्वभौम सत्ता की शक्ति अजेय होगी और उन दोषों से मुक्त होगी जो एक ही शासक की दुराइयों से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार की सत्ता स्थायी भी होगी (कुलस्य वा भवेद् राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः । अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्) ।

कुछ विद्वानों का मत है कि नंदवंश की सार्वभौम सत्ता उनके संयुक्त-परिवार के हाथों में थी । कालकाचार्य-कथा (एन   ला द्वारा सम्पादित [V ७] क अनुसार महापद्म के बाद उसके बेटे राज्य के उत्तराधिकारी बने । व सब मिलकर शासन करते थे और उनमें से प्रति वर्ष बारी-बारी स एक को राजा चुन लिया जाता था पर सार्वभौम सत्ता उन सबके सम्मिलित हाथों में रहती थी ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य जिसने प्रचलित कथाओं के अनुसार अपनी पसंद के एक व्यक्ति को बलपूर्वक मगध के राजसिंहासन पर

दिखाया था। राजत्व के पद के लिए पैतृक अधिकार की अपेक्षा उत्तराधिकारी के गुणों को अधिक महत्त्व देता था। परन्तु वह स्वयं बलात् सत्ताहरण करने वाले हुए व्यक्ति का समर्थक नहीं था [VIII २]। कुछ लोगों का विश्वास होता है कि नया राजा इसलिए अधिक लोकप्रिय होता है कि वह 'अनुग्रह, परिहार, दान तथा मान द्वारा लोगों को प्रसन्न रखने के लिए सदैव तत्पर रहता है (नवस्तु राजा स्वधर्मानुग्रह-परिहार-दान-मान-कर्मभिः प्रकृतिरञ्जनोपकारैश्चरति इति) परन्तु कौटिल्य के विचार में यह बात सच नहीं है क्योंकि अस्तु नये राजा का शासन बल का शासन होगा क्योंकि उसके मन में हमेशा यही विचार रहेगा कि उसने देश पर स्वयं अपने भुजबल से विजय प्राप्त की है (बलावर्जितं ममेदं राज्यं इति)। यदि राजा अपना कोई योग्य उत्तराधिकारी छोड़े बिना ही मर जाए, तो उस अयोग्य उत्तराधिकारी को ही सिंहासन पर बिठाकर, उसे प्रजा के सामने अन्य नरेशों तथा सामन्तों (मुख्य राज्यमुख्य) के सहयोग से राजा घोषित कर देना चाहिए। "या महामंत्री को धीरे-धीरे शासन का सारा भार युवराज को सौंपकर तब प्रजा के सम्मुख राजा की मृत्यु की घोषणा करनी चाहिए। साधारणतया "राजा के उस पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाना चाहिए जिसमें आत्म-संयम हो। यदि कोई ऐसा योग्य पुत्र न हो तो महामंत्री को अयोग्य राजकुमार (कुमार) अथवा राजकुमारी या गर्भवती रानी (देवी) को ही सिंहासन पर बिठाकर मंत्रियों तथा अन्य-मान्य राजकर्मचारियों (महामात्रान् सन्निपात्य) की एक सभा बुलाकर उनसे कहना चाहिए 'राज्य अब तुम्हारे हाथों में एक धरोहर (निक्षेप) है। इसके पिता को स्मरण करो और स्वयं अपनी शक्ति तथा अपनी कुल-उत्पत्ति को ध्यान में रखो। राजा का यह उत्तराधिकारी सत्ता का केवल प्रतीक-मात्र (ध्वजमात्रमो-ऽयम्) है। वास्तविक सत्ता तुम्हारे हाथों में है।' यह कहकर उसे राजकुमार, या राजकुमारी अथवा गर्भवती रानी का राज्याभिषेक कर देना चाहिए (तथेति ब्रुवतः कुमारं राजकन्यां गर्भिणीं देवीं वा अभिषिञ्चेत् मन्त्रिविषिञ्चेत्)। इसके बाद उसे राजकुमार को राजत्व के पद के योग्य बनने की शिक्षा देनी चाहिए (विनयकर्मणि च कुमारस्य प्रयतेत)। यदि राजकुमारी सिंहासन पर बैठी है तो अन्त में चलकर उसका पुत्र जिसका पिता उसी जाति (समान जाति) का होना चाहिए, राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। मंत्री (अमात्य) को राजा के लिए वाहन एवं घोड़े हाथी (यान-वाहन) आभूषण (आभरण) वस्त्र रत्नादि निवासस्थान तथा उसकी साज-सज्जा (वस्त्र-विभूषण-परिच्छदम्) आदि का यथोचित प्रबन्ध करना चाहिए" [V ६]। इस प्रकार कौटिल्य ने आवश्यकता पड़ने पर अधिराज-शासन का विचार प्रस्तुत किया था ताकि कोई ऐसी शक्ति

न होने पाए जिसमें परम्परागत राजवंश को हटाकर कोई नया राजा सिंहासन पर अधिकार कर ले।

राजधानी पाटलिपुत्र मेगास्थनीज के वर्णन के अनुसार जो पाटलिपुत्र में रहा था यह नगर गंगा तथा सोन नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ था, जिसे कौटिल्य ने नदी-संगम कहा है [II ३]। नगर आयताकार क्षेत्र में बसा था जिसकी लम्बाई ८० स्टेड (=९¼=मील) और चौड़ाई १५ स्टेड (=१ मील १२०० गज) थी। नगर की सुरक्षा के लिए चारों ओर एक खाई (परिखा) थी जो ६ प्लेथा (=२०० गज) चौड़ी और ३० क्यूबिट (=लगभग ६० फुट) गहरी थी जिसका अर्थ है कि इस खाई में नावें चल सकती थीं। इसमें सोन नदी का पानी आता था। नगर का सारा गंदा पानी भी आकर इसी में गिरता था। नगर को और सुरक्षित बनाने के लिए उसके चारों ओर खाई के किनारे-किनारे लकड़ी की एक बहुत बड़ी दीवार थी। इस दीवार के बीच-बीच में दरारें थीं जिनमें से धनुर्धारी तीर चलाते थे। इसमें ६४ द्वार और ५७० बुर्जियाँ भी थीं (मेगास्थनीज अंश २५=स्ट्राबो XV-१ २)।

रीज डेविड्स ने (बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६२) हिसाब लगाया है कि "इतनी बुर्जियों का अर्थ यह है कि वे ७५-७५ गज की दूरी पर रही होंगी ताकि उनमें बैठे हुए धनुर्धारी दो बुर्जियों के बीच के पूरे क्षेत्र में कहीं भी तीर मार सकते थे। फाटकों की संख्या से हिसाब लगाया जाए, तो दो फाटकों के बीच ६६० गज की दूरी रही होगी जो बिल्कुल संभव और सुविधाजनक दूरी प्रतीत होती है। प्राचीर की लम्बाई सचमुच अविश्वसनीय प्रतीत होती है। परन्तु स्थानीय अभिलेखों से पता चलता है कि अब की तरह ही उस समय में भी भारतीय नगर बहुत विस्तार में फैले होते थे इसलिए मेगास्थनीज ने इस नगर के आकार के बारे में जिसमें वह रह चुका था जो अनुमान लगाया है उसे हम सही मान सकते हैं।

मेगास्थनीज के कथनानुसार पाटलिपुत्र नगर का निर्माण करने में मुख्यतः लकड़ी का प्रयोग किया गया था क्योंकि यह नदियों के तट पर बसा हुआ था और बाढ़ से उसकी सुरक्षा करना आवश्यक था [I ६]। यह बात उल्लेखनीय है कि उस स्थान पर, जहाँ पाटलिपुत्र बसा हुआ था जो खुदाई की गई है उसमें भू-तल से दस से पंद्रह फुट तक की गहराई पर लकड़ी की दीवार के अवशेष मिले हैं। ये अवश्य ही उसी मौर्यकालीन नगर की प्राचीन लकड़ी की दीवार के अवशेष होंगे।

नगर का निर्माण उसी ढंग से किया गया था जैसा कि कौटिल्य ने अपने विवरण में बताया है। कौटिल्य का मत था कि राजधानी का निर्माण देश की

रक्षा के लिए (जनपदारक्षस्थानम्) एक दुर्ग के रूप में किया जाना चाहिए। इस लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए राजधानी किसी पर्वत पर अथवा किसी नदी के किनारे बनानी चाहिए। या फिर उसे राज्य के मध्य में किसी ऐसे स्थान पर बसाया जाना चाहिए जहाँ वास्तुकला के विशेषज्ञ अर्थात् इंजीनियर उपयुक्त समझें (वास्तुक-प्रशस्ते वास्तुविद्याभिज्ञनिर्दिष्टे देशे) जैसे नदियों के संगम पर (नदी-संगमे) या किसी झील के किनारे (ह्रद) या किसी तालाब के किनारे (तटाक) ताकि निरंतर जल मिलने में कोई असुविधा न हो। उसके चारों ओर एक नहर (प्रदक्षिणोदकम) होनी चाहिए और उसमें जल तथा थल दोनों ही मार्गों से प्रवेश की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। और अधिक सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर एक-एक दण्ड (= ६फुट) की दूरी पर तीन परिखाएँ होनी चाहिएँ। इन तीनों परिखाओं की चौड़ाई क्रमशः १४ १२ तथा १० दण्ड (= ८४ ७२ तथा ६०फुट) होनी चाहिए और इनकी दीवारें पत्थर अथवा ईंट की बनायी जानी चाहिए। इनकी गहराई चौड़ाई की चौथाई अथवा आधी होनी चाहिए (जिससे इसमें नावें चलाई जा सकें)। इन परिखाओं में निरन्तर जल का प्रवाह रहना चाहिए और उन्हें जल के प्राकृतिक स्रोतों से जैसे नदियों से जोड़ दिया जाना चाहिए, जिससे इनके पानी की निकासी भी हो सकती है। इन परिखाओं में कमल के फूल और घड़ियाल आदि होने चाहिए (तोयान्तिकीः आगन्तुतोयपूर्णा वा सपरिवाहाः पद्मग्राहवतीः)।

सबसे अन्दरवाली परिखा से ४ दण्ड की दूरी पर मिट्टी का एक परकोटा (वप्र) बनाया जाना चाहिए, जिसकी ऊंचाई ६ दण्ड और चौड़ाई १२ दण्ड होनी चाहिए। परकोटा बनाते समय मिट्टी को हाथियों तथा बैलों के पैरों से रौंदवाकर मजबूत कर लिया जाना चाहिए और उसे और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए उस पर कांटेदार झाड़ियाँ तथा विषैली लताएँ लगवाई जानी चाहिएँ। परकोटे के चारों ओर नींव को रोकने के लिए पक्की ईंट के पुश्ते (प्राकार) बनवाए जाने चाहिएँ और चौकोर मीनारें (अट्टालक) होनी चाहिएँ। प्रत्येक दो अट्टालकों के बीच में मार्गद्वार (प्रतोली) होना चाहिए और अट्टालक तथा प्रतोली के बीच में एक ऐसा स्थान (इन्द्रकोश) होना चाहिए जिसमें तीन धनुर्धारी खड़े हो सकें (त्रिधानुष्काधिष्ठानम्)। प्राकार और परकोटे के बीच में चोर रास्ते (देवपथ तथा चार्या तथा प्रच्छन्न) होते थे। इनमें द्वार और फाटक (गोपुरम्) होते थे। परकोटे पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर बड़े-बड़े ताक (करण) बनवाए जाते थे जिनमें नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र रखे जा सकें जैसे पत्थर के फावड़े (कुद्दाल) कुल्हाड़ियाँ (कुठार) तीर (काण्ड) हाथियों के अंकुश (कल्पना) गदाएँ (मुसुण्ठि), कमीनें (मुद्गर) दण्ड चक्र, यंत्र लोहे की कीलों वाले हथियार

(शतघ्नि) इस्पात के हथियार (कार्मारिकाः) त्रिशूल भाले, विस्फोटक पदार्थ (अग्निसंयोगाः) आदि ।

नगर के १२ द्वार होने चाहिएँ, जिनसे देश के विभिन्न केंद्रों तथा वनों की ओर मार्ग बने होने चाहिएँ ।

राजा का निवास (राजनिवेश) उसके मध्य भाग (नवभाग) में सबसे सुरक्षित स्थान में बनाया जाना चाहिए (प्रवीरे वास्तुनि) ।

राज प्रासाद के निकट राजगुरु तथा पुरोहित के निवासकक्ष तथा यज्ञ भवन (इज्या) जल-भंडार (तोयस्थानम्) और मंत्रियों के रहने के घर होने चाहिएँ।

इन से मिली हुई पाकशाला सभा-भवन (पाकशाला हस्तिपुष्पागारम् सभागृहम्) और भंडार होगा ।

राज प्रासाद के बाहर (ततः परं राजभवनात् बहिः) सुगंध पुष्पमालाएँ, अन्न तथा पेय आदि के व्यापारियों मुख्य शिल्पकारों तथा क्षत्रियों के घर होंगे ।

इसके बाद खजाना लेखा-कार्यालय तथा सुनारों की दुकानें (कर्मनिषद्याः स्वर्णरजतशिल्पस्थानानि) होंगी ।

इसके बाद अन्य धातुओं के शिल्पकारों की दुकानें (कुप्यगृहं स्वर्ण-रजतेतरस्थानम्) और शस्त्रशाला होगी ।

इसके बाद नगरपालिका (नगर-व्यावहारिक) अनाज की मंडी के नियंत्रक (धान्य-व्यावहारिक) खनिज-क्षेत्रों के निरीक्षक तथा सेनापति के कार्यालय होंगे।

इसके बाद पका हुआ भोजन मांस मदिरा आदि के भोजनालय तथा जलपाहार-गृह, वेश्याओं तथा अभिनेताओं (तालावचारा नटाः) और वैश्यों के घर होंगे ।

उसके बाद गधों तथा ऊँटों के अस्तबल और रथशालाएँ, गाड़ीखाने तथा उनके निर्माण तथा मरम्मत का कारखाना होगा ।

इसके बाद विभिन्न शिल्पकारों काठ, रुई, सन तथा चमड़े की चीजें बनाने वालों तथा शूद्रों के घर होंगे । इसके बाद दवा की दुकानें (भैषज्य गृहम्) होंगी । फिर अन्न-भंडार, पशुशालाएँ तथा अश्वशालाएँ होंगी ।

इसके बाद राज-परिवार के कुल-देवताओं और साधारण नागरिकों के पूज्य देवताओं के मंदिर होंगे फिर सुनारों और जौहरियों की दुकानें और ब्राह्मणों के घर होंगे ।

नगर के भीतर ही विभिन्न शिल्पों की श्रेणियाँ तथा विदेशी व्यापारियों के संघ स्थित होंगे (प्रवहणिक निकायाः प्रवहणिकाः विदेशागता वणिजः तेषां समूहाः)। ।

नगर के भीतर ही दुर्गा (अपराजिता) विष्णु (अप्रतिहत) सुब्रह्मण्य (जयन्त) इन्द्र (वैजयन्त) शिव वैश्रवण अश्विनगण लक्ष्मी तथा मदिरा के मंदिर होंगे ।

कापालिक तथा चाण्डाल आदि धर्मद्रोही श्मशान-भूमि के परे रहेंगे।

राजधानी के भंडार में जीवनोपयोगी वस्तुएँ, आवश्यक खाद्य-सामग्री ओषधियाँ तथा प्रतिरक्षा के साधन कई वर्ष के लिए, (यदि नगर को शत्रु दीर्घकाल के लिए घेर ले तो उस समय के लिए) पर्याप्त मात्रा में होने चाहिएँ।

भारतीय साहित्य में पाटलिपुत्र : बौद्ध ग्रंथ : पाटलिपुत्र का उल्लेख भारतीय साहित्य में चन्द्रगुप्त से पहले और उसके बाद भी बहुत समय से होता आया है। पालि ग्रंथों में उसकी स्थापना मगध के प्रख्यात सम्राट् अजातशत्रु के शासनकाल में जिसने लगभग ५५१ से ५१९ ई० पू० तक शासन किया था बताई जाती है। उसी ने गंगा नदी के किनारे इस नगर को बसाने के लिए एक उपयुक्त स्थान ढूँढा था और सुनीथ तथा वस्सकार नामक अपने मुख्यमंत्रियों की निगरानी में उसका निर्माण करवाया था। उसकी स्थापना के समय महात्मा बुद्ध ने उस नगर में आकर उसे गौरवान्वित किया था और उसकी महानता के विषय में यह भविष्यवाणी की थी "जिन प्रख्यात स्थानों में व्यस्त लोग रहते तथा आते-जाते हैं उनमें यह पाटलिपुत्र का नगर, सर्वप्रमुख बन जाएगा यह हर प्रकार की वस्तुओं के आदान प्रदान का केन्द्र बन जाएगा" (महापरिनिब्बान सुत्तान्त पृष्ठ १८ सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट में अनूदित)। महावग्ग में भी [VI २८८] यही भविष्यवाणी की गई है "आनन्द मगध के मंत्री सुनीथ तथा वस्सकार वज्जियों को पीछे धकेलने के लिए (उपयुक्त स्थान पर) पाटलिग्राम में इस नगर का निर्माण कर रहे हैं। आनंद जहाँ तक आर्य लोग बसे हुए हैं जहाँ तक व्यापारी यात्रा करके जाते हैं उस पूरे विस्तार में यह पाटलिपुत्र का नगर प्रमुखतम नगर बन जाएगा।

पतञ्जलि : अपने महाभाष्य में [II १ २] पतञ्जलि ने (लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू०) पाटलिपुत्र को 'अनुशोणम् पाटलिपुत्रं' कहा है जिसका अर्थ है कि पतञ्जलि को पाटलिपुत्र के शोण नदी के तट पर स्थित होने की बात मालूम थी। जिन ऊँचे ऊँचे भवनों तथा बुर्जियों के लिए यह नगर इतना प्रसिद्ध था उनका पतञ्जलि पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपनी व्याकरण में उनका उदाहरण में प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने लिखा है [IV १ २] "पाटलिपुत्रका प्रासादाः पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः इति।"

मुद्राराक्षस : इसके बाद लिखे गए मुद्राराक्षस नामक नाटक में पाटलिपुत्र का अत्यन्त रोचक वर्णन मिलता है। उसमें इस बात का संकेत मिलता है कि पाटलिपुत्र गंगा और शोण नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ था। इस नाटक में यह वर्णन मिलता है कि नंद राजा के महल पर अधिकार करने के बाद जिसका नाम सुगांग प्रासाद था वह उस महल से गंगा की छटा देखता है, जिस

शरद ऋतु वर्षा ऋतु के बाद की एक उतरती हुई जल-धारा के रूप में बड़ी तीव्र गति से उसके स्वामी के पास अर्थात् समुद्र की ओर से आ रही है [III ९]। इससे पता चलता है कि नगर ठीक गंगा नदी के किनारे बसा हुआ था। साथ ही इसी नाटक में हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि मलयकेतु को पाटलिपुत्र पहुँचने के लिए शोण नदी को पार करना पड़ा था। वह कहता है 'मेरे सब हाथी नगर की ओर कूच करते समय शोण नदी का सारा जल पी जाएँगे' [IV १६]।

इस नाटक में यह भी कहा गया है कि नगर के चारों ओर एक परकोटा (प्राकार) भी था जिस पर नगर की सुरक्षा के लिए धनुर्धारी (प्राकारपरा:) तैनात किए जा सकते थे। नगर के वर्णन में यह भी कहा गया है कि उसमें अनेक फाटक थे जिन पर हर समय ऐसे शक्तिशाली हाथी खड़े रहते थे जो शत्रु के हाथियों की चढ़ाई को परास्त कर सकते थे [II १३]। उसी वर्णन में यह भी कहा गया है कि एक फाटक में यांत्रिक किवाड़ (यंत्र-तोरण) लगे थे जिन्हें लोहे का एक पेंच (लोह-कीलकम्) घुमाकर नीचे गिराया जा सकता था [II, १५]।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यूनानियों ने एरानोबोअस शब्द का प्रयोग किया है जिसका संस्कृत पर्याय हिरण्य-वाह है जो सोण नदी का दूसरा नाम था (बाण का हर्षचरित पृष्ठ १९, परब द्वारा सम्पादित)।

फ़ा-ह्यान : यह बात भी उल्लेखनीय है कि चीनी यात्री फ़ा-ह्यान ने जिसने ३९९ ई० से ४१४ ई० के बीच भारत की यात्रा की थी मौर्य राज प्रासाद को बहुत अच्छी हालत में पाया था और उसने उसका वर्णन इन शब्दों में किया है "नगर में सम्राट् (अशोक) का प्रासाद जिसमें अनेक भवन तथा कक्ष हैं, अभी तक विद्यमान है ऐसा प्रतीत होता है कि उसका निर्माण किसी अमानवीय योजना के अनुसार अलौकिक शक्तियों ने किया था उन्होंने ही उसके पत्थर तले-ऊपर जमाए थे दीवारें तथा फाटक बनाए थे उस बेल-बूटों से सजाया था।"

राज-आदेश : राजा प्रशासन का कार्य अपने आदेशों द्वारा करता था जिन्हें कौटिल्य ने शासन [II, १] कहा है। राजा एक योग्य लेखक नियुक्त करता था जो राजा की आज्ञा को सुनकर और उसे भली भाँति समझकर लिपिबद्ध करता था। राजा ये आज्ञाएँ अपने उप राजाओं (ईश्वरों) या अन्य पदाधिकारियों के नाम जारी करता था। इसलिए लेखक में उच्च योग्यताओं का होना आवश्यक था। उसमें अमात्यों अर्थात् मन्त्रियों-जैसी योग्यताएँ होनी चाहिएँ, उसे विभिन्न प्रथाओं का ज्ञान होना चाहिए, उसका लेख सुन्दर होना

चाहिए, विचारों को तुरंत उचित शब्दों में व्यक्त करने की क्षमता होनी चाहिए और उसे दूसरों की लिखाई पढ़ लेनी चाहिए ।

विचारों का अच्छे ढंग से व्यक्त करने (लेख-सम्पद्) के लिए ये गुण आवश्यक है विषय-वस्तु की सुचारु व्यवस्था (अर्थक्रम) तर्कानुकूलता (सम्बन्ध) अभिव्यक्ति की परिपूर्णता कर्णप्रिय शब्दों का प्रयोग (माधुर्य) भाषा की शालीनता (औदार्य) और स्पष्ट अभिव्यक्ति (स्पष्टत्व) ।

डॉ एफ डब्ल्यू टामस का मत है [कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया I ४८८] कि इन लेखकों का सम्बन्ध पत्र-व्यवहार मंत्री के विभाग से होता था जिसे 'प्रशास्ता' कहते थे और जिस पर राजा के शासन प्रकाशित करने का भार होता था ।

राजाज्ञायें सूचना (प्रज्ञापन) आज्ञा दान (परिदान) छूट (परिहार) अधिकार-दान (निसृष्टि) जानकारी (प्रवृत्तिका) उत्तर (प्रतिलेख) या सार्वजनिक उद्घोषणा (सर्वत्रग) किसी भी विषय के बारे में हो सकती थीं । "समस्त शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करने के बाद और शास्त्रोक्त आदेशों के व्यावहारिक परिपालन पर विचार कर लेने के बाद, कौटिल्य ने नरेन्द्र के ही हित में राजा द्वारा अध्यादेश जारी करने के सम्बन्ध में यह कार्य-पद्धति निर्धारित की है। (एक प्रचलित मत यह है कि नरेन्द्र चंद्रगुप्त का ही नाम था) ।

अध्याय ५

मन्त्री सेवा के नियम

राज्यसत्ता के अंग : हिंदू शासन-पद्धति के सिद्धान्त में राज्य के जो सात अंग माने गए हैं उन्हीं को आधार मानकर कौटिल्य ने शासन-व्यवस्था की योजना बनाई थी। ये सात अंग हैं (१) स्वामी अर्थात् सार्वभौम शासक (२) अमात्य अर्थात् मंत्री (३) जनपद अर्थात् राज्यक्षेत्र (४) दुर्ग (५) कोश अर्थात् वित्तीय बल (६) दण्ड अर्थात् सैनिक बल (जिसमें सेना के चार अंग—पैदल घुड़सवार, हाथी तथा रथ शामिल हैं) और '(७) मित्र अर्थात् मैत्री-संधियाँ।

राज्य-क्षेत्र : इन सब अंगों में कौटिल्य ने राज्य के क्षेत्रीय आधार के महत्त्व पर काफी जोर दिया है जिस पर उसकी प्रगति तथा उसका भविष्य निर्भर है। सबसे पहले तो कौटिल्य ने [IX, १] देश-भक्ति तथा देश-प्रेम की अपनी जन्मजात भावना को व्यक्त करते हुए कहा है "समस्त संसार में देश का यह उत्तरी भाग जो हिमालय से समुद्र तक फैला हुआ है (हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं) साम्राज्य का स्वाभाविक क्षेत्र है" (चक्रवर्तिक्षेत्रम्)। स्पष्टतः यहाँ पर कौटिल्य का संकेत उस साम्राज्य की ओर है, जिसे चन्द्रगुप्त ने पंजाब में यूनानी शासन का तख्ता उलटकर, मगध के नंद-साम्राज्य को अपदस्थ करके और पश्चिमी भारत में सुराष्ट्र पर अपना शासन स्थापित करके उत्तरी भारत में स्थापित किया था। यह देश आर्थिक साधनों तथा संभाव्यताओं की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है इसमें खेती के लायक (ग्राम्य) जंगली (आरण्य) पहाड़ी

(पार्वत) कुओं से सींची जानेवाली (औदक) सूखी (भौम) समतल (सम) ऊँची-नीची (विषम) हर प्रकार की भूमि की प्रचुरता है जिससे यहाँ पर हर प्रकार की फसलें उगाई जा सकती हैं वे भी जिनके लिए बहुत पानी की आवश्यकता है और वे भी जिनके लिए अधिक जल की आवश्यकता नहीं होती। भारत आज तक मुख्यतः एक कृषि-प्रधान देश बना हुआ है क्योंकि विविध प्रकार की जलवायु के आधार पर उसमें इस बात की क्षमता है कि वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हो जाए और इस प्रकार भारत 'समस्त संसार का सार-रूप' है। एक दूसरे प्रकरण में [VII, १] कौटिल्य ने कहा है कि देश वही अच्छा है जो योद्धाओं (आयुधीयप्राय) कृषकों तथा शिल्पकारों (श्रेणीप्रायी) का देश हो और पर्वतीय दुर्गों या नदियों या वन प्रदेशों द्वारा पर्याप्त रूप में सुरक्षित हो। सीमांत प्रदेश का निवासी होने के कारण कौटिल्य पर उसके अनेक पर्वतीय दुर्गों की बहुत गहरी छाप पड़ी थी। उसने एक फलते-फूलते देश के लिए इन चीजों को भी आवश्यक बताया है (१) दुर्ग (२) कृषि (सेतु) (३) पथ (४) युद्ध के लिए हथियारों के स्रोत के रूप में खानें (संग्रामोपकरणानाम् योनि) (५) दुर्ग आदि तथा रथ-निर्माण में काम आने वाली (दुर्गकर्मणां यानरथयोश्च) आवश्यक सामग्री जुटाने के लिए लकड़ी के जंगल (६) हाथियों के जंगल और (७) गाय घोड़ा गधा तथा ऊँट (सीमांत प्रदेश का द्योतक) आदि पशुओं के लिए चरागाह (व्रज) [VII १४]। देश में अन्य जो बहुमूल्य गुण होने चाहिएँ (जनपद सम्पत्) उनका उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है [VI, १] उसका हर भाग सुरक्षित होना चाहिए। उसमें न केवल देशवासियों ही बल्कि विदेशों से आनेवाले लोगों का भी भरण-पोषण करने (आत्मधारण पर धारणश्च) की क्षमता होनी चाहिए। उसमें प्रतिरक्षा के प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों ही प्रकार के साधन होने चाहिएँ जैसे पर्वत वन नदियाँ तथा दुर्ग (स्वारक्ष)। उसे आर्थिक रूप से आत्मावलम्ब (स्वाजीव) होना चाहिए। देश की जनता राज के प्रति इतनी वफादार होनी चाहिए कि वह विदेशी आक्रमण का विरोध करे (शत्रुद्वेषी)। उसके पड़ोसी कमजोर होने चाहिएँ (शक्य-सामन्तः दुर्बल-सामन्त)। उसके पास खेती के लायक बहुत-सी जमीन होनी चाहिए, जिसमें पत्थर कंकड़ न हों। जो बहुत पथरीली या मूली या ऊबड़-खाबड़ या जंगली न हो और न ही उसे जंगली जातियों (कण्टक-श्रेणी) से लूटमार का खतरा हो। देश को सुन्दर होना चाहिए, अर्थात् 'उसमें सार्वजनिक उपयोग तथा सुविधा की सभी चीजों जैसे फलों के छायादार वृक्ष जड़ी-बूटियों के उद्यान मंदिरों झील तालाब तथा विश्रामगृह' (जिनके लिए भारत की इतनी ख्याति थी) का प्राचुर्य हो। इसके अतिरिक्त उसमें बहुत-सी उपजाऊ भूमि (सीता)

सोने तथा हीरे-जवाहरात की खानें (खनिर्वज्रादिमणि-सुवर्णाद्याकरः) तर-कारियों के खेत तथा इमारती लकड़ी के जंगल हाथियों के लिए जंगल पशुओं के चरने के लिए मैदान (गव्य) बस्तियों के लिए जमीन (पौरुषेय) शिका-रियों के लिए संरक्षित वन (गुप्तगोचरो सुव्यवस्थाविरचितभूमि) और बहुत प्रचुर पशुधन (पशुमान) होना चाहिए। उसमें नदियों से इतने काफी जल की व्यवस्था रहनी चाहिए कि उसे वर्षा पर पूर्णतः निर्भर न रहना पड़े (देवमातृकः)। उसमें जल तथा थल द्वारा यातायात के मार्ग होने चाहिएं। उसे व्यापार की बहुमूल्य वस्तुओं तथा विभिन्न प्रकार के उत्पादनों (सारचित्र-बहु-पण्य) में समृद्ध होना चाहिए। उसकी जनता में काफ़ी बड़ी सेना के खर्च तथा कर का भार सहन करने की क्षमता होनी चाहिए (दण्डकर-सहः)। उसमें परिश्रमी कृषक (कर्मशील-कर्षक) तथा योग्य प्रशासक होने चाहिएं। उसमें बहुत बड़ी संख्या में निम्न जातियों के या आदिवासी जातियों के लोग होने चाहिएं, जो उसकी कला तथा शिल्प के विकास में सहायता दे सकें (अवरवर्ण-प्रायः भक्तजन-बहुल)। यह बात उल्लेखनीय है कि मनु भी देश में नित्य शुद्ध हाथों वाले शिल्पकारों के होने (नित्यं शुद्धः कारुकहस्तः) [मनु० V १२९] का स्वागत करते हैं। अंतिम बात यह कि देश की समृद्धि तथा उसका भविष्य देशवासियों के गुणों उनकी देश-भक्ति तथा उनके चरित्र (भक्त शुचिमनुष्य) पर निर्भर करता है। कौटिल्य ने भारत का जो यह चित्रण किया है उससे अच्छा चित्रण संभव नहीं है।

भारत-देश मेगास्थनीज की दृष्टि में : यह बात उल्लेखनीय है कि मेगा-स्थनीज के शब्दों में हमें भारत और उसकी प्राकृतिक तथा आर्थिक सम्पदा का ऐसा वर्णन मिलता है, जो कौटिल्य के वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। मेगा-स्थनीज ने लिखा है "भारत में अनेक बड़े-बड़े पर्वत हैं जिन पर हर प्रकार के फलों के असंख्य वृक्ष हैं। यहाँ अनेक अति विस्तृत उपजाऊ मैदान हैं, जिनमें अनेक नदियाँ बहती हैं। भूमि के अधिकांश भाग की सिंचाई होती है और उस पर वर्ष में दो फ़सलें उगती हैं। इसके साथ ही देश में कमजोर और बलवान छोटे और बड़े सभी प्रकार के जानवर, मैदानों में घूमने वाले पशु और आकाश में भ्रमण करने वाले पक्षी बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ हाथियों की संख्या बहुत अधिक है। भारतवासी कला-कौशल में बहुत निपुण हैं। वे स्वच्छ वायु में श्वास लेते हैं और श्रेष्ठ जल पीते हैं।

"एक ओर जहाँ भूमि के ऊपर वे सभी फल उगते हैं, जिनसे कृषि परिचित है तो दूसरी ओर भूगर्भ में नाना प्रकार की धातुओं के भंडार हैं। इनसे सोना चाँदी और काफ़ी बड़े परिमाण में ताँबा तथा लोहा निकलता है, जिनसे आभू

प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ तथा आभूषण और युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र तथा अन्य उपकरण बनाए जाते हैं।"

"खाद्यान्नों के अतिरिक्त सारे भारत में बाजरा बहुत होता है जिसके खेतों को असंख्य नदियों के जल से भली भाँति सींचा जाता है बहुत बड़ी मात्रा में विभिन्न प्रकार की दालें और चावल तथा अन्य खाद्योपयोगी फसलें उगाई जाती हैं। इसलिए यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि भारत में कभी अकाल नहीं पड़ा है और कभी पौष्टिक भोजन का अभाव नहीं रहा है।

"इसके अतिरिक्त अपने-आप उगने वाले फलों और दलदली भूमि पर उगने वाली विभिन्न प्रकार की रसदार जड़ों से भी यहाँ के निवासियों को बहुत-सी पौष्टिक खाद्य-सामग्री मिलती है। सच तो यह है कि देश के लगभग सभी मैदानों में हर जगह यथेष्ट आर्द्रता रहती है। चाहे वह नदियों के जल से प्राप्त की जाए या ग्रीष्म ऋतु में होने वाली वर्षा से जो प्रतिवर्ष आश्चर्यजनक हद तक नियमित समय पर होती है।"

कोश राज्य का दूसरा आधारभूत अंग उसके कोष की दृढ़ता (कोश-सम्पत्) है। इसका आधार कर की एक सुसंगत तथा न्याय्य (धर्माधिगतः) व्यवस्था सोने-चाँदी हीरे-जवाहरात तथा स्वर्ण-मुद्राओं (हिरण्य) का प्राचुर्य है, ताकि वह दुर्भिक्ष आदि दीर्घकालीन दैवी विपदाओं के काल में देश का भरण पोषण कर सके (दीर्घमप्यापदमनायतिं सहेतेति कोशसम्पत्) [VI १]।

सेना सेना के सम्बन्ध में कौटिल्य का मत यह है कि सेना में ऐसे ही लोगों को भरती करना अच्छा होगा जिनके पूर्वज (पितृपैतामहो) भी सेना में रहे हों। उन्हें अच्छा वेतन दिया जाए तथा हर प्रकार से संतुष्ट रखा जाए। उनमें ऐसे मुख्य लोग (भृतपुत्रदारः) भरती किये जाएँ, जिन्हें अनेक युद्धों का (बहुयुद्ध) अनुभव हो जो युद्ध की समस्त कलाओं में निपुण हों जिनका राजा से किसी प्रकार का मतभेद न हो और मुख्यतः वे क्षत्रिय हों [उपर्युक्त]।

कौटिल्य ने अंत में यह मार्मिक बात कही है "यदि किसी राजा के राज्य का विस्तार बहुत छोटा हो (अल्पदेशोऽपि) फिर भी यदि उसके पास सार्वभौम सत्ता के अन्य गुण मौजूद हैं, तो वह अजेय हो जाएगा और पूरे संसार पर विजय प्राप्त कर लेगा" [उपरोक्त]। कौटिल्य न अपने शिष्य चंद्रगुप्त के लिए जिन विजयों की कल्पना की थी उनके पीछे यही प्रेरणा क्रियाशील थी।

राजा के हाथ में सुरक्षित शक्तियाँ: यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि राज्य के विभिन्न अंगों में राजा दो अंगों पर, अर्थात् कोश तथा दण्ड (धन की शक्ति तथा सैन्यबल) पर अपना नियंत्रण रखता था ताकि यदि उसके मंत्री (अमात्य) भी द्रोही हो जाएँ, तो वह उन्हें दबा सके। मंत्रियों के द्रोह का एक

प्रश्न यह है कि राजा को कितने लोगों को अपना विश्वासपात्र बनाना चाहिए और कितने मंत्रियों या परामर्शदाताओं से उसे सलाह लेनी चाहिए ? भारद्वाज का मत था कि नीति गुप्त तभी रह सकती है जब केवल एक मंत्री हो। विशालाक्ष ने इसके जवाब में यह कहा है कि इससे मंत्रगुप्ति तो हो सकती है पर मंत्रसिद्धि नहीं हो सकती। नीति की सफलता उसकी गोपनीयता से अधिक महत्व रखती है। वह कहता है "इसलिए राजा को अनेक वृद्धिमानों से परामर्श करना चाहिए।" परन्तु पराशर के अनुयायियों के अनुसार यह केवल मंत्रज्ञान है मंत्ररक्षण नहीं अर्थात् इस प्रकार नीति को जाना तो जा सकता है पर उसकी गोपनीयता की रक्षा नहीं की जा सकती। उनका मत यह है कि राजा को किसी कल्पित उदाहरण के द्वारा अपने अमात्य से परामर्श करना चाहिए। पिशुन के मतानुसार ऐसा अमात्य समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करेगा बल्कि वह आधे मन से अपना परामर्श देगा। परामर्श वही उत्तरदायित्वपूर्ण होगा जो किसी ऐसी समस्या के बारे में दिया जाए, जिसका समाधान वस्तुतः करना हो। इस प्रकार जब परामर्श (मंत्रबुद्धि) भी मिलता है और उसकी गोपनीयता (गुप्ति) भी सुनिश्चित रहती है। कौटिल्य ने इस पद्धति को अनिश्चित (अनवस्था) ठहराकर उस पर आपत्ति की है। कौटिल्य का यह सुझाव है कि राजा के तीन या चार स्थायी परामर्शदाता नियुक्त किये जाने चाहिएँ। वह दो परामर्शदाताओं के पक्ष में नहीं था क्योंकि उसे यह भय था कि वे कहीं राजा के खिलाफ मिलकर एक न हो जाएँ। परन्तु राजा को इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि वहां आवश्यकतानुसार (देशकाल-कार्यवशेन) अलग-अलग समस्याओं पर उनमें से केवल एक या दो ही से परामर्श करे।

मंत्र या नीति के उद्देश्य मंत्र को पञ्चांग कहा गया है। शासन की नीति का सम्बन्ध निम्नलिखित पाँच बातों पर विचार करने के साथ है। पहली बात है देश की प्रतिरक्षा तथा उचित वैदेशिक सम्बन्धों को सुनिश्चित बनाने के उपाय तथा साधन (कर्मणामारम्भोपायः)। दूसरी है मानव-बल तथा भौतिक सम्पदा के सम्बन्ध में राज्य के साधन (पुरुषद्रव्य-सम्पत्)। तीसरी है कोई भी कदम उठाने के लिए उसका समय तथा स्थान निर्धारित करना (देश कालविभागः)। चौथा विषय है अकस्मात् कोई विपदा आ पड़ने पर पहले ही से उसका सामना करने का प्रबन्ध रखना (विनिपात-प्रतिकारः)। पाँचवीं बात है प्रशासनात्मक उपायों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करना (कार्यसिद्धि)।

मंत्रिपरिषद् मंत्रियों अथवा परामर्शदाताओं के इस छोटे-से निकाय के अतिरिक्त राजा की एक नियमित मंत्रि-परिषद् भी होनी चाहिए। मनु के अनुयायियों ने इनकी संख्या १२, बृहस्पति के अनुयायियों ने १६ और उशना के

अनुयायियों ने २ निर्धारित की है, परन्तु कौटिल्य के मत से मन्त्रियों की संख्या आवश्यकतानुसार ही होनी चाहिए। इससे स्पष्टतः यही पता चलता है कि कौटिल्य बहुत बड़ी मन्त्रिपरिषद् के पक्ष में था। उसने अपने मत के पक्ष में इन्द्र की १ ० ऋषियों की परिषद् का दृष्टान्त दिया है। यद्यपि इन्द्र की दो ही आँखें हैं पर उन्हें हजार आँखों वाला माना जाता है क्योंकि ये ऋषि उनकी आँखें हैं (तस्माद् इमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः) [I १५]। कौटिल्य ने राजा की मन्त्रिपरिषद् में की संख्या को राजत्व का गुण बताया है। उसके मतानुसार जो राजा अक्षुद्रपरिषत्क होता है अर्थात् जिसकी मन्त्रि-परिषद् बहुत छोटी नहीं है वह अपनी शक्ति के एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्रोत से वंचित रहता है [VI १]। यह बात उल्लेखनीय है कि चन्द्रगुप्त के समय से बहुत पहले पाणिनि ने जिनका जीवनकाल ५ ई. पू. से पहले ही समाप्त हो गया था परिषद् का उल्लेख राजत्व के अभिन्न अंग के रूप में किया है। पाणिनि ने लिखा है [VI, ४४४] कि परिषद् के सदस्य को 'पारिषद' और वह राजा जिसकी शक्ति अपनी परिषद् के कारण सुदृढ़ होती हो उसे 'परिषद्बल' कहा जाना चाहिए [V २ ११२]।

मंत्रिपरिषद् की कार्य-पद्धति : कौटिल्य ने यह भी बताया है कि परिषद् में राजा को किस कार्य-पद्धति के अनुसार काम करना चाहिए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है प्रशासन-सम्बन्धी कुछ ऐसे कार्य होते थे जिन्हें राजा को अपनी पूरी मन्त्रिपरिषद् के साथ बैठकर निबटाना पड़ता था। उदाहरण के लिए, जब तक मन्त्रिपरिषद् के सदस्य उपस्थित न हों तब तक राजा विदेशी राजाओं के राजदूतों से भेंट नहीं कर सकता था। साधारणतया उस प्रशासन-सम्बन्धी सारा कार्य अपने मन्त्रियों के साथ बैठकर ही करना होता था (आसन्नैस्सह कार्याणि पश्येत्)। यदि परिषद् का कोई सदस्य उपस्थित न होता था तो वह पत्र भेजकर उसका परामर्श पूछता था (अनासन्नैस्सह पत्रसम्प्रेषणेन मंत्रयेत्)। यदि कोई आवश्यक काम आ पड़ता था तो राजा अपने मन्त्रियों (मंत्रिणो) और अपनी मन्त्रिपरिषद् (मंत्रिपरिषदं) दोनों ही को अपने सम्मुख बुलाकर वह समस्या उन्हें समझाता था (ब्रूयात्)। साधारणतया वह मंत्रियों तथा मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की उस संयुक्त सभा में बहुमत की राय के अनुसार (तत्र यद्भूयिष्ठाः ब्रूयुस्तत् कुर्यात्) या जो समस्या की दृष्टि से उपयुक्त समझा जाता था (कार्यसिद्धिकरम्) उसके अनुसार कोई काम करता था।

अशोक की मंत्रिपरिषद् अशोक के लेखों में उसकी 'परिषद्' का उल्लेख मिलता है (शिलालेख ३ तथा ६)। अशोक ने कहा है कि जब कोई जरूरी समस्या (मात्यायिके या आत्यायिके—कौटिल्य का आत्यायिक) उठ खड़ी होती थी तो वह उसे अपने मन्त्रियों (महामात्र) की परिषद् (परिसा) के सम्मुख

प्रस्तुत करता था और वे इस पर (साथ बठाय) विचार-विमर्श या वाद-विवाद करते थे (दिव्यावदान निमति) ।

यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि दिव्यावदान (पृष्ठ ३७२, कावेल चार्ल्स संस्करण) के अनुसार (चन्द्रगुप्त के पुत्र) बिंदुसार के ५०० अमात्य थे ।

पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में 'चन्द्रगुप्त-सभा' का उल्लेख किया है (पाणिनि I १६८ पर भाष्य) ।

परिषद् का सचिव मंत्रिपरिषद् का अपना सचिव होता था जिस पर उसके कार्यक्रम की देखभाल का भार होता था । कौटिल्य ने उसे मंत्रिपरिषदाध्यक्ष कहा है (L १०) ।

यूनानी वृत्तांत अब हम राजा की मंत्रिपरिषद् के विषय पर यूनानी लेखकों की साक्षी पर विचार करेंगे ।

डियोडोरस : डियोडोरस ने मेगास्थनीज की रचनाओं का जो सार-संग्रह तैयार किया है उसमें उसने 'सार्वजनिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करनेवाले परिषदसदस्यों (कौंसिलरों) तथा निर्धारकों (असेसरों) का उल्लेख किया है । यह सबसे अल्पसंख्यक पर सबसे सम्मानित वर्ग है । इसके सदस्यों के चरित्र तथा उनकी बुद्धिमत्ता का स्तर बहुत ऊँचा है क्योंकि उन्हीं के बीच से राजा के परामर्शदाता राजकोषाध्यक्ष तथा झगड़ों का फैसला करनेवाले न्यायाधीश चुने जाते हैं । सेनापति और प्रधान दंडाधिकारी भी बहुधा इसी वर्ग के होते हैं ।

स्ट्रैबो : राजा के "परिषदसदस्यों तथा निर्धारकों" का उल्लेख करते हुए स्ट्रैबो ने लिखा है कि 'शासन-व्यवस्था न्यायालय तथा सार्वजनिक प्रशासन के सर्वोच्च पदों पर यही लोग आसीन हैं । (XV I ४९ १)

एरियन एरियन ने लिखा है "राज्य के कुछ परिषदसदस्य होते हैं जो जन-साधारण से सम्बन्धित समस्याओं को निबटाने में राजा या स्वशासित नगरों के दंडाधिकारियों को परामर्श देते हैं । सदस्यों की संख्या की दृष्टि से यह बहुत ही छोटा वर्ग है परन्तु अपनी श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता तथा न्यायप्रियता के कारण यह वर्ग विशेष रूप से प्रतिष्ठित है और इसीलिए इस वर्ग को यह श्रेय प्राप्त है कि राज्यपाल प्रांतों के प्रधान उप राज्यपाल राजकोष-निरीक्षक सेना तथा नौ-सेना के सेनापति कृषि का निरीक्षण करनेवाले नियामक तथा आयुक्त इसी वर्ग में से चुने जाते हैं" (इंडिका XI, १२) ।

गणतंत्रों की परिषदें : यह बात उल्लेखनीय है कि एरियन के अनुसार मंत्रिपरिषद् राजतांत्रिक तथा गणतांत्रिक दोनों ही प्रकार के संविधानों का अंग थी । हम पहले देख चुके हैं कि मौर्यकालीन भारत की राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लेने वाली गणतांत्रिक जातियों की संख्या कितनी अधिक थी ।

ये ही अमात्य थे। हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए, कि यूनानी वृत्तांतों में परिषत्सदस्यों तथा निर्धारकों का जो विवरण मिलता है वह कौटिल्य द्वारा दिये गए उन पदाधिकारियों के विवरण के ही अनुरूप है। जिन्हें उसने 'अमात्य' कहा है। इन्हीं अमात्यों में से कुछ विशेष परीक्षाओं तथा योग्यताओं के आधार पर मंत्रिगण तथा विभागाध्यक्ष चुने जाते थे। इस प्रकार अमात्यों के इस निकाय पर ही देश की राज-सेवा का अवलम्ब था जिसके लिए सर्वोच्च योग्यता रखनेवाले लोग ही चुने जाते थे।

मन्त्री अथवा प्रधान मन्त्री : कौटिल्य की प्रशासन-व्यवस्था की पूरी योजना का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं। सबसे पहले तो राजा सबसे अधिक अपने मन्त्री पर और अपने पुरोहित पर निर्भर रहता है। प्रशासन में उनका पद सबसे ऊँचा माना जाता था। उनके बाद राजा के मन्त्रियों अथवा परामर्शदाताओं का स्थान है जो (मन्त्रिण मंत्रिगण) कहलाते हैं इसी श्रेणी में मन्त्रियों का यह दूसरा वर्ग भी आता है जो मंत्रिपरिषद् के सदस्य होते हैं। ये सभी उन पदाधिकारियों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें अमात्य कहा जाता है।

मन्त्री का पद : चूँकि मंत्री को ४८,००० पण वेतन मिलता था जो सर्वोच्च वेतन था इससे पता चलता है कि मुख्य मन्त्री का पद ऊँचा होता था। जो मन्त्री मन्त्रिपरिषद् के सदस्य होते थे उन्हें केवल १२,००० पण वेतन मिलता था।

योग्यताएँ : मुख्य मन्त्री की योग्यताओं के सम्बन्ध में यह निर्धारित है कि उसे देश का निवासी (जानपद) होना चाहिए। उसे बहादुर (प्रगल्भ) निपुण वक्ता (वाग्मी) साधन संपन्न (प्रतिपत्तिमान्) बिल्कुल ईमानदार तथा स्वस्थ होना चाहिए।

अग्रामात्य : यह बात उल्लेखनीय है कि दिव्यावदान के अनुसार चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का प्रधान मंत्री जिसे अग्रामात्य कहते थे खल्लाटक था और अशोक का अग्रामात्य राधगुप्त था।

पुरोहित, प्रथम कोटि का मंत्री : पुरोहित के बारे में यह कहा गया है कि उसे वेदों तथा छः वेदांगों ज्योतिष (दैव) शकुन-विचार (निमित्त) और शासन कला (दण्डनीति) तथा अथर्ववेद के प्रयोगों का पंडित होना चाहिए। "राजा को उसका वैसे ही आज्ञाकारी रहना चाहिए, जैसे शिष्य अपने गुरु का पुत्र अपने पिता का और नौकर अपने मालिक का आज्ञाकारी होता है। इस प्रकार ब्राह्मणों के पालन-पोषण में रहकर एक योग्य मंत्री से मंत्रणा-सभा मिलाकर और शास्त्र के आदेशों द्वारा अनुशासित होकर राजा अजेय पर भी विजय प्राप्त कर लेता' (I) ।

राज-सेवा आयोग : प्रधान मंत्री और पुरोहित के पदों का बहुत ऊँचा गापि-

धार्मिक महत्व होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा स्वयं उन अमात्यों को नियुक्त करता था जो (क) प्रधान मंत्री तथा राज पुरोहित के रूप में या (ख) उन तीन या चार मंत्रियों के समूह के रूप में जो राजा के मंत्रियों अथवा परामर्शदाताओं के रूप में सदैव उसके पास उपस्थित (आसन्न) रहें या (ग) मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के रूप में उसके मंत्री रहें। इन तीन श्रेणियों के मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति का फैसला राजा अपने प्रधान मंत्री तथा राज पुरोहित के साथ मिलकर (मंत्रिपुरोहित सख) करता था (I १०)। इस प्रकार इन दो मंत्रियों और राजा की एक अंतरंग परिषद् होती थी जो उच्च प्रशासनाधिकारियों जैसे विभागाध्यक्षों को नियुक्त करने के लिए एक जन सेवा आयोग की तरह काम करती थी। इन पदाधिकारियों की नियुक्ति बौद्धिक तथा नैतिक दोनों ही प्रकार की योग्यताओं के आधार पर उन लोगों में से की जाती थी जिन्हें अमात्य के पद के लिए योग्य समझा जाता था (I, ८)। उन्हें धर्म (सदाचार) अर्थ (धन) काम (नैतिक आचरण) तथा भय के सम्बन्ध में प्रलोभन देकर उनकी परीक्षा भी जाती थी (I, १)।

यह बात उल्लेखनीय है कि मेगास्थनीज ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि राज्य के सभी उच्च पदाधिकारियों को प्रांतीय राज्यपालों तक को एक परिषद् ही नियुक्त करती थी।

नियुक्ति के लिए परीक्षाएं पहली परीक्षा में किसी पुरोहित का झूठमूठ पदच्युत करके अमात्यों के बीच भेज दिया जाता था और वह उन्हें इस आधार पर राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाता था कि वह अधार्मिक है। दूसरी परीक्षा में किसी सेनापति को पैसा का दान का आरोप लगाकर झूठमूठ निकाल दिया जाता था कि वह जाकर अमात्यों को राजा की हत्या करने का षड्यंत्र करने के लिए रुपये-पैसे का प्रलोभन दे। तीसरी परीक्षा में एक सुन्दर स्त्री को साधुनी (परिव्राजिका) के भेष में महामात्यों को पथभ्रष्ट करने के लिए नियुक्त किया जाता था वह जाकर बारी-बारी से प्रत्येक से कहती थी कि रानी उससे प्रेम करती है। चौथी परीक्षा में मंत्रियों को राजा की हत्या के षड्यंत्र में सम्मिलित होने के लिए प्रलोभन दिया जाता था (उपर्युक्त)।

पदाधिकारी चुनने का सिद्धांत : न्यायाधीशों के पदाधिकारियों की नियुक्ति पदाधिकारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियम यह था कि जो अमात्य धर्म-परीक्षा में उत्तीर्ण हों उन्हें न्यायाधीश नियुक्त किया जाए—दीवानी के भी (धर्मस्थीय) और फौजदारी के भी (कण्टकशोधन) (उपर्युक्त)।

राजस्व तथा राज-भंडार जिन अमात्यों के विषय में यह निश्चित हो जाता था कि वे घूस नहीं लेते उन्हें राजस्व तथा राज-भण्डार से सम्बन्धित विभागों

का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था (समाहर्तृ-सन्निधातृनिचय-कर्मसु)[उप-युक्त]।

रनिवास जो सामान्य काम-वासनाओं के प्रलोभन से परे सिद्ध होते थे वे स्त्रियों से सम्बन्धित विभागों का भार संभालने के लिए सबसे योग्य समझे जाते थे। राजधानी और सुदूर-स्थित स्थानों में भी राजा के रनिवासों की देखभाल का काम उनके सुपुर्द किया जाता था (बाह्याभ्यन्तर-विहाररक्षासु) [उपर्युक्त]। राजधानी के बाहर राजा के जो रनिवास होते थे उनमें राजा की रखैलें (भोगिन्य) और राजप्रासाद के रनिवास में रानियाँ रहती थीं जिन्हें 'देवी' कहा जाता था (टीकाकार)।

अशोक के रनिवास इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि अशोक ने अपने एक लेख में (शिलालेख ५) अपने और अपने भाइयों के रनवासों (ओरोधन) का और अपनी बहनों के निवास-कक्षों का उल्लेख किया है जो पाटलिपुत्र में भी थे (हिद पाटलिपुते च) और बाहर के नगरों में भी (बाहिरेसु च नगरेसु)। अशोक ने अपनी दूसरी रानी (दुतियाये देवीये) का भी उल्लेख किया है जिसका नाम कारुवाकी था और जो राजकुमार तीवर की माँ थी। अशोक ने कौशाम्बी के बाहिर नगर में उसके निवास-स्थान का भी उल्लेख किया है। अपने आठवें स्तंभ लेख में अशोक ने एक जगह फिर अपनी रानियों का और पाटलिपुत्र में तथा बाहर में (दिसासु) अपने रनिवासों का उल्लेख किया है और उसने अपने पुत्रों का भी उल्लेख किया है इसमें उसकी रानियों के पुत्र (देवीकुमार) और दूसरी पत्नियों के पुत्र (दारक) का उल्लेख भी। कौटिल्य के आदेशों का पालन करते हुए अशोक ने भी इन रनिवासों की देखभाल के लिए 'धर्ममहामात्र' नामक विशेष पदाधिकारी नियुक्त किए थे। बरबस यह विचार मन में उठता है कि इन पदाधिकारियों की उपाधि 'धर्ममहामात्र' ही इस बात की द्योतक है की इनकी परीक्षा कौटिल्य की धर्म-उपधा अथवा काम-उपधा द्वारा ली गई होगी (धर्म-परीक्षा में काम का भी समावेश मानकर)। अपने १२वें शिलालेख में भी अशोक ने ऐसे विशेष पदाधिकारियों की नियुक्ति की चर्चा की है जो स्त्रियों के हितों का ध्यान रखेंगे और उसने उन्हें स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र की उपाधि से विभूषित किया है। अशोक के अनेक रनिवासों का उल्लेख करनेवाले इन शिलालेखों के अतिरिक्त हमें महावंश से यह पता चलता है कि जिस समय अशोक उज्जैन में उप-राजा के पद पर नियुक्त था उस समय उसने वेदिसा-महादेवि-शाक्यकुमारि नामक एक महिला से विवाह किया था। जब अशोक राजा बनकर पाटलिपुत्र गया जहाँ वह अपनी पटरानी (अग्रमहिषी) असन्धिमित्रा के साथ रहता था तो वह उसके साथ नहीं गई थी बल्कि वह वेदिसा में ही रही इस प्रकार

कलिंग एक और सुदूर स्थान था जहाँ अशोक का रनिवास था (V ८५ तथा
\X)।

राजा के अंगरक्षकों की नियुक्ति अन्त में वे पदाधिकारी थे जिन्हें भय द्वारा भी नहीं परखा गया था और जिन्हें किसी भी उपाय से राजा के प्रति स्वामिभक्ति के पथ से विचलित नहीं किया जा सकता था। वे परम स्वामिभक्त लोग अपने प्राणों की परवाह न करनेवाले और हर समय सुख में कष्ट भोगने रहनेवाले लोग राजा के अंगरक्षक चुने जाते थे (आत्मन-कार्येषु)।

सुदूर स्थित चौकियाँ जो पदाधिकारी उपर्युक्त परीक्षाओं म से किसी में उत्तीर्ण नहीं हो पाते थे वे कहीं दूर लाना लकड़ी क अथवा हाथियों क जगलों या कारखाना (कर्मान्त) क निरीक्षक नियुक्त किए जाते थे।

मंत्री जो अमात्य उपर्युक्त चारों परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते थे वे उपर्युक्त तीन श्रेणियों में से किसी भी श्रेणी के मंत्री के सम्मानित पद पर नियुक्त किए जाने के योग्य समझे जाते थे।

साधारण कर्मचारी यह भी निश्चित कर दिया गया था कि जो लोग अमात्य बनने की योग्यता रखते होंगे पर जिनकी परीक्षा नहीं ली गई होगी और जिन्हें परखा नहीं गया होगा वे सामान्य विभागों (सामान्य-अधिकरण) म नियुक्त किए जायेंगे।

राजदूत सचिव तथा विभागाध्यक्ष अमात्य राजदूत (निसृष्टार्थ) के पद पर भी नियुक्त किए जा सकते थे। जिस अमात्य में राजदूत बनने की पूरी योग्यताएँ नहीं होती थी उस विशेष शिष्टमंडल में (परिमितार्थ) या राजाओं के वाहक क रूप में (शासनहर) नियुक्त किया जाता था [I १६]। अमात्यों को लेखक अर्थात् राजा के पत्र-व्यवहार सचिव के पद पर [II १०] और विभागाध्यक्ष के पद पर [II, ९] भी नियुक्त किया जाता था।

गुप्तचर्या विभाग : कौटिल्य ने यह भी लिखा है [I ११] कि राजा अपने मंत्रियों के सहयोग से प्रशासन के गुप्तचर्या विभाग के पदाधिकारियों की नियुक्ति करेगा। इस विभाग में जिसका काम बहुत कठिन माना जाता था नियुक्ति के लिए कर्मचारियों को चुनने का काम अमात्यवर्ग के ऐसे लोगों को ही सौंपा जाता था जो अपनी योग्यताएँ सिद्ध कर चुके हों (उपधाशिशुद्ध)। इसका मत तो यह है कि उन्हें चुनने का काम मंत्रियों क एक वर्ग के सुपुर्द था जिसमें प्रधान मंत्री पुरोहित और राजा के परामर्शदाता उपर्युक्त मंत्रिगण होते थे। क्योंकि कौटिल्य ने यह निश्चित कर दिया था [I ९] कि जो अमात्य सभी संभव परीक्षाओं में खरे उतरेंगे उन्हें मंत्री नियुक्त किया जाएगा (सर्वोपधाशुद्धान मंत्रिणः कुर्यात्)।

राजा की असाधारण शक्तियाँ : यह बात ध्यान देने योग्य है कि मंत्रियों गुप्तचरों तथा विभागाध्यक्षों जैसे उच्च पदाधिकारियों का नियन्त्रण करने का अधिकार अपने हाथ में रखने के अतिरिक्त राजा को भीतरी (अभ्यंतर) अथवा बाहरी (बाह्य) संकटों (कोप) से उत्पन्न होनेवाली आपातिक परिस्थितियों का सामना करने के लिए भी अपने हाथ में कुछ असाधारण शक्तियाँ रखनी पड़ती थी। आन्तरिक उत्पात राज्य के लिए अधिक गम्भीर होता है और उसे सख्ती से कुचल देना आवश्यक होता है। यह कहा गया है कि इस प्रकार का उत्पात राजा के निम्नलिखित सर्वोच्च पदाधिकारियों के विश्वासघात अथवा द्रोह के कारण उत्पन्न होता है (१) मंत्री (प्रधान मंत्री) (२) पुरोहित (३) सेनापति, (४) युवराज। यदि दोष राजा का हो तो स्वीकार करके उस दोष त्याग देना चाहिए (आत्मदोष-त्यागेन)। यदि दोष उनका न हो तो उसके सामने केवल यही चारा रह जाता है कि वह या तो उन्हें वश में करके (संरोधन) या उन्हें देशनिकाला (अवस्रावण) दे दे। यदि युवराज राजद्रोह करे, तो उसे अविलम्ब दंड (निग्रह) दिया जाना चाहिए। अन्य पदाधिकारियों (अमात्यों) को राजद्रोह के लिए उचित दंड दिया जाना चाहिए (यथापराधानुपायान प्रयुञ्जीत)।

बाहरी उत्पात के कारणों की उत्पत्ति का कारण निम्नलिखित पदाधिकारियों के विद्रोह को बताया गया है (१) राष्ट्रमुख्य ( ) अन्तपाल (३) आटविक (४) पराधीन राजा (दण्डोपनत)। इस खतरे को दूर करने का उपाय यह बताया गया है कि एक को दूसरे से भिड़ा दो (तम् योगेनावग्राहयेत) [IX 1]।

प्रशासन तथा सेवा के नियम : कौटिल्य ने वे नियम भी इंगित कर दिए हैं जिनके अनुसार विभागाध्यक्षों को अपने विभागों का प्रशासन चलाना चाहिए [II]। प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष का बुनियादी कर्तव्य इस बात को देखना है कि वह अपने विभाग के आय-व्यय को इस प्रकार समन्वित करे कि आय का जो अनुमान लगाया जाए वह वसूल हो जाए। कौटिल्य ने विभागों के अध्यक्षों का 'अध्यक्ष' की संज्ञा भी दी है और उनके लिए 'उपयुक्त' अथवा उच्च पदाधिकारियों की व्यापक संज्ञा का प्रयोग भी किया है (युक्तानां उपरि नियुक्ताः)। विभागाध्यक्ष की नियुक्ति उस पद के लिए उसकी उपयुक्तता के आधार पर (प्रतिगुणत:) की जानी चाहिए। उन आदेशों के अनुसार (यथा संदेशम्) काम करना चाहिए और 'आग लग जाने या बाढ़ आ जाने' जैसी आपातिक परिस्थितियों को छोड़कर उसे पहले से अनुमति लिए बिना कोई ऐसी योजना नहीं आरंभ करनी चाहिए, जिसमें काफी धन व्यय होने वाला हो। यदि कोई अपना काम निर्देश के अनुसार पूरा करे या आदेशों से अच्छा काम करे तो उसे पदोन्नति तथा सम्मान द्वारा (स्थानमानौ) पुरस्कृत किया जाना चाहिए। अनुमान

से अधिक राजस्व नहीं वसूल किया जाना चाहिए । क्योंकि ऐसा करना 'देश को खा जाने' के समान होगा (जनपदं भक्षयति) । विभागाध्यक्ष का मुख्य काम यह है कि वह सामान्य रूप से भी और विस्तृत परीक्षण द्वारा भी आय तथा व्यय के हिसाब की जाँच करे ।

हम देखते हैं कि अधिकतर विभागाध्यक्षों को मुख्यतया क्षेत्रों में और देश के भीतरी भाग में काम करना पड़ता था । वहाँ विभागाध्यक्ष को उन लोगों पर कड़ी नज़र रखनी पड़ती थी जो अपनी पैतृक सम्पत्ति से अपव्यय करके दिवालियेपन की ओर बढ़ रहे हों (मूलहर) या जो फ़िजूलखर्च हों और कुछ न बचाते हों बल्कि एक हाथ से जो मिलता हो उसे दूसरे हाथ से उड़ा देते हों (तादात्विक) या जो घोर कंजूस (कदर्य) हों और खुद भूखे रहकर तथा अपने परिवार वालों को भूखा रखकर धन जोड़ते हों (भृत्यात्मपीडाभ्यामुपचिनो त्यर्थम्) । उसे कृपण तथा धनवान पूँजीपतियों की धन-द्रव्य की लेन-देन पर विशेष रूप से कड़ी नज़र रखनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि वे अपने घरों में ज़मीन में गाड़कर या खोखले खंभों में छिपाकर किस प्रकार धन जमा करते हैं (स्ववेश्मनि भूम्यवस्तंभमेटरात्रिषु) या किस प्रकार वे शहरों या गाँवों के लोगों के पास अपना धन जमा करते हैं (अवनिधत्ते पौरजानपदेषु) या किस प्रकार वे उसे चोरी से विदेशों को भेज देते हैं (अपस्रावयति परविषये) । इस प्रकार के लोग आगे चलकर देश के लिए ख़तरनाक सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि वे तरह-तरह के उपायों से कर देने से बचते हैं और राज्य की समृद्धि में यथा उचित योग नहीं देते ।

चूँकि विभागाध्यक्ष का काम मुख्यतः रुपये-पैसे का और इस बात का ध्यान रखना होता है कि उसके विभाग का काम धनाभाव के कारण ठप न हो जाए, इसलिए उसके काम में सहायता देने के लिए उसके साथ कई आवश्यक पदाधिकारी होने चाहिए । इन पदाधिकारियों के नाम ये हैं हिसाब-किताब रखनेवाला (संख्यायक) लिखने वाला (लेखक) मुद्रा को परखनेवाला (रूपदर्शक) कोषाध्यक्ष (नीवीग्राहक) और इन सबके ऊपर एक उच्च पदाधिकारी (उत्तराध्यक्ष = औपरिक) । इस उच्च अधिकारी के पद पर सदा निपुण सैनिक अधिकारियों को नियुक्त किया जाना चाहिए (युद्धमाताधिकार बुद्धागमत) ।

यह भी कहा गया है कि हर विभाग में कई उप-विभागाध्यक्ष (बहुमुख्य) होने चाहिए, परंतु उनकी नियुक्ति स्थायी रूप से नहीं बल्कि थोड़े समय के लिए (अनित्य) ही की जानी चाहिए । 'स्थायी नौकरी के कारण जो सुरक्षा प्राप्त हो जाती है उससे कर्मचारी के स्वतंत्र तथा दुष्ट हो जाने का ख़तरा पैदा

हो जाता है और देशवासियों (जानपदाः) को उसके दोषों की शिकायत करने का कोई उत्साह नहीं रह जाता ।

अधिकारियों को यह भी आदेश दिया गया है कि वे गबन के खिलाफ सतर्क रहें क्योंकि जिन राज-कर्मचारियों के हाथ में बहुत पैसा आता है उनकी ओर से इस बात का खतरा रहता है । गबन को पकड़ना उसी प्रकार कठिन होता है जैसे इस बात का पता लगाना कि पानी में तैरनेवाली मछली कब पानी पी लेती है । जो राज-कर्मचारी भ्रष्टाचार अथवा गबन के अपराधी हों उनके खिलाफ कार्रवाई की जानी चाहिए और सार्वजनिक कोष का जो धन उन्होंने गबन किया हो वह उनसे वापस करा लेना चाहिए (आस्रावयेच्चोपचितान्) । इसके अतिरिक्त उन्हें अपने पद से हटाकर नीचे पद पर नियुक्त करके दंड दिया जाना चाहिए (विपर्यस्येच्च कर्मसु "कर्मसु विपर्यस्यन्त व्यत्ययेन निवेशयेत् उच्च कर्मस्थानेभ्यो-ऽवरोप्य नीचकर्मस्थानेषु नियुञ्जीत") । इस प्रकार गबन के लिए दो दंड विहित हैं (१) आस्रावण (गबन किया हुआ धन वापस कराना) और (२) विपर्यास (पद घटाना) । दूसरी ओर उन पदाधिकारियों को जो न केवल सार्वजनिक कोष से धन का गबन न करें, बल्कि न्याय के अनुसार (न्यायतः) उसमें वृद्धि भी करें, उन्हें उनके पद पर स्थायी रूप से नियुक्त कर दिया जाना चाहिए (नित्याधिकारः) ।

राजसेवा के नियमों से पता चलता है कि कुछ समय तक प्रत्येक राज-कर्मचारी का काम देखा जाता था और यदि उसका काम अच्छा होता था तो उसकी नौकरी पक्की कर दी जाती थी ।

वेतन तथा सेवा की कोटियाँ : पूरी राजसेवा विभिन्न कोटियों में विभाजित थी और हर कोटि के लिए अलग-अलग वेतन निश्चित थे । कौटिल्य ने इन कोटियों का विवरण दिया है (५ ३) जिससे भली भाँति पता चलता है कि देश के विविध हितों तथा उसकी बहुमुखी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जो प्रशासन-व्यवस्था स्थापित की गई थी वह कितनी व्यापक तथा जटिल थी । परन्तु कौटिल्य ने प्रशासन के सम्बन्ध में एक नियम यह भी बना दिया था कि उस पर प्रान्तीय राजस्व के चौथाई भाग से अधिक व्यय नहीं किया जाना चाहिए (दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदयपादेन स्थापयेत्) [५ ३] । वेतन के हिसाब से कौटिल्य ने इन पदों की जो कोटियाँ बनाई हैं वे इस प्रकार हैं—

४८००० पण वेतन पानेवाले

१ मंत्री (प्रधानमंत्री) ।
२ पुरोहित ।
३ सेनापति ।

४ युवराज ।

राज-परिवार के निम्नलिखित सम्बन्धी तथा परवालों को भी इतना ही गुजारा मिलता था : राजगुरु (आचार्य) यज्ञ करानेवाला पुरोहित (ऋत्विज), रानी (राज-महिषी) और राजमाता ।

२४००० पण वेतन पानेवाले

१ राज प्रासाद का रक्षक (दौवारिक) ।
२ रनिवास का निरीक्षक (अंतर्वंशिक) ।
३ शस्त्रास्त्रों का प्रधान अधिकारी (प्रशास्तृ) ।
४ प्रधान कलक्टर (समाहर्तृ) ।
५ प्रधान कोषाध्यक्ष (सन्निधातृ) ।

१२,००० पण वेतन पानेवाले

१ नगर का मुख्य (पौर-व्यावहारिक) ।
२ कृषि तथा वन-प्रदेशों का निरीक्षक (कार्मान्तिक) ।
३ मंत्रि-परिषद् के सदस्य ।
४ प्रांतों के शासक (राष्ट्रपाल) ।
५ सीमांत प्रदेशों के रक्षक (अंतपाल) ।
६ अश्वसेना का सेनापति (कुमार-अश्वानुचरः)
७. अस्सी सैनिकों के रिसाले का सेनापति (कुमार-माता अशीतिगम-नेता) ।
८. पैदल सेना का सेनापति (नायक—पदातिनेता)

८,००० पण वेतन पानेवाले

१ श्रेणियों के अध्यक्ष (श्रेणी-मुख्याः) ।
२ हाथियों रथों तथा घोड़ों की देखभाल करनेवाले प्रधान अधिकारी (हस्त्यश्वरथमुख्याः) ।
३ न्यायाधीश (प्रदेष्टा) ।

४,००० पण वेतन पानेवाले

१ पैदल सैनिकों घोड़ों रथों तथा हाथियों के निरीक्षक (पत्त्यश्वरथ-हस्त्याध्यक्षाः) ।
२ हाथियों के जंगलों तथा लकड़ी के जंगलों के निरीक्षक (द्रव्य-हस्ति-वनपालकाः) ।

२,००० पण वेतन पाने वाले

१ रथ-विद्या सिखानेवाला (रथिक) ।
२ चिकित्सक ।

३ सेना के घोड़ों को सधानेवाला (अश्वदमक)
४ सेना का बढ़ई या मिस्त्री (वर्धकि)।
५ पशु पालनेवाले (योनिपोषका)।
६ हाथियों को सधानेवाला (अनीकस्थ)।

१,००० पण वेतन पानेवाले

१ भविष्य बितानेवाला (कार्तान्तिक)।
२ राशिफल बतानेवाला (नैमित्तिक)।
३ ज्योतिषी (मौहूर्तिक)।
४ पुराणों की व्याख्या करनेवाला (पौराणिक)।—
५ सारथी (सूत)।
६ चारण अथवा गवैये (मागध)।
७. पुरोहित के कर्मचारीगण (पुरोहितपुरुषाः)।
८. सभी विभागों के अध्यक्ष (सर्वाध्यक्षाः)।

५००—१,००० पण वेतन पाने वाले

१ किसी वर्ग का प्रमाण (अर्म)।
२ जंगली घोड़ों तथा हाथियों को सधानेवाला (मुक्तारोहक)।
३ अनुभवी जासूस (मानवक)। (इन्हें अपराध-जीवी वर्गों में से भरती किया जाता था)।—
४ पत्थर का काम करनेवाला (शैलखनक) या गज-मूर्तिकार।

५ संगीत के अध्यापकों शिल्पकों और धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के विद्वानों को उपर्युक्त पण वेतन के रूप में नहीं बल्कि सम्मानार्थ दिया जाएगा क्योंकि उनकी सेवाएँ सर्वसाधारण को निःशुल्क उपलब्ध रहती हैं (सर्वोपस्थान आचार्य विद्यावन्त पूजावेतनानि)।

५० पण वेतन पानेवाले

१ पैदल सैनिक (चारण)।
२ हिसाब-किताब रखनेवाले (संख्यायक)।
३ क्लर्क (लेखक)।
४ शिल्पकार (शिल्पवंत)।
५. संगीत-निर्देशक (तूर्य-करा:)।

२५० पण वेतन पानेवाले

गवैये (कुशीलवाः)।

१२० पण वेतन पानेवाले

कुशल शिल्पकार (कारु-शिल्पी)।

१० पण वेतन पाने वाले

१ पशुओं तथा पक्षियों आदि की सेवा करने वाले नौकर-चाकर (परिचारक) तथा उनके प्रधान (पारिकर्मिक)।
२ राजा के निजी सेवक (औपस्थायिकशरीर-परिचारक)।
३ गाय पालनेवाले (गोपालक)।
४ श्रमिक (विष्टि)।
५ पशु-पक्षी आदि पकड़नेवाले (बंधक)।

संदेशवाहकों (दूत) को दस योजन तक संदेश ले जाने के लिए १० पण और सौ योजन की दूरी तक संदेश ले जाने के लिए २ पण देने का नियम था।

राजसूय यज्ञ के अवसर पर मंत्री तथा पुरोहित को उनके साधारण वेतन का तीन गुना विशेष वेतन दिया जाता था। उस अवसर पर राजा के सारथी को १ ०० पण दिये जाते थे।

विभिन्न वर्गों के गुप्तचरों को १ पण देने का विधान है।

गाँव के कर्मचारियों को (जैसे धोबिया तथा गुप्तचरों को) ५ पण मिलते थे।

गुप्तचरों के नौकरों को उनके काम के हिसाब से (प्रयास-वृद्धवेतना वा) २५ पण या उससे अधिक वेतन मिलता था।

१ ० से १ पण तक वेतन पानेवाले राजकर्मचारियों को अध्यक्षों के अधीन रखा जाता था जो उनके बुजारे पारिश्रमिक पुरस्कार, आदेश तथा उन्हें सौंपे जाने वाले काम (विक्षेप) का निश्चय करते थे।

जब किसी कर्मचारी के लिए कोई काम नहीं रह जाता था (अविक्षेप), तो उन्हें सरकारी इमारतों (राजपरिग्रह) किलों (दुर्ग) तथा राज्य की रक्षा के साधनों (राष्ट्ररक्षा) की देखभाल करने के काम पर नियुक्त कर दिया जाता था।

पेंशन : सार्वजनिक सेवा के सम्बन्ध में कुछ ऐसे उदार नियम थे जिनके कारण इस सेवा का आकर्षण बहुत बढ़ जाता था। जब कोई पदाधिकारी अपना काम करते हुए मर जाता था तो उसके पुत्रों तथा उसकी पत्नियों को राज्य की ओर से भरण-पोषण के लिए भत्ता (भक्त-वेतन) मिलता था। मृत पदाधिकारी पर आश्रित उसके उन परिवारवालों का भी ध्यान रखा जाता था जो अपनी जीविका नहीं कमा सकते थे जैसे छोटे बच्चे, वृद्ध तथा रोगी।

नकद अथवा उपयोग की वस्तुओं के रूप में वेतन की अदायगी वेतन नकद दिया जाता था और उपयोग की वस्तुओं के रूप में भी। जब राजा के पास धन की कमी होती थी तब वह वन की पैदावार पशुओं या खेती के लिए भूमि

के रूप में वेतन देता था और साथ में कुछ नकद भी देता था। परन्तु जब नयी बस्तियाँ बसाने की योजना होती थी तो वेतन द्रव्य में ही देने का नियम था [V, ३]।

यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि निम्नलिखित पदाधिकारियों को भी भूमि के अनुदान दिए जाते थे परन्तु उन्हें यह भूमि बेचने या किसी और को देने (विक्रयाधानवर्जम्) का अधिकार नहीं होता था (१) अध्यक्ष (२) संख्यायक (हिसाब-किताब रखने वाला) (३) गोप (४) स्थानिक (५) अनीकस्थ (हाथियों का साधने वाला) (६) चिकित्सक (७) अश्वदमक (घोड़ों को साधनेवाला) और (८) जंघारिक (धावक संदेशवाहक) [II, १]।

योग्यताओं तथा प्रशासनात्मक क्षमताओं के अनुसार विशेष वेतन-मान की भी व्यवस्था थी। (विद्याकर्मभ्यां भक्तवेतनविशेषं च कुर्यात्)

सेवा में नियुक्ति वेतन पदोन्नति वेतन-मान के ये नियम थे जो नागरिक सेवा में काम करने वाले कर्मचारियों की सेवाओं का नियमन करते थे।

अध्याय ६

प्रशासन विभाग तथा उनके पदाधिकारी

विभाग तथा पदाधिकारी : यूनानी वृत्तांत — चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में मैगास्थनीज ने भारतीय प्रशासन की जो व्यवस्था स्वयं देखी थी उसके आधार पर उसने इन विभागों तथा उनके पदाधिकारियों का एक रोचक तथा बहुमूल्य विवरण दिया है। ई० आर० बेवन ने जिन्होंने यूनानी वृत्तांतों के मूलपाठ की आलोचनात्मक परीक्षा की है, लिखा है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड १ अध्याय १६) "मैगास्थनीज ने विभिन्न पदाधिकारियों का जो विवरण दिया है उससे पता चलता है कि उस समय एक अत्यधिक सुसंगठित अधिकारी वर्ग (ब्यूरोक्रेसी) था। मैगास्थनीज के अनुसार ये अधिकारी तीन प्रकार के थे (१) एग्रोनोमोई 'जिले के अधिकारी' (२) एस्टिनोमोई, 'नगर के अधिकारी' और (३) सैन्यविभाग के कर्मचारी।

जिले के अधिकारी (एग्रोनोमोई) — "इनमें से पहले प्रकार के अधिकारियों के काम ये थे — (१) सिंचाई तथा भूमि की पैमाइश का निरीक्षण करना, (२) शिकार का निरीक्षण करना, (३) कृषि तथा वन-सम्पदा से सम्बन्धित विभिन्न उद्योगों और लकड़ी के काम, धातु की ढलाई के कारखानों तथा खानों का निरीक्षण करना और (४) सड़कों की देखभाल करना तथा उनकी मरम्मत

लगाना और इस बात का प्रबंध करना कि हर दस स्टेडिया[1] (१¼ मील) पर दूरी को इंगित करने वाला पत्थर लगवाया जाए" (इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि मेगास्थनीज का मत यह नहीं था कि भारत में लोग लिखने की कला से आम तौर पर अपरिचित थे।)

नगर के अधिकारी (एस्टिनोमोई) "दूसरे प्रकार के अधिकारी अर्थात् नगर के अधिकारी पाँच-पाँच सदस्यों के छः मंडलों में विभाजित थे। इनके काम क्रमशः ये थे (१) कारखानों का निरीक्षण (२) विदेश से आनेवालों की देखभाल जिसमें सरायों पर पूर्ण नियंत्रण सहायक अधिकारियों की व्यवस्था रोगियों की देखभाल तथा मृत लोगों की अंतिम क्रिया शामिल थी (३) जन्म तथा मृत्यु का हिसाब रखना (४) बाजार पर नियंत्रण रखना (५) माप तथा तौल का निरीक्षण करना तैयार माल का निरीक्षण करना नयी तथा पुरानी वस्तुओं की अलग-अलग बिक्री का प्रबंध करना और (६) माल की बिक्री पर १० प्रतिशत कर वसूल करना।

"ये छः मंडल सामूहिक रूप से जन-निर्माण-कार्यों कीमतों बंदरगाहों तथा मंदिरों की आम देखभाल करते थे।

इन अधिकारियों में हम मेगास्थनीज द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित अधिकारियों को और जोड़ सकते हैं।

पुरोहित : "आम देशवासी जीवन-काल के लिए निर्दिष्ट यज्ञों को सम्पन्न कराने के लिए और मृतात्मा को पिंड-दान आदि करने के लिए जिन धार्मिकों की सहायता लेते थे इन सेवाओं के बदले उन्हें बहुमूल्य उपहार तथा विशेषाधिकार दिए जाते थे।" वास्तव में यह संकेत धर्म-अधिकारियों अर्थात् पुरोहितों की ओर है, जो जनता के धार्मिक हितों का ध्यान रखते थे।

गुप्तचर्या "ये निरीक्षक जिनका काम यह है कि भारत में जो कुछ भी हो रहा हो उसकी जाँच-पड़ताल करें तथा उस पर दृष्टि रखें और राजा को उसकी सूचना दें और जहाँ राजा न हो" (अर्थात् उन गणतंत्रों में जिन्हें मेगास्थनीज ने अपने समय में राजतंत्र जितना ही व्यापक पाया था) "वहाँ उसकी सूचना दण्डाधीशों (अर्थात गणतंत्र के प्रमुख अधिकारियों को) दें।" स्ट्राबो ने इसके अतिरिक्त यह भी लिखा है [XV १, ४६]: "कुछ लोगों के जिम्मे नगर का निरीक्षण होता था और कुछ के जिम्मे सेना का। नगर का निरीक्षण करने वाले नगर की वेश्याओं की और सेना का निरीक्षण करनेवाले छावनी की

1 १ योजन = ८ मील १० स्टेडिया = २ २२½ गज = योजन का छठा भाग = १¼ [रीज डेविड्स बुद्धिस्ट इंडिया पृष्ठ २६५ कैम्ब्रिज हिस्ट्री I १८५]। मैक्रिंडल ने १ स्टेडिया को एक भारतीय कोस अर्थात् कोस के बराबर माना है।

वेश्याओं की सहायता लेते थे। इस पद पर सबसे योग्य तथा सबसे विश्वस्त लोग नियुक्त किए जाते हैं।" एरियन ने यह भी लिखा है 'झूठी सूचना देना उनके लिए वर्जित है पर वास्तव में किसी भी भारतवासी पर झूठ बोलने का आरोप नहीं लगाया गया है।"

परामर्शदाता (कौंसिलर्स) राजा के परामर्शदाता राज्य के कोषाध्यक्ष झगड़ों का फ़ैसला करनेवाले पंच" (अर्थात् दीवानी तथा फौजदारी के न्यायाधीश) सेना के सेनापति और मुख्य दंडाधीश" (अर्थात् विभागाध्यक्ष जिन्हें कौटिल्य ने अध्यक्ष कहा है)।

मेगास्थनीज ने यह भी कहा है कि राज्य के ये उच्च अधिकारी अधिकारियों के इस वर्ग में से भरती किए जाते थे जिन्हें उसने परामर्शदाताओं (कौंसिलर्स) तथा असेसरों की व्यापक संज्ञा दी है। यह बात उल्लेखनीय है कि अधिकारियों के इसी व्यापक समूह को कौटिल्य ने अमात्य कहा है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, कौटिल्य ने भी विभिन्न कोटियों के मंत्रियों और राज्य के अन्य उच्च पदाधिकारियों को इन्हीं अमात्यों में से भरती करने की व्यवस्था की थी जैसे सन्निधाता (मेगास्थनीज का कोषाध्यक्ष) न्यायाधीश विभागाध्यक्ष (मेगास्थनीज का मुख्य दंडाधीश कहा है) और अन्य ग्रामीण पदाधिकारी।

अन्य पदाधिकारी : "पशुपालक तथा शिकारी केवल इन्हीं को पशु पालने और शिकार करने का अधिकार था और वे ही भारवाहक पशु बेच सकते थे या उन्हें किराए पर दे सकते थे। भूमि को उन वन्य पशुओं तथा पक्षियों से मुक्त करने के बदले में जो खेतों में बोये गए बीज खा जाते हैं, उन्हें राजा की ओर से कुछ अन्न दिया जाता है।

"अस्त्रशस्त्र तथा कवच आदि और जहाज बनानेवाले केवल राजा के लिए ही काम करते हैं और उनका पारिश्रमिक तथा भोजन राजा देता है।"

'इनमें से कुछ केवल अस्त्रशस्त्र बनाते हैं और बाकी किसानों तथा अन्य उद्यमों के लोगों के उपयोग के औजार बनाते हैं। इस वर्ग के लोगों को कोई कर नहीं देना पड़ता है, बल्कि उनके भरण-पोषण का प्रबंध भी राज्यकोष से ही किया जाता है।"

"ये पदाधिकारी जो नदियों पर निगरानी रखते हैं जमीन की पैमाइश करते हैं, जैसा कि मिस्र में होता है और उन जल-द्वारों का निरीक्षण करते हैं, जिनके रास्ते मुख्य नहरों से उनकी शाखाओं में पानी भेजा जाता है, ताकि हर आदमी को बराबर-बराबर पानी मिल सके।"

"सैनिक जिनके भरण-पोषण का खर्च राजा देता है और इसलिए अवसर पड़ने पर वे सदैव रणक्षेत्र में उतरने के लिए तत्पर रहते हैं, क्योंकि उनके पास

१

अपने शरीर को छोड़कर स्वयं अपना कुछ नहीं होता।

"कर वसूल करनेवाले तथा भूमि से सम्बन्धित पेशों पर, जैसे लकड़हारों बढ़इयों लुहारों तथा खनिकों पर निगरानी रखनेवाले पदाधिकारी।

"ये पदाधिकारी जो सड़कों का निर्माण कराते थे और हर दस स्टेडिया की दूरी पर उप-मार्गों तथा विभिन्न स्थानों की दूरी को इंगित करने वाले पत्थर लगवाते थे।

"राजा की अश्वशाला तथा हस्तिशाला और अस्त्रशाला पर निगरानी रखने वाले पदाधिकारी।

इसके अतिरिक्त यह भी लिखा गया है 'किसी भी साधारण नागरिक को घोड़ा या हाथी रखने की अनुमति नहीं है। ये पशु राजा की विशिष्ट सम्पत्ति समझे जाते हैं और उनकी देखभाल करने के लिए लोग नियुक्त किए जाते हैं। घोड़ों को सधानेवाले पेशेवर लोग होते हैं और जब वे किसी घोड़े को उद्दण्ड पाते हैं, तो वे एक चक्कर में दौड़ा-दौड़ाकर उसे वश में करते हैं। जो लोग इस काम का भार संभालते हैं उनके लिए यह आवश्यक होता है कि वे बलवान हों तथा उन्हें घोड़ों का पूरा ज्ञान हो। जो लोग इस काम में बहुत निपुण होते हैं, वे रथ को चक्कर में दौड़ाकर अपनी निपुणता का परिचय देते हैं और सचमुच चार उद्दण्ड घोड़ों को एक चक्कर में दौड़ते समय काबू में रखना कोई आसान काम नहीं है।

पदाधिकारियों की सूची: भारतीय प्रशासन-व्यवस्था के इन यूनानी वृत्तांतों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें बहुत बड़ी संख्या में शहरों तथा देहातों दोनों ही जगह के प्रशासनात्मक हितों की ओर तथा विभिन्न प्रशासन विभागों में इन हितों की पूर्ति की व्यवस्था करने वाले अधिकारियों की ओर ध्यान दिया गया है। इन वृत्तांतों में जिन विभागों का उल्लेख किया गया है, उनमें से कुछ ये हैं

१ मंत्री परामर्शदाता तथा मंत्रि-परिषद् के सदस्य।
२ मुख्य दंडाधीश (विभागाध्यक्ष तथा नगर दंडाधीश)
३ राजस्व तथा कर।
४ सिंचाई।
५ सर्वेक्षण तथा बन्दोबस्त (भू-राजस्व प्रशासन)।
६ कृषि।
७. वन उद्यान।
८ लकड़ी के कारखाने।
९. धातु की ढलाई के कारखाने।

१० खानें ।

११ जहाजों के कारखाने ।

१२ नगर में आनेवाले विदेशी ।

१३ सरायें (शहर की) ।

१४ आवश्यक तथ्य-आँकड़े ।

१५ रोगियों की देखभाल ।

१६ बाजार का नियंत्रण ।

१७ माप-तौल ।

१८ भवन-निर्माण कार्य के नियामक ।

१९ पुरोहित ।

२० निरीक्षक ।

२१ कोषाध्यक्ष ।

२२ व्यायामाधीश ।

२३ पशुपालक तथा शिकारी ।

२४ शस्त्रास्त्र बनानेवाले ।

२५ जहाज बनानेवाले ।

२६ खेती-बारी के औजार बनाने वाले ।

२७ नदियों तथा सिंचाई की नहरों के निरीक्षक ।

२८ हाथी घोड़े रथ ।

उपर्युक्त विवरण से हमें पता चलता है कि यूनानी लेखकों ने तो केवल विभिन्न प्रशासनाधिकारियों का उल्लेख मात्र कर दिया था और मोटे-तौर पर उनके काम बता दिए थे पर कौटिल्य ने विस्तारपूर्वक बताया है कि उनके काम क्या थे और वे विभिन्न विभाग उन्हें सौंपे गये विभिन्न हितों की व्यवस्था किस प्रकार चलाते थे ।

कौटिल्य की प्रशासन-व्यवस्था जनपद (प्रान्त) कौटिल्य की योजना के अनुसार (II १) प्रशासन की इकाई जनपद अथवा प्रांत था जिसमें आम तौर पर कम से कम ८०० गाँव होते थे और प्रत्येक गाँव में १००-५०० परिवार होते थे ('कुलशतावरं पञ्चकुलशतपरम्')। यदि एक साधारण परिवार में जो संयुक्त परिवार (कुल) होता था हम दस सदस्य मान लें तीन भाई और उनके माता-पिता तो हर प्रांतीय प्रशासन के अधीन ४० लाख लोगों का हिसाब बैठता है। अशोक के एक स्तंभ [स्तंभलेख ५] में कहा गया है कि प्रांतीय शासक (राजुक) "कई लाख लोगों" पर शासन करता था ।

गाँव एक-दूसरे से सुविधाजनक दूरी पर स्थित होते थे ताकि वे सुरक्षित

रह सकें (चोरा-द्वीपीय सीमान्तमन्योन्यारक्षम्) इन पांवों को एक-दूसरे से अलग रखने के लिए यथासंभव प्राकृतिक सीमाओं का लाभ उठाया जाता था जैसे नदी पर्वत वन आदि (नदीशैलवन) ।

प्रतिरक्षा-व्यवस्था प्रांतीय प्रतिरक्षा की व्यवस्था अत्यंत सुसंगठित होती थी । प्रांत में प्रवेश के मार्गों की सुरक्षा के लिए सीमान्त चौकियां होती थी जिनकी निगरानी अंतपालों अर्थात् सीमान्तसरक्षकों के जिम्मे रहती थी (जनपद द्वारान्तपालाधिष्ठितानि स्थापयेत्) जब कि प्रांत के अंतःप्रदेश की रक्षा का भार हिरन पकड़नेवाला शबर ('शूद्र पिता तथा भील माता की संतान') पुलिंद ('निष्टि म्लेच्छ पिता तथा किरात माता की संतान') चण्डाल (श्मशान भूमि के रखवाले श्मशानपाल) तथा वन-रक्षकों आदि लोगों में से भरती किये गए विशेष कर्मचारियों पर होता था (तदन्तराणि वागुरिक-शबर-पुलिंद-चण्डाल-रण्यचराः रक्षेयुः) । प्रांत के चार सिरों पर (II १) (चतुर्दिशाम् जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत् और (II १) अन्तपालस्थान-दुर्गाणि) चार दुर्ग बनवाए जाते थे जो जल या पर्वत मरुस्थल या वन जैसे सुरक्षा के प्राकृतिक साधनों का लाभ उठाते थे (नदी-पर्वतदुर्गं जनपदारक्षस्थानं धान्वन वनदुर्गम्) ।

प्रशासन के केंद्र : प्रशासन के प्रधान केंद्र ८०० ४०० २०० तथा १० ग्रामों के बीच में स्थित होते थे और इन्हें क्रमशः (१) स्थानीय (२) द्रोणमुख (३) कार्वटिक तथा (४) संग्रहण कहा जाता था । इनमें से 'स्थानीय' उस प्रदेश की सम्पदा का केंद्र होता था (समुदयस्थानं धनोत्पत्तिस्थानमस्तं) (II १) जिसे हम उस समय की प्रांतीय राजधानी कह सकते हैं ।

प्रांत का प्रधान (समाहर्ता) जिले का कलेक्टर (स्थानिक) : प्रांतीय प्रशासन का प्रधान समाहर्ता होता था जिसके आधीन अपने प्रांत के चार जिलों के स्थानिक कलक्टर होते थे (I १) । वास्तव में हर प्रांत चार जिलों में विभाजित होता था (II ३५) (समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभाज्य) जिनमें से प्रत्येक जिला 'स्थानिक' नामक एक पदाधिकारी के आधीन होता था जिस पर उस जिले की पूरी व्यवस्था का भार होता था (एवं च जनपद-चतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्) ।

राजस्व के स्रोत समाहर्ता पर अपने प्रांत से राजस्व संग्रह करने का भार होता था । राजस्व कई स्रोतों से वसूल किया जाता था इनमें से प्रत्येक स्रोत का पूरा-पूरा लाभ उठाने तथा उसे बढ़ाने के लिए एक विशेष प्रशासन-विभाग की आवश्यकता होती थी । इस प्रकार राजस्व के स्रोतों का अध्ययन करने से इस बात का पता चल सकता है कि उस समय प्रशासन की व्यवस्था क्या थी तथा उसका संगठन किस प्रकार किया गया था ?

समाहर्ता का काम (अवेक्षेत) कि निम्नलिखित स्रोतों से पूरे राजस्व की वसूली कराना था (१) नगर (दुर्ग) (२) गाँव या देहात (राष्ट्र) (३)खानें (खनि) (४) बागान (सेतु) (५) वन (६) पशु (व्रज) और (७) व्यापार के माध्यम (वणिक्पथ यातायात के मार्ग)।

दुर्ग नगरों या शहरी इलाकों (दुर्ग) से जो राजस्व वसूल किया जाता था वह अनेक स्रोतों से वसूल किया जाता था जिनमे से प्रत्येक का प्रशासन अलग एक विभाग के हाथों मे रहता था और हर विभाग का अपना एक अध्यक्ष तथा उसकी सहायता के लिए उचित कर्मचारी होते थे। ये प्रशासन विभाग निम्नलिखित थे (१) सीमा-कर (शुल्क) (२) पुलिस (दण्ड) (३) नाप तौल (पौतव) (४) नगरपालिकाएँ (नागरिक) (५) सीमाएँ (अन्तप) (६) पासपोर्ट (मुद्रा) (७) आबकारी (सुरा) (८) पशु-वधशाला (सूना) (९) कपास उद्योग (सूत्र) (१०) तेल उद्योग (तैल) (११) दुग्धशालाएँ (घृत) (१२) चीनी उद्योग (क्षार) (१३) सोना (स्वर्ण) (१४) मालगोदाम (पण्यसंस्था) (१५) वेश्याएँ, (१६) जुआ (द्यूत) (१७) इमारतें (वास्तुक) (१८) शिल्प (१९) दस्तकारी (कारु) (२०) धार्मिक संस्थाएँ (देवता) (२१) चुंगी (द्वारादेयम्) और (२२) मनोरंजन (बाहिरिकादेय अभिनय नृत्य जैसे आमोद-प्रमोद) (II ६)।

इन बाईस विभागों का प्रशासन बाईस अध्यक्षों के हाथों में था और इन्हीं को मिलाकर नगर की आम प्रशासन-व्यवस्था का निर्माण होता था।

राष्ट्र राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग गाँवों से आता था क्योंकि राजस्व के स्रोत इन्हीं गाँवों में बिखरे हुए थे। इनमें से प्रत्येक स्रोत का बड़ी सावधानी के साथ उपयोग किया जाता था और हर स्रोत का प्रशासन अलग एक विभाग के अधीन होता था जिसका अलग अपना अध्यक्ष तथा उसकी सहायता के लिए विशेष कर्मचारी होते थे। राजस्व के ये स्रोत निम्नलिखित हैं

(१) सीता राजा की भूमि।

(२) भाग भू-राजस्व के रूप मे राज्य को दिया जानेवाला कृषि-उत्पादन का भाग।

(३) बलि सामान्य भू-कर।

मेगास्थनीज के अनुसार(अंश I) "कृषकगण भूमि की चौथाई पैदावार (भाग) के अतिरिक्त राजा को भूमि-कर भी देते हैं।" संस्कृत में 'बलि' शब्द का सामान्य अर्थ किसी धार्मिक संस्कार के अवसर पर देवता को चढ़ाई जाने वाली वस्तु या स्वैच्छिक योगदान होता है।

यह बात उल्लेखनीय है कि अशोक ने भगवान् बुद्ध का जन्मस्थान होने के

आते (हिद भगवं जाते ति) लुम्मिनी गाँव (लुम्मिनि-गामे) के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए उसे 'उबलिके' तथा 'अठभागिये' (उद्बलिक तथा अष्ठ-भागिक) घोषित कर दिया था। यह बात रुम्मिनदेई के स्तंभलेख में लिखी है। इस प्रकार अशोक के शासनकाल में राज्य की ओर से कृषि की पैदावार में नियमानुकूल हिस्से के अतिरिक्त जिसे 'भाग' कहते थे समस्त भूमि पर एक कर भी लगाया जाता था जिसे 'बलि' कहते थे। लुम्मिनी गाँव से 'भाग' आधा ही वसूल किया जाता था अर्थात् चौथाई के बजाय आठवाँ भाग। कौटिल्य के शब्दों में (II १५) लुम्मिनी परिहारक गाँव था।

(४) कर पशुओं के बाड़ों पर कर (व्रजभूमाविसम्यन्तं राजदेयम्)।

(५) वणिक व्यापार-सामग्री पर उसके उत्पत्ति स्थान पर ही लगाया जानेवाला कर (वणिग्द्वारदेयम्)।

(६) नदीपाल तीर्थस्थानों के घाटों पर नदियों के निरीक्षकों को दिया जानेवाला कर (तीर्थ-रक्षक-द्वारदेयम्)।

यूनानी लेखकों के यहाँ भी नदियों के इन निरीक्षकों का उल्लेख मिलता है।

(७) तर नाव से पार उतरने का भाड़ा (नदीतरपणेतनम्)।

(८) नाव नौका-भवन के निरीक्षक को दिया जानेवाला कर (नावध्यक्ष-द्वारदेयम्)।

(९) पत्तन बाजारों वाले शहरों में दिया जानेवाला कर।

(१०) विवीत चरागाहों पर कर।

(११) वर्तनी सड़क का महसूल जो अंतपालों को अदा किया जाता था (अन्तपालद्वारदेयम्)।

(१२) रज्जू भूमि के बंदोबस्त के लिए दिया जानेवाला कर, जो विषय पाल नाम देहात-अधिकारी को दिया जाता था।

(१३) चोर-रज्जू चौकीदारी या पुलिस-कर जो गाँवों में जमा किया जाता था और चोर पकड़ने पर खर्च किया जाता था (चोरग्रहणाय ग्रामदेयम्)।

खनि : खानों का निरीक्षक "चाँदी हीरा मणि मोती मूँगा शंख धातु लवण और भूमि पत्थर या ईंधन-चीजों से निकाले जानेवाले पारद जैसे अन्य खनिज पदार्थों (रस)" (सुवर्ण-रजत वज्र-मणि-मुक्ता प्रवाल-शंख-लौह-लवण भूमि-प्रस्तर-रस-धातवः खनिः) की खानों से महसूल जमा करता था। वे

सेतु यह शब्द उन भेंगों या बागों पर लगाए गए कर का सूचक है जिनमें ये चीजें उगाई जाती हों। (क) पुष्प (फूल) के बगीचे (ख) फलवाटी (फल-वाट वाटिका-उद्यानादि) जैसे 'बैंगन खीरा आदि' (ग) ईख(वाट-

इक्षु-वाट) (च) केले और सुपारी (षण्ड) (च) चावल जैसी फसलें (केदार धान्यक्षेत्रम्) (छ) 'अदरक' हल्दी आदि' जैसे मसाले (मूलवाप)।

वन उपजों पर लगाया जाने वाला कर, जिसकी चार कोटियाँ बताई गई हैं (१) पशुओं के (२) हिरणों के (३) लकड़ी तथा रबर जैसी वाणिज्यिक वस्तुओं (द्रव्य) के और (४) हाथियों के।

व्रज पशु-शालाओं या 'गाय भैंस बकरी भेड़ गदहा ऊँट घोड़ा तथा खच्चर" जैसे पालतू जानवरों की प्रजननशालाओं पर लगाया जानेवाला कर।

वणिक्पथ जल या थल द्वारा यातायात के मार्गों पर लगाया जानेवाला कर, जो इन मार्गों के आरम्भ में या अंत में वसूल किया जाता था।

इतने बहुत-से तथा विविध प्रकार के स्रोतों से प्रांतीय राजस्व जमा करने के लिए एक अत्यन्त सुविस्तृत प्रशासन-व्यवस्था आवश्यक थी उसके लिए छोटे बड़े अनेक पदाधिकारियों की आवश्यकता थी जिनमें सबसे बड़ा समाहर्ता होता था जिसे हम राजस्व मंत्री कह सकते है फिर विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और हर विभाग में फिर असंख्य छोटे-मोटे कर्मचारी होते थे जिन सबको मिलाकर हम प्रांतीय राजसेवा कह सकते हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के दूसरे खण्ड में निम्नलिखित विभागों की कार्य-पद्धति का विवरण दिया है

(१) महालेखागार (अक्षपटलाध्यक्ष)।
(२) खानें (आकर)।
(३) सोना (सुवर्ण)।
(४) भंडार (कोष्ठागार)।
(५) वाणिज्य (पण्य)।
(६) वन-सम्पदा (कुप्य)।
(७) अस्त्रशाला (आयुधागार)।
(८) माप-तौल (तुलामानपौतव)।
(९) सीमा-कर (शुल्क)
(१०) कताई तथा बुनाई उद्योग (सूत्र)।
(११) कृषि (सीता)।
(१२) आबकारी (सुरा)।
(१३) पशु-वधशाला (सूना)।
(१४) वेश्याएं (गणिका)।
(१५) नौ-परिवहन (नौ)।
(१६) पशु (गो)।

(१७) घोड़े (अश्व)।
(१८) हाथी (हस्ति)।
(१९) रथ।
(२०) पैदल सेना (पत्ति)।
(२१) पासपोर्ट (मुद्रा)।
(२२) चरागाह (विवीत)।
(२३) धातु (लोह)।
(२४) टकसाल (लक्षण)।
(२५) खजाना (कोष)।
(२६) हाथियों के जंगल (नाग-वन)।
(२७) सामान्य व्यापार (संस्था)।
(२८) धार्मिक संस्थाएँ (देवता)।
(२९) जुआ (द्यूत)
(३०) जेल (बंधनागार)।
(३१) बंदरगाह (पत्तन)।

विभागों की उपर्युक्त सूची को देखने से पता चलता है कि इनमें सभी राजस्व जमा करने या उसके प्रशासन के लिए आवश्यक नहीं है बल्कि कुछ विभागों का संबंध तो नगरों के प्रशासन अथवा नगरपालिकाओं से है। (१०) (१२) (१३) (१४) (२६) (३०) तथा (३१) संख्या के विभागों की गणना ऐसे ही विभागों में की जा सकती है। फिर कुछ विभाग ऐसे हैं जिनका संबंध राजधानी अथवा राज-प्रासाद से है जैसे उपर्युक्त सूची में नं० (२) (३) (४) (७) (८) (२४) तथा (२५)। फिर इनमें से कुछ विभाग ऐसे भी हैं—जैसे नं० (४) (६) (२५)—जो राजस्व तथा भंडार मंत्री (सन्निधाता) के अधीन रख दिए गए हैं, जिसका काम राजस्व जमा करनेवाले मंत्री (समाहर्ता) द्वारा जमा किया गया राजस्व प्राप्त करना है। इस प्रकार पूरी राजसभा में ये दो पद सबसे महत्वपूर्ण होते हैं और शेष सभी पदों में से अधिकांश इनके अधीन होते हैं। एक और अधिकारी का पद इतना ही ऊँचा होता है और वह है 'अक्षपटलाध्यक्ष' अर्थात् प्रधान हिसाब-किताब रखनेवाला जिसके सामने सभी विभागों का अपना हिसाब पेश करना पड़ता है। इसी प्रकार (१७) (१८) (१९) (२०) नं० के विभाग और साथ ही (७) नं० का विभाग भी सेनापति के अधीन होते थे।

यह बात जोड़ने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से अधिकांश विभागों तथा पदाधिकारियों का उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है और उन्होंने जो

बातें कहीं हैं, वे कौटिल्य के विवरण से इतनी मिलती-जुलती हैं कि इन दोनों ही की विश्वसनीयता सिद्ध हो जाती है ।

समाहर्ता इसे समाहर्ता इसलिए कहा जाता था कि वह विभिन्न स्रोतों से राज्य का राजस्व जमा करता था और कोई बकाया नहीं रहने देता था (सर्वोपायजातेभ्यः राजार्थानां सम्यक् समाहरणात् वा समाहर्ता) । उसका कर्तव्य इसके अतिरिक्त 'समुदय प्रस्थापनम्' (I 1) भी बताया गया है अर्थात् राजस्व प्राप्त करने और उसे बढ़ाने के उपाय तथा साधन मालूम करना (समुदयो धनोत्थानं तस्य प्रस्थापनं मार्गपरिकल्पनं समाहर्ता कथं कथं विधया समुदय प्रस्थापयेत इत्येतत्) । इस प्रकार हम देखते हैं कि समाहर्ता को वर्तमान वित्त-मंत्री की तरह कर लगाने की नई योजनाएं चालू करने और राजस्व में वृद्धि करने के लिए नए कर लगाने का अधिकार था ।

सन्निधाता समाहर्ता का पूरक पदाधिकारी सन्निधाता होता था जो राजस्व के जमा होने पर राज्यकोष में उसके आने पर उसकी जिम्मेदारी सँभालता था । समाहर्ता तो कार्यकर्ता तथा पैसा खर्च करनेवाला अधिकारी होता था पर सन्निधाता का काम था पैसा बचाना और राजस्व जमा करके रखना । राजस्व जिन वस्तुओं के रूप में प्राप्त होता था उनके अनुकूल उसे उचित इमारतें तथा भवन बनवाने पड़ते थे जिनमें राजस्व जमा करके रखा जा सके (निचय-कर्म द्रव्यसंग्रह-रक्षण-कर्म) । इस उद्देश्य से उसे इन इमारतों का निर्माण करवाना पड़ता था (१) कोशगृह जिसमें राजस्व के रूप में प्राप्त होनेवाले बहुमूल्य रत्न सोना आदि जमा किया जाता था (२) पण्यगृह, जहाँ बिक्री का माल (विक्रय द्रव्य) रखा जाता था (३) कोष्ठागार, राज्य का अन्न-भंडार, जिसमें खाने-पीने की चीजें, अन्न तेल आदि जमा किया जाता था (४) कुप्यगृह, जहाँ राजस्व के रूप में आनेवाली हर प्रकार की वन-सम्पदा जमा की जाती थी (५) आयुधागार राजा की शस्त्रशाला ।

कोशगृह कोशगृह दो भागों में बनाया जाता था (१) भूमि के नीचे वाला भाग भूमिगृह जिसमें तीन मंजिलें (तल्ले) होती थीं और फर्श तथा दीवारें पत्थर की होती थीं उसमें लकड़ी के ढाँचे पर बने हुए कई कमरे होते थे (अनेकविधानं सारदारुपञ्जरं) एक सीढ़ी होती थी जिसे यंत्र द्वारा खिसकाया जा सकता था (यंत्रयुक्त सोपानम्) दीवारों पर लगी हुई लकड़ी पर देवताओं की मूर्तियाँ जुड़ी होती थीं (देवताविधानम्) और उसमें केवल एक ही द्वार होता था (२) ऊपरी भाग, जो अधिक में कोशगृह होता था एक महल अथवा प्रासाद के ढंग का बना होता था, उसके बाहरी तथा भीतरी दरवाजों में खोखलें लगी होती थीं (उभयतोनिषेधं बहिरन्तर्मार्गल-युक्तं) और उसमें एक प्रवेश

कक्ष होता था (सप्रग्रीवं मुण्डहर्म्या सहितम्) और उसमें बहुमूल्य वस्तुएँ रखने के लिए कई पंक्तियों में अनेक पात्र रखे होते थे (भाण्डवाहिनीपरिक्षिप्तम्)।

शासन-केन्द्र में कोशगृह के अतिरिक्त सन्निधाता को देश के सीमान्त प्रदेशों में (जनपदान्ते) आपातकाल के लिए बहुत धनी हवेलियाँ बनवानी पड़ती थी इसके निर्माण के लिए मृत्युदंड पाए हुए अपराधियों से काम लिया जाता था (अभित्यक्तैः पुरुषैः कारयेत्) जो भवन का निर्माण पूरा होते ही मार दिए जाते थे ताकि इनकी निर्माणयोजना और इसमें निधि-संग्रह की योजना गुप्त रहे।

अन्य इमारतें बिकाऊ माल रखने की इमारत एक चौक के चारों ओर बनी हुई चार इमारतों (चतुःशालम्) में से एक होती थी जिसमें अनेक कमरे होते थे (अनेकस्थानतलम्)। इसे पण्यगृह कहते थे।

अन्न भरने का कोष्ठागार भी इसी प्रकार की बनी हुई इमारत होती थी।

वन-सम्पदा का भंडार रखने का कुप्यगृह ज्यादा बड़ा होता था जिसमें कई लम्बी-चौड़ी इमारतें होती थीं जिनमें दीवारों के किनारे किनारे कमरों की कई पंक्तियाँ होती थीं।

शस्त्रशाला (आयुधागार) भी इसी प्रकार बनाई जाती थी पर उसमें एक तहखाना (भूमिगृह) भी होता था।

न्यायालय सचिवालय तथा कारागार सन्निधाता का यह भी कर्तव्य होता था कि वह तीन और महत्वपूर्ण सरकारी इमारतें बनवाए (१) न्यायालय जिसमें मुकदमा करनेवालों के लिए उचित स्थान और अभियुक्तों के लिए हवालातें हों (धर्मस्थीयं तत्र धर्मस्था व्यवहार निर्णेतारः तत्सम्बन्धी धर्मस्थीयं व्यवहारार्थं आगतानां अवस्थित्यर्थं व्यवहार-पराजित-निरोधार्थं च स्थानम्) (२) सचिवालय भवन जिसमें इनके लिए स्थान हो (क) उन अमात्यों के कार्यालय जो विभागाध्यक्ष हों जैसे समाहर्ता तथा सन्निधाता (ख) राजदूत और (ग) उन लोगों के लिए जो युद्ध के दौरान में पकड़े गए हों (विख्यात-विक्षेण गृहीतानां मद्र-परिगृहीतादीनाम्) (३) कारागार (बंधनागार) जिसमें स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग प्रबंध हो और जिसमें ऐसी कोठरियाँ (कक्ष) हों जिनके द्वारों पर कड़ा पहरा हो (विभक्त-स्त्रीपुरुषस्थानं अपसारतः सुगुप्तकक्ष्यं)।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से कुछ भवनों में उस व्यापार-विशेष से सम्बन्धित देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। उदाहरण के लिए कोशगृह में धनद देवता की मूर्ति वाणिज्य भवन तथा कोष्ठागार में देवी श्री की मूर्ति आयुधागार में यमदेव की और कारागार में वरुण की (टीकाकार)।

इस प्रकार सन्निधाता विश्वासपात्र कर्मचारियों की सहायता से (आप्त-

पुरवाविष्ठित) राज्य के राजस्व के सम्बन्ध में अपने दायित्व को पूरा करता था। यह आवश्यक था कि उस राज्य के साधनों का दाहूरों तथा देहाता दोनों जगह से होनेवाली आय के खातों (बाह्य-अभ्यंतरं आयम्) की पिछले १ वर्षों की पूरी-पूरी जानकारी हो ताकि वह इससे सम्बन्धित प्रश्नों का बिना किसी कठिनाई के उत्तर दे सके। उसे हर समय यह भी मालूम रहना चाहिए कि राजकोष में राज्य का कितना राजस्व बचा है।

अक्षपटलाध्यक्ष समाहर्ता तथा सन्निधाता की तरह का केंद्रीय प्रशासन में एक और अधिकारी होता था जिसका काम विभिन्न विभागों तथा जिले के अफसरों पर नियंत्रण रखना होता था। वह हिसाब-किताब रखनेवाला सबसे बड़ा अधिकारी होता था जिसके जिम्मे दो विभाग होते थे—अक्ष-मुद्रा (अक्षपटल) और लेखा (गणना)। अक्षपटल का अर्थ होता है वह पटल या कार्यालय जहाँ रिकार्डरेनेवाली चीजें जैसे सिक्के गिनी जाती हैं (अक्ष गणन-योग्यानिद्रव्य-काणीनि तेषां पटल स्थानं अक्ष-पटलम्) (I १)। उसका पहला कर्तव्य है विभिन्न विभागाध्यक्षों का एक जगह लाना (तत्तदध्यक्षाणां सम्मुखस्तत्व-कर्मा पृष्ठानावेशं कारयेत्) (II ७ की टीका) और फिर उन्हें उनके कार्यक्रिया के लिए उचित स्थान का प्रबंध करना। उसे अलग-अलग विभागों के लिए अलग-अलग कमरों का और फिर उनके अध्यक्षों के लिए उनके पद के अनुकूल स्थान का प्रबंध करना पड़ता था (विभक्तोपस्थानविभक्तानि उत्तम-मध्यम-अधमाना मध्यक्षाणां पृथक्-स्थित्यनुकूलतया विभाज्य)। उसे उन कमरों में हिसाब-किताब के बहीखाते तथा अन्य कागजात रखने के लिए उचित स्थान का प्रबंध करना पड़ता था (निबन्ध-पुस्तकस्थानम्)।

वह विभिन्न विभागों की क्रम-संख्या तथा उनके नाम (अधिकरणानां संख्या नामतः परिगणनम्) उनका कार्य-क्षेत्र (प्रचारो जनपद) और किसने अपने प्रशासन-क्षेत्र से कुल आयम) कितना राजस्व जमा किया आदि उनके अलग-अलग खातों में चढ़ा रहता था।

उसे इन खातों में यह बातें भी दर्ज करनी पड़ती थीं कि विभिन्न विभागों ने अपने जिम्मे जो काम किए थे (कर्मान्तः जैसे खानें धातु के क्षेत्र, वाणिज्यिक उत्पादन मुद्रा आदि) उनके प्रसंग में वे अपने साधनों का उपयोग (द्रव्य प्रयोगे) निम्नलिखित बातों की दृष्टि से किस प्रकार करते हैं (१) काम (वृद्धि) (२) वैतनिक श्रमिका का काम पर लगाना (क्षय पुष्पपुरवविनियोग) (३) श्रम तथा नगद के हिसाब से कीमत (व्यय पार्श्वहिरण्य-विनियोग) (४) कितना माल पैदा हुआ या उसकी कितनी माँग है (प्रमाणः) (५) कितनी ब्याजी (नगद या वस्तुओं के रूप में सूद) वसूल की गई (६) मिश्रा

भट (योगो द्रव्यसंख्यनिश्चणम्) (७) उत्पादन का स्थान (८) मजदूरी (९) गुजारा देकर रखे गए श्रमिक (विष्टि, जिससे अभिप्राय उन श्रमिकों से है जो मजदूरी पर काम नहीं करते बल्कि जिन्हें गुजारा देकर घरेलू नौकरों की तरह रखा जाता है)।

अक्षपटलाध्यक्ष को अपने खातों में निम्नलिखित ब्योरा भी दर्ज करना होता था।

(१) विभिन्न इलाकों (देश) गाँवों (ग्राम) जातियों तथा परिवारों (कुल) में किन धार्मिक प्रथाओं (धर्म) कानूनों (व्यवहार) और रीति-रिवाजों (चरित्र संस्थानम्) का पालन किया जाता है।

(२) राज्य के विभिन्न पदाधिकारियों (राजोपजीवि) जैसे मंत्री पुरोहित आदि के क्या विशेषाधिकार (प्रग्रह) हैं वे कहाँ रहते हैं (प्रदेशो वास-स्थानम्) उन्हें क्या-क्या उपहार मिलते हैं (भोग-उपायनम्) उन्हें किन-किन करों से छूट मिली हुई है (परिहार) उनके लिए घोड़ों हाथियों तथा सैनिकों का क्या प्रबंध है (भक्तअश्व-गज-पदातिसंव्यवहारः) और उन्हें क्या वेतन मिलता था।

(३) राजा रानी और राजकुमारों को दिए जानेवाले विशेष भत्ते (निर्देश) उत्सवों के लिए विशेष भत्ते (औत्पातिकलाभं उत्सवादिलाभं धनलाभं) और रोग आदि व्याधियों को दूर करने के लिए किए जानेवाले कर्मों के हेतु दी जानेवाली विशेष धन राशि (प्रतिकारलाभं)।

वह अपने खाता में विभिन्न विभागाध्यक्षों द्वारा (सर्वाधिकरणानाम्) दिया गया निम्नलिखित ब्योरा भी दर्ज करवाता था (१) क्या काम करना था (२) कितना काम किया जा चुका है (३) शेष धन (४) आय तथा व्यय (५) हिसाब का लेखा-जोखा (नीवी) (६) सेवकों द्वारा अपने काम की रिपोर्ट दाखिल करने का समय (उपस्थानं कालस्थानां स्वस्वकार्यवर्तमानकर्तृत्व-गणनकालम्) और (७) सम्बन्धित स्थान का नाम वहाँ के रीति-रिवाज और वहाँ पर किन प्रणालियों का अनुसरण किया जाता था।

वह उत्तम मध्यम तथा अवर कोटि के अध्यक्षों को उनकी योग्यता के अनुसार काम सौंपता था। अर्थशास्त्र के टीकाकार ने निर्माण-कार्य के अध्यक्षों की तीन श्रेणियाँ बताई हैं जिनका संबंध इन विभागों से था (१) कारागृह (२) अन्न-भंडार तथा अस्त्रशाला और (३) मदिरा तथा मांस। अधिकारियों को इन महत्वों में (सामवायिकेषु) ऐसे विशेष ढंग से उपयुक्त स्थान नियुक्त किए जाते थे जिससे वह देश में राजा का कोई पक्षपाती न हो। इस प्रकार इन कार्यों में वे लोग नहीं नियुक्त किए जा सकते थे जो ब्राह्मण या राजा के मित्र अथवा निकट सम्बन्धी हों।

विभिन्न विभागों के प्रधान लेखाकार (याश्चनियर्याणि गणनाः सत्वारुसकाः सम्पन्नाः) को अपना हिसाब देने आषाढ़ के महीने में राजधानी आना पड़ता था आषाढ़ वित्तीय वर्ष का अंतिम महीना होता था।

वे सब अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में एक स्थान पर मुहरबंद बक्सों में अपने बहीखाते (समुद्रपुस्तकभाण्ड) और आय में से बचा हुआ कुल शेष धन लेकर एकत्रित होते थे। उस भवन में उन्हें एक-दूसरे से बात किए बिना बैठे रहना पड़ता था (एकत्रासम्भाषावरोधं कारयेत्)। राजस्व का कुल बचा हुआ धन राजकोष में जमा करने से पहले उन्हें आय व्यय तथा कुल राजस्व का हिसाब (नीवी) जबानी देना पड़ता था। जबानी जो हिसाब दिया जाता था उस लिखित हिसाब से मिलाकर देखा जाता था। यदि जबानी बताई गई आय लिखित हिसाब में दर्ज आय से कम होती थी या यदि जबानी बताई गई व्यय-राशि लिखित हिसाब की राशि से कम होती थी या यदि जबानी बताया गया शेष धन (नीवी) लिखित राशि से अधिक होता था तो उस गणनाधिकारी को जितना अंतर होता था उसकी आठ गुनी राशि दंड के रूप में देनी पड़ती थी। दूसरी ओर यदि केंद्रीय खातों में और प्रदेशों के खातों में आय व्यय तथा शेष-धन के बारे में कोई अंतर होता था तो यह अंतर पूरा नहीं किया जाता था।

जो प्रधान लेखाकार ठीक समय पर (अर्थात् आषाढ़ के महीने में अपने बही खाते और शेष धन लेकर राजधानी में उपस्थित नहीं होते थे उन्हें दंड भरना पड़ता था।

इसी प्रकार, यदि ये लोग ठीक समय पर उपस्थित हों (कार्मिके अप्यले उपस्थिते) और केंद्रीय कार्यालय के गणनाधिकारी (कारणिक गणनाधिकृत) उनका काम न निबटाएं तो केंद्रीय कार्यालय के अधिकारियों को दंड दिया जाता था।

मंत्रियों को सामूहिक रूप से (समग्राः महामात्राः) प्रदेशों के विभागाध्यक्षों की सभा करके उन्हें प्रांतों की आय राजस्वसम्बन्धी स्थिति आय व्यय तथा प्रत्याशित शेष धन के प्रश्न में समझानी पड़ती थी (प्रचारसमं महामात्राः समग्राः श्रावयेयुः अविषममात्रा प्रचारो जनपदः जनपदान् सदसि मेलयित्वा बोधयेयुः इत्यर्थः)। जो मंत्री इस काम से दूर रहता था या गलत हिसाब पेश करता था उसे दंड दिया जाता था।

हिसाब रोक लिया जाना आवश्यक था (महोत्पदृष्ट)।

लेखाकारों द्वारा प्रतिदिन जो हिसाब तथा रोकड़ बाकी पेश की थी उसकी प्रधान लेखाकार को जांच करनी पड़ती थी उसे यह देखना पड़ता था कि यह हिसाब किस हद तक निम्नलिखित बातों के अनुकूल है (१) धर्मस्थ (धर्म)

(२) कानून (व्यवहार) (३) रीति-रिवाज (चरित्र) (४) पूर्व परम्परा (संस्थान) (५) राजस्व से होनेवाली कुल आय (संकलनं सर्ववर्गैकीकार गणना) (६) कितना काम हुआ (निर्वर्तन) (७) राजस्व का अनुमान और (८) राजस्व की वसूली के संबंध में गुप्तचरों की रिपोर्ट (चारप्रयोग)।

हर पाँचवें दिन, हर पक्ष के बाद, हर महीने, हर चार महीने बाद तथा हर वर्ष लेखे का सार तैयार किया जाता था (प्रतिसमानयेत्)।

यदि कोई कार्मिक वसूल की गयी राजस्व की कोई राशि खाते में न लिखे (राजार्थं अप्रतिबध्नतः राजार्थं पुस्तकेषु अलिखतः) या आदेशों का पालन न करे (आज्ञां प्रतिषेधयतो) या आय तथा व्यय का हिसाब निर्धारित विधि (नियम) से न लिखे तो उसे दंड दिया जा सकता था।

हिसाब को उचित क्रम से न लिखना (क्रमावहीनं अवलिखतः) हिसाब उल्टे क्रम से लिखना (उत्क्रमं अवलिखतः) अर्थात् ऐसे ढंग से हिसाब लिखना कि वह आसानी से समझ में न आए (अविज्ञातं अवलिखतः दैवितुं सम्पूर्णं रीत्या लिखतः) या एक ही मद को दुबारा लिखना (पुनरुक्तं) हिसाब में ये सब त्रुटियाँ (अवलिखनं) दण्डनीय थीं।

गलत रोकड़बाकी लिखना (नीवीमवलिखतो) गबन करना (भक्षयतो) या राजस्व को नष्ट करना (नाशयतः) ये सब दण्डनीय अपराध थे (II ७)।

प्रदेशों के विभागाध्यक्ष अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि प्रदेशों में विभिन्न विभागों के अध्यक्षों या राज्य की आय के साधनों के रूप में उत्पादनशील तथा लाभदायक कार्यों तथा प्रतिष्ठानों के अध्यक्षों को क्या काम सौंपे गए थे?

उनका वेतन तथा कार्य जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अध्यक्ष वर्ग के अधिकारियों का वेतन १००० पण था। १ से १००० पण तक वेतन के वर्गों के राज-कर्मचारी अध्यक्षों के अधीन रखे जाते थे और उन्हें उनका भरण-पोषण का खर्च (भक्त) वेतन भत्ते (लाभ) आदेश तथा काम (विक्षेप) तै करने का अधिकार होता था। यदि उनके लिए कोई काम न हो तो अध्यक्ष अपने अपने कर्मचारियों को राज-सम्पत्ति (राजपरिग्रह) तथा दुर्गों की देख भाल करने और देश में शांति तथा व्यवस्था स्थापित रखने (राष्ट्रपालनम्) के काम पर लगा देते थे। अधीन कर्मचारियों को सदैव अपने-अपने विभागों के अध्यक्षों (नित्यमुख्यः) के अधीन काम करना पड़ता था और वे उनके ऊपर के अनेक अध्यक्षों के भी अधीन होते थे (अनेकमुख्याः) (२ ९)।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कौटिल्य की राजनीति बहुत काफी हद तक समाजवाद और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर

आधारित थी। प्रशासन के संगठन का बहुत बड़ा भाग राज्य की विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति की व्यवस्था चलाने तथा उसका उपयोग करने में लगा रहता था और इस सम्पत्ति का प्रशासन व्यापारिक संस्थाओं के ढंग पर चलाया जाता था। राजा के पास विशाल भू-क्षेत्र तथा वन-क्षेत्र थे। खानों पर राज्य का एकाधिकार था। निर्यात तथा आयात दोनों ही का व्यापार राज्य स्वयं करता था और इस प्रकार दलालों का मुनाफ़ा स्वयं ले लेता था। विभिन्न प्रकार के कच्चे माल से नाना प्रकार की वस्तुएं तैयार करने के लिए राज्य की ओर से कारखाने स्थापित किये गए थे। इसके अतिरिक्त चूंकि राजस्व अन्न के रूप में अदा किया जा सकता था इसलिए पूरे देश में बड़े-बड़े कारखाने कायम रखने पड़ते थे जहां कर के रूप में विपुल परिमाण में प्राप्त होनेवाली कृषि की पैदावार का तथा राजा की जमीनों की पैदावार का उपयोग किया जा सके। इसके अतिरिक्त राजधानी में कई कारणों से एक केंद्रीय अन्न-भंडार का होना भी आवश्यक था अकाल के समय में उपयोग के लिए, राज-परिवार के उपभोग के लिए, शाही कारखानों में कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल के लिए और अंत में राज-कर्मचारियों को वेतन के रूप में देने के लिए।

कृषि विभाग : अब हम प्रशासन के मुख्य-मुख्य विभागों के कामों का वर्णन करेंगे।

कृषि निदेशक (सीताध्यक्ष) : कृषि निदेशक (सीताध्यक्ष) (II.२४) के जिम्मे राजा की जमीनों पर या सरकारी कृषि फर्मों पर खेती का काम होता था।

बीजों का भंडार उसका कर्तव्य यह होता था कि वह विभिन्न फसलों के बीजों का भंडार अपने पास रखे—जैसे अनाज (धान्य) पुष्प फल सब्जी (शाक) जड़ी-बूटी (कंद) सन आदि (क्षौम) तथा कपास (कार्पास)।

खेत-मजदूर वह खेती-बारी के काम के लिए निम्नलिखित कोटियों के मजदूर रखता था (१) दास (२) मजूरी पर काम करनेवाले मजदूर (कर्मकर) और (३) सश्रम कारावास का दंड पाए हुए अपराधी (दण्डप्रतिकर्ता)।

खेती के औज़ार : उसे इन मजदूरों को खेती के लिए आवश्यक सभी चीजें देनी पड़ती थीं जैसे 'हल रस्सी हंसिया' जैसे औजार (कर्षण-यंत्र) और 'साथ में बैल भी। किसानों की सहायता के लिए शिल्पकारों (कारु) का भी प्रबंध किया जाता था जैसे लोहार (कर्मार: अयस्कार:) बढ़ई (कुट्टाक: तक्षा) खोदनेवाला (मेदक अथवा खनक अथवा मेदक) रस्सी बनानेवाला (रज्जुवर्तक:) और कृषि को हानि पहुंचानेवाले जन्तुओं (सर्पग्राहादि) को नष्ट करनेवाला।

वर्षा का विवरण : ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय विभिन्न प्रदेशों के

करण पड़ते थे। ये कर निम्नलिखित थे (१) पिण्डकर, गाँव का कर, (२) षड्भाग, कृषि की पैदावार में राज्य का छठवाँ भाग (३) सेनाभक्त, किसी इलाके में होकर गुजरती हुई सेना की रसद के लिए लगाया जानेवाला सैनिक कर (४) बलि, हर गाँव पर लगाया जानेवाला १ से २० पण तक का अतिरिक्त कर (५) कर, फलों की पैदावार में राज्य का हिस्सा (६) उत्संग, पुत्र के जन्म आदि जैसे खुशी के मौकों पर राजा को दिए जाने वाले उपहार, (७) पार्श्व, आपत्कालीन कर, (८) परिहीणक, पशुओं द्वारा फसलों को हुई होनेवाली हानि की क्षति-पूर्ति (९) औपायनिक, राजा को उपहार, (१०) कौष्ठेयक, राज्य के तालाबों द्वारा सींची जानेवाली भूमि का कर।

वस्तुओं के रूप में अदा किया जाने वाला उपर्युक्त सभी करों का राजस्व राष्ट्र कहलाता था क्योंकि वह देहातों या गाँवों के इलाकों से आनेवाला राजस्व होता था। अध्यक्ष का राज्य की कृषि की पैदावार की बिक्री की सरकार को मिलनेवाली रकम भी वसूल करनी होती थी।

इस प्रकार जो भंडार जमा होता था उसका आधा भाग सरकार के खर्च में लगाया जाता था और आधा उस पर आने वाली विपत्तियों (जैसे दुर्भिक्ष) के लिए बचाकर रखा जाता था (ततो ऽर्धं आपदर्थं स्थापयेत्)। यह भंडार जैसे जैसे खर्च होता जाता था वैसे-वैसे इसकी पूर्ति होती रहती थी।

कोष्ठागाराध्यक्ष का यह भी कर्तव्य होता था कि वह स्वयं इस बात की निगरानी रखे कि कूटने (क्षुण्ण) पिसने (घृष्ट) पीसने (पिष्ट) या भूनने (भृष्ट) या पानी में भिगोकर फुलाने में उसमें कितनी कमी या बढ़ती होती है।

कौटिल्य ने इस बात का भी हिसाब बताया है कि विभिन्न प्रकार के अन्नों की एक निश्चित मात्रा को पकाने आदि पर उससे कितना भोजन बन सकता है, विभिन्न प्रकार के तिलहनों में से कितना तेल निकलता है और कपास (कार्पास) और सन या जूट (क्षौम) की निश्चित मात्रा में से कितना सूत काता जा सकता है।

विभिन्न जातियों के लोगों, मर्दों औरतों और बच्चों, सिपाहियों, सेनानायकों (बलोपजीविनाम्), रानियों तथा राजकुमारों (देविकुमाराणां) सबके लिए भोजन की मात्रा निर्धारित थी। विभिन्न पालतू पशुओं के लिए भी यह मात्रा निर्धारित था।

इन नियमों तथा ब्यौरे की बातों से यह स्पष्ट पता चलता है कि इसमें प्रकार की राज्य की सम्पत्ति की व्यवस्था का भार सम्भालनेवाले अधिकारी को इस बात का सुनिश्चित बनाने के लिए कि राज्य की इस सम्पत्ति से विविध

प्रयोगों के दौरान में राज्य को आय की कोई हानि न होने पाए जितना नियंत्रण रखना पड़ता था।

अंत में हमें इस बात का भी विवरण मिलता है कि कोष्ठागार के भीतर अनाज पर वह कैसा दिखाई देता था। वहाँ अन्न के ऊँचे ऊँचे ढेर लगे होते थे पर उसका कोई भाग भूमि के सम्पर्क में नहीं रहता था। गुड़ की भेलियाँ बाँस की रस्सियों से बाँधकर रखी जाती थीं, तेल मिट्टी या लकड़ी के पात्रों में रखा जाता था, और नमक के ढेर भूमि पर लगे रहते थे।

खानों का अध्यक्ष (आकराध्यक्ष) [II,१२] आकराध्यक्ष को अपने विषय का वैज्ञानिक विशेषज्ञ होना चाहिए, और उसे निम्नलिखित विद्याओं का ज्ञान होना चाहिए (१) शुल्ब-शास्त्र (२) धातु-शास्त्र, (३) रस-पाक (४) मणि-राग, खानों की जानकारी, कच्ची धातुओं की परखों तथा चिह्नों का ज्ञान (भू-सिराविज्ञान) कालिमा और पारद, मणियों तथा बहुमूल्य रत्नों का ज्ञान। उसका काम था नई खानों की खोज करना, धातु-मल, राख आदि की सहायता से पुरानी खानों का पता लगाना और उनके आकार-प्रकार तथा रासायनिक गुणों से कच्ची धातुओं का मूल्य आँकना। उस जमाने में विभिन्न प्रकार की धातुएँ खानों से निकाली तथा इस्तेमाल की जाती थीं जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा (सीस), टीन (त्रपु), लोहा (तीक्ष्ण) और मिश्रधातु। कच्ची धातुओं को साफ करने और उनमें दूषित तत्त्व अलग करने और धातुओं को मृदु बनाने के लिए अनेक प्रक्रियाएँ इस्तेमाल की जाती थीं।

खनिज पदार्थों से तैयार की जानेवाली वस्तुओं का व्यापार एक ही केंद्र के हाथों में (एकमुखम्) था। जो माल तैयार करनेवाले, व्यापारी तथा विक्रेता इन चीजों का व्यापार निर्दिष्ट क्षेत्र की सीमाओं से बाहर (अन्यत्र) करते थे वे दण्ड के भागी थे। इस प्रकार खानों से धातु निकालने और उनसे तैयार की जानेवाली वस्तुओं के व्यापार पर राज्य का एकाधिकार था। परन्तु जिन खानों में बहुत अधिक पूँजी लगाने की या बहुत ज्यादा काम करने की आवश्यकता होती थी (व्ययक्रियाभारिकमाकरम्) वे उत्पादन में एक भाग के आधार पर या एक निश्चित राजस्व के आधार पर निजी व्यापार करनेवालों को दे दी जाती थीं (प्रक्षेपेण व्ययकारस्य एतावत् शुल्कमिति राजार्थं दैवमिति परिपण्य)। जिन खानों में कम पूँजी लगाने की आवश्यकता होती थी, उन्हें राज्य स्वयं अपने हाथ में रखता था (लाघविकं आत्मना कारयेत्)।

अपने काम के सिलसिले में खानों के अध्यक्ष का संबंध कुछ अन्य पदाधिकारियों के साथ रहता था जो इसी से सम्बन्धित काम करते थे।

धातुओं का अध्यक्ष (लोहाध्यक्ष): उसके जिम्मे ताँबा, सीसा, टीन,

पीतल तथा काँसा आदि धातुओं के बरतन बनाने (कर्मान्तान् तद्भाण्डव्यवहार कर्मान्ति) और इन चीजों के व्यापार (व्यवहार) करने का काम रहता था।

टकसाल का अध्यक्ष (लक्षणाध्यक्ष टंकशालाध्यक्ष) : यह निम्नलिखित प्रकार के सिक्के बनवाता था (१) रूप्यरूप (चाँदी के सिक्के जिसमें ११ हिस्से चाँदी ४ हिस्से ताँबा और एक हिस्सा लोहा, टीन सीसा या सुरमा होती थी (२) ताम्ररूप (ताँबे के सिक्के) जिसमें ४ हिस्सा चाँदी ११ हिस्सा ताँबा और एक हिस्सा तीक्ष्ण (लोहा या कोई दूसरी धातु) होता था। दोनों ही प्रकार के सिक्के चार मूल्यों के होते थे अर्थात् चाँदी के १ $\frac{1}{2}$ $\frac{1}{4}$ तथा $\frac{1}{8}$ पण के और ताँबे के १ $\frac{1}{2}$ $\frac{1}{4}$ तथा $\frac{1}{8}$ माष के। ताँबे के $\frac{1}{4}$ तथा $\frac{1}{8}$ माष के सिक्का को काकणी तथा अर्धकाकणी भी कहते थे।

अर्थशास्त्र के टीकाकार के अनुसार रूप्यरूप और कार्षापण एक ही सिक्के को कहते थे। यह एक मिश्र-धातु का बना होता था जिसमें अधिकांश चाँदी होती थी और राजकोष उसे स्वीकार करता था (कोशप्रवेश्य)।

ताम्ररूप एक ऐसी मिश्रधातु का बनाया जाता था जिसमें मुख्य भाग ताँबे का होता था और यह साधारण व्यवहार की (व्यावहारिक) मुद्रा थी।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत के प्राचीनतम प्रामाणिक सिक्के ये थे (१) सोने के जिन्हें सुवर्ण कहते थे (२) चाँदी के जिन्हें पुराण या धरण कहते थे और (३) ताँबे के जिन्हें कार्षापण कहते थे। ये सिक्के मनु द्वारा बताई गई (VIII १३२ तथा उससे आगे के पृष्ठ) तौल की स्थानीय पद्धति के अनुसार बनाए जाते थे। इस पद्धति में बुनियादी तौल रत्ति (रत्तिक) होती थी जो गुञ्जाफल (घुंघची) के बराबर होती थी। इसका वजन १.८३ ग्रेन या .११८ ग्राम के बराबर होता था। सुवर्ण ८० रत्ती = १४६.४ ग्रेन = [illegible]४८ ग्राम का होता था। सुवर्ण के अभी तक कोई नमूने नहीं मिले हैं। चाँदी का पुराण या धरण ३२ रत्ति = ५८.५६ ग्रेन = ३.७९ ग्राम का होता था और कार्षापण का वजन सुवर्ण के बराबर होता था। चाँदी तथा ताँबे के विभिन्न मूल्यों के ये सिक्के सारे भारत में कई जगह पाये गए हैं। ये पुराने सिक्के चौकोर या आयताकार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चाँदी के सिक्के धातु की [illegible] चादर से और ताँबे के सिक्के छड़ में से काटकर बनाए जाते थे। ये मुख्यतः केवल धातु के टुकड़े ही होते थे जिन पर यत्र-तत्र उनके वजन तथा शुद्धता पर निगरानी रखनेवाले अधिकारी की मुहर लगा दी जाती थी।

इसके अतिरिक्त एक अधिकारी और होता था जिसके जिम्मे धन-मुद्रा का निरीक्षण होता था जो रूपदर्शक कहे जाते थे। जो टकसाल से [illegible] [illegible] निश्चित दर [illegible] [illegible] [illegible] थे (देखिए ८ प्रतिशत [illegible] [illegible] [illegible]

के लिए बनाए गये नाप-तौल के विशेष मापकों के प्रयोग के बदले में सरकार को लाभ के रूप में ५ प्रतिशत व्याजी १/८ पण प्रतिशत का परीक्षण-शुल्क पारीक्षिक।

इन महत्त्वपूर्ण शासन-विभागों पर टीका करते हुए कौटिल्य ने लिखा है, "खनिज-उद्योग राज्य के लिए सम्पदा (कोश) का स्रोत है सम्पदा राज्य की सैनिक शक्ति का आधार है इन दोनों के संयोग से पूरी पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त होता है" (आकरप्रभवः कोशः कोशात् दण्डः प्रजायते)।

खानों का दूसरा अध्यक्ष (खन्याध्यक्ष) : खानों का एक दूसरा अध्यक्ष होता था जिसे खन्याध्यक्ष कहते थे उसका अधिकार-क्षेत्र अधिक सीमित होता था। उसका काम था शंख मोती तथा मूंगे हीरे और बहुमूल्य रत्नों तथा नमक से सम्बन्धित काम (कर्मान्तान्) और इन चीजों के व्यापार की देखभाल करना।

लवणाध्यक्ष : नमक के उत्पादन पर राज्य का एकाधिकार था और उस व्यवस्था का भार जिस अधिकारी पर होता था उसे लवणाध्यक्ष कहते थे। यह काम साधारणतः ठेके पर कराया जाता था और ठेकेदार से या तो निश्चित शुल्क लिया जाता था या उसे उत्पादन का एक भाग दे दिया जाता था। जिन लोगों को नमक-क्षेत्रों का ठेका दिया जाता था उन्हें उसका किराया (प्रक्रय) और नमक के कुल उत्पादन का छठा भाग (लवणभाग) देना पड़ता था। अध्यक्ष यह नमक बाजार के पूरे भाव पर बेचता था और व्याजी वसूल करता था (जो इस प्रकार वसूल की जाती थी कि सर्वसाधारण के उपयोग के और सरकार के उपयोग के तोल के बट्टों में पाँच प्रतिशत का अंतर होता था इसके अलावा वह ८ प्रतिशत का अतिरिक्त कर (शुल्क) और १/८ पण (रूप) प्रतिशत परीक्षण कर भी वसूल करता था।

बाहर से आनेवाले (आगन्तु) नमक पर इससे भी अधिक कर लगाया जाता था। इसका छठा भाग ले लिया जाता था और जब यह भाग बेचा जाता था तब उस पर ५ प्रतिशत व्याजी और ८ प्रतिशत अधिक वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ चुंगी (शुल्क) और कुछ क्षति-पूर्ति (वैधरण) भी इसलिए वसूल की जाती थी कि जितना नमक देश में न पैदा होकर बाहर से मंगाया जाता था उतनी राज्य को राजस्व की हानि होती थी (क्रेता शुल्कं राजपण्यच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्)।

यदि कोई नमक में मिलावट करता था या वानप्रस्थों (वानप्रस्थ) के अतिरिक्त कोई भी बिना लाइसेंस के नमक बनाता था तो उसे दंड दिया जाता था। धर्मग्रंथों के अध्ययन में संलग्न रहनेवाले लोगों (श्रोत्रिय) तपस्वियों और बिना मजदूरी पर काम करनेवाले मजदूरों (विष्टि) के अतिरिक्त अन्य सभी

श्रमिकों को नमक मुफ्त मिलता था केवल खाने के लिए, व्यापार के लिए नहीं। इस प्रकार नमक-कर का भार गरीबों पर बहुत अधिक नहीं पड़ता था।

सुवर्णाध्यक्ष : एक अधिकारी सुवर्णाध्यक्ष नाम का होता था जिसपर सोने और चांदी की चीजें बिल्कुल अलग-अलग बनवाने की जिम्मेवारी होती थी। उसका कार्यालय एक विशेष भवन में होता था जिसे अक्षशाला कहते थे [II, १३]। यहाँ सोने तथा चांदी की कलात्मक वस्तुएँ बनाई जाती थीं। पर सर्व-साधारण के लिए एक मान्यता-प्राप्त सुनार की निगरानी में गली सड़क पर (विशिखामध्ये) अलग एक दुकान होती थी। अर्थशास्त्र के टीकाकार के अनुसार 'उसका काम सोना चांदी तथा रत्न-आभूषण बेचने तथा खरीदने में जन-साधारण की सहायता करना होता था।' अर्थशास्त्र के इस अध्याय में विभिन्न कोटियों का सोना परखने तथा अलग-अलग पहचानने के तरीके, सोने तथा चांदी की चीजें बनाने और रत्नों की जड़ाई करने की विभिन्न प्रक्रियाएँ और कारखाने में काम करनेवाले कारीगरों की धोखेबाजी तथा चोरी से बचने के विस्तृत उपाय बताये गए हैं। नियम यह था कि जो कोई भी अक्षशाला का कर्मचारी नहीं होता था वह उसमें घुस नहीं सकता था। यदि कोई बाहरी घुसे तो उसका सर काट दिया जाता था (अक्षशालामनायुक्तो नोपगच्छेत् अभिगच्छन् उच्छेद्यः)। कारखाने में घुसने या कारखाने से बाहर निकलने से पहले हर आदमी की तलाशी भी ली जाती थी (विचित-समवगुप्त-गुह्यः प्रविशेयुः)।

राज-स्वर्णकार (सौवर्णिक) : अर्थशास्त्र में एक अध्याय [II १४] है जिसका शीर्षक है "विशिखायां सौवर्णिकप्रचारः" अर्थात् 'गली सड़क पर वाला सुनार'। इस अध्याय में यह बताया गया है कि राज-स्वर्णकार (सौवर्णिक) नगरवासियों तथा ग्रामवासियों का सोने तथा चांदी का काम करने के लिए शिल्पकार नियुक्त करेगा (आवेशनिभिः शिल्पिशालीयैः सुवर्णरजतानि)। वह इस बात का निगरानी रखता था कि ग्राहकों से पैसा और जितना माल मिला उसे वैसा और उतना ही माल वापस किया जाता है कि नहीं।

गलाई करने के बारे में यह नियम बताया गया है कि सोने से एक सुवर्ण (१६ माशे का) ढलवाने में एक काकणी ($\frac{1}{4}$ माशा) खाने की गुंजाइश ढालते समय नष्ट होनेवाली धातु के लिए रखी जानी चाहिये। किसी ऐसी दुकान पर जिसे सरकार से लाइसेंस प्राप्त न हो सोने तथा चांदी की चीजें नहीं बनाने दी जाती थी (सौवर्णिकसंरक्षितप्रकारं वा प्रयोगं कारयतो)।

वन का अध्यक्ष (कुप्याध्यक्ष) [II १७] : राज्य के वनों तथा उन की पैदावार की देखभाल करने के लिए एक अध्यक्ष होता था जिसे कुप्याध्यक्ष कहते थे। वनरक्षकों (वनपाल) की सहायता से इमारती तथा अन्य

लेख ५ में) कुछ पशुओं तथा पक्षियों के संरक्षण की घोषणा की है। यह सूची कौटिल्य की सूची से बहुत मिलती-जुलती है। अशोक का जीव-रक्षा का सिद्धान्त यह था कि किसी जीव को दूसरे जीव को अपना आहार नहीं बनाना चाहिए (जीवेन जीवे नो पुसितविये)। परन्तु वास्तव में उसका अध्यादेश कौटिल्य के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यह संरक्षण केवल अ-हानिकारक तथा अहिंसक पशुओं तक सीमित रखा जाए। आम तौर पर अशोक ने "उन सभी चौपायों" के संरक्षण की बात कही है "जो न तो किसी काम आते हैं और न जिनका मांस खाया जाता है" (पटिभोगं नो एति न च खादियति)। दोनों ने ही जिन प्राणियों की रक्षा का उल्लेख किया है वे हैं—हंस, शुक, सारिका, चक्रवाक, तथा बसते (सेडा)। कौटिल्य का संरक्षण का एक और सिद्धान्त था कि उन सभी प्राणियों का संरक्षण किया जाए जिन्हें शुभ माना जाता है (मंगल्या)।

मवेशियों का अध्यक्ष (गोध्यक्ष) [II २९] देश के मवेशियों अथवा पशुधन की देखभाल करने का भार राज्य के कंधों पर था क्योंकि कृषि का आधारभूत राष्ट्रीय उद्योग बहुत हद तक इस पर निर्भर था। गोध्यक्ष जिन पशुओं की देखभाल करता था उनमें ये पशु शामिल थे: गायें, भैंसें, बकरियाँ, गधे, खच्चर, भेड़ें, सूअर तथा कुत्ते। वह केवल उन पशुओं की ही देखभाल नहीं करता था जो राज्य की सम्पत्ति होते थे। बल्कि उन लोगों के निजी पशुओं की भी देखभाल करता था जो पशु चरानेवालों से रखा चाहते थे और इसके बदले में इन पशुओं से प्राप्त होने वाले दूध-दही आदि का एक भाग राज्य को देते थे।

यह विभाग निम्नलिखित प्रकार के पशुओं की देखभाल करता था:

(१) सौ-सौ पशुओं के गल्ले जिनकी देखभाल पांच प्रकार के कर्मचारियों का समूह करता था, अर्थात् (क) गायों का चरवाहा (गोपालक) (ख) भैंसों का चरवाहा (पिण्डारक), (ग) दूध दुहनेवाला (दोहक) (घ) दूध मथनेवाला (जो दही आदि बनाता था; दधिमथनकर्मी) और (ङ) शिकारी (लुब्धक) जो जंगली जानवरों से पशुओं की रक्षा करता था। कौटिल्य ने इस बात का भी उल्लेख किया है [XIV १] कि कुत्ते (श्वगण) गांवों की रखवाली करते थे (ग्रामे श्वगृहरक्षा)। इन सब कामों को निश्चित वेतन के आधार पर नौकर रखा जाता था और यह वेतन वस्तुओं के रूप में दिया जाता था (हिरण्यभृता)। उन्हें दूध या मक्खन का कोई भाग वेतन के रूप में नहीं दिया जाता था क्योंकि इसका भय था 'कि कहीं बछड़े उस दूध से वंचित न रह जाएँ जिस के सहारे उनका पोषण होता था'।

(२) सौ-सौ पशुओं के ऐसे गल्ले (करप्रतिकर) होते थे जिनमें बराबर

बराबर संख्या में बूढ़ी गायें, दूध देनेवाली गायें, गाभिन गायें, बछड़े तथा बछियाँ होती थीं, जिनकी देखभाल एक ही ग्वाला कर सकता था। उसे दूध-दही आदि का एक भाग पारिश्रमिक के रूप में मिलता था। इस प्रणाली को करप्रतिकर कहते थे।

(३) सौ-सौ पशुओं के ऐसे गल्ले, जिनमें रोगी या अपंग मवेशी होते थे या ऐसे मवेशी जिनके बच्चे नहीं मात्र ही रह सकता हो जो उनसे अभी आदि परिचित हो, या जिन मवेशियों को आसानी से न दुहा जा सकता हो (दुर्दोह) या ऐसे मवेशी जो मरे हुए बच्चों को जन्म देते हों (पुत्रघ्नि)। ऐसे बेकार और परित्यक्त पशुओं के गल्ले (भग्नोत्सृष्ट) की देखभाल एक ही आदमी करता था जिसे पारिश्रमिक के रूप में दूध-दही का एक भाग दे दिया जाता था।

(४) ऐसे पशु-समूह जो चोरी से बचाने के लिए राजकीय पशुशाला की निगरानी में छोड़ दिए जाते थे, जिसके बदले में राज्य उनसे प्राप्त होनेवाले दूध दही आदि का दसवाँ भाग वसूल कर लेता था। इस प्रणाली को भागानुप्रविष्टक कहते थे।

गोऽध्यक्ष का कर्तव्य अपनी निगरानी में रखे गए पशुओं का वर्गीकरण इन श्रेणियों में कर देना था : छोटे बछड़े, दो से चार वर्ष तक के बछड़े, पालतू मवेशी, बैल (वाहिन), साँड़ (वृष), पानी में चलने जाने वाले बैल, वे भैंसे जिनका मांस खाया जाता था और बोझ ढोनेवाले भैंसे।

मवेशियों को मारने या चुराने पर मृत्युदण्ड दे दिया जाता था।

ग्वालों से आशा की जाती थी कि वे मवेशियों के रोगों की चिकित्सा करेंगे।

वे कच्चा (मांसम्) या पकाया हुआ या सुखाया हुआ मांस बेच सकते थे।

वे कुत्तों तथा सूअरों को छाछ (उदश्वित) पिलाते थे।

वर्षा, शरद् तथा हेमन्त ऋतुओं में दिन में दो बार दूध दुहा जाता था और शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतुओं में केवल एक बार।

छः महीने में एक बार भेड़ों तथा बकरियों का ऊन (ऊर्णा) उतारा जाता था।

सभी पशुओं के लिए 'प्रचुर मात्रा में चारे तथा पानी का प्रबन्ध करना' आवश्यक था।

चरागाहों का अध्यक्ष (विवीताध्यक्ष) : मवेशियों के अध्यक्ष के साथ चरागाहों का भी एक अध्यक्ष होता था जिसे विवीताध्यक्ष कहते थे [II, ३४]। यह अधिकारी पशुओं के चरने का प्रबन्ध करता था। वह पशुओं के चरने के लिए चरागाहों का प्रबन्ध ऐसी जगहों पर करता था जो 'पशुओं के चारा तथा

धीपों से सुरक्षित हों। जिसकी भूमि पर स्थित वनों में ये विशेष रूप से पाए जाते हैं।"

जिन इलाकों में पानी नहीं होता था वहां कुओं तालाबों तथा बांधों (सेतु बन्ध) का और फूलों तथा फलों की वाटिकाओं के लिए वन के छोटे-छोटे स्रोतों (उत्स) का प्रबंध करके नए चरागाह स्थापित करता था। यह अध्यक्ष कई शिकारियों (लुब्धक) को नौकर रखता था कि वे जंगलों की रखवाली करने के लिए अपने शिकारी कुत्ते (श्वगण) लेकर उनमें घूमा करें। लुब्धकों के बारे में यह भी कहा गया है कि वे अपने शिकारी कुत्तों की सहायता से चोर पकड़ते थे [IV १]।

अंत में उसका काम यह होता था कि इमारती लकड़ी तथा हाथियों के जंगलों (द्रव्य-हस्ति-वन) की जो पैदावार बच जाए (आजीव) उसका उपयोग निम्नलिखित कामों के लिए करे (१) परिवहन की सुविधाएं प्रदान करने के लिए (वर्तनी) (२) चोरों से रक्षा के लिए (चोर रक्षणम्) (३) काफिलों की रक्षा के लिए (सार्थातिवाह्यम्) (४) मवेशियों की रक्षा के लिए (गो रक्षणम्) और (५) इन वस्तुओं की लेन-देन तथा क्रय विक्रय आदि (व्यवहार)।

पासपोर्ट का अध्यक्ष (मुद्राध्यक्ष) पासपोर्ट के लिए एक अध्यक्ष होता था जिसे मुद्राध्यक्ष कहते थे। यह एक माष का शुल्क लेकर हर यात्री को यात्रा का अनुमति-पत्र देता था। इस अनुमति-पत्र के बिना यात्रा करनेवाले को १२ पण दंड देना पड़ता था।

नौकानयन का अध्यक्ष (नावध्यक्ष) [II २८] उसे जल-मार्गों से होनेवाले हर प्रकार के यातायात पर नियंत्रण रखना पड़ता था—नदियों में भी और समुद्रों में भी समुद्र से उसके तट तक (समुद्र-संयान) या नदी के मुहाने पर (नदीमुख) या झीलों (देवसर) तथा तालाबों (विसर) में ये मार्ग कहीं भी हों प्रशासन के केन्द्र में या स्थानीय मार्ग—नावध्यक्ष उनका निरीक्षण करता था।

नदियों तथा समुद्रतट पर चौकसी भी वही करता था राज्य की ओर से नावों तथा जहाज का प्रबन्ध करता था तमाम यात्रियों से भाड़ा (यात्रावेतनम्) वसूल करता था बंदरगाह के प्रचलित नियमों (पत्तनानुवृत्तम्) के अनुसार घाट पर अदा किये जानेवाले सारे महसूल (शुल्कभाग) और नदी के किनारे तथा समुद्र के किनारे बसे हुए गांवों से कर (क्लृप्तम्) जमा करता था और जितनी मछलियाँ पकड़ी जाती थीं उनकी बिक्री की रकम का छठा भाग नावों के भाड़े (नौकाभाटक) के रूप में वसूल करता था।

मोती तथा शंख निकालने पर भी कर लगता था पर यदि कोई इस काम के लिए अपनी नाव इस्तेमाल करे तो उस पर यह कर नहीं लगता था।

या कोई भी बिना अनुमति के नदी पार करता था (अनिसृष्टतारिणः) या सरकार द्वारा निश्चित किये गए स्थानों अथवा समयों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान से या अन्य किसी समय पर नदी पार करता था (अतीर्थे अकाले च तरताम्) तो उस पर जुर्माना किया जाता था। अपराधी संदिग्ध चरित्र के लोग, भाग कर सजा करने से बचने की कोशिश करनेवाले या विष (विषहस्तम्) गुप्त हथियार (गूढशस्त्र) और विस्फोटक पदार्थ (अग्नियोगम्) लेकर चलनेवाले लोग गिरफ्तार कर लिए जाते थे।

इन लोगों से नदी पार करने का कोई भाड़ा नहीं लिया जाता था : मछुए (कैवर्त); ईंधन तथा घास ले जाने वाले (काष्ठ तृणभार); फल-फूल की वाटिकाओं (पुष्पफल-वाट) के रखवाले; पशु-बैलों की निगरानी करनेवाले चरवाहे (षण्ड-गो-पालक); अपराधियों का पीछा करनेवाले पुलिसवाले; गुप्तचर और राजा की खबर पहुँचानेवाले; फौज सामग्री के लिए सामान (भक्त); गाँवों में प्राप्त होनेवाली चीजें जैसे फूल फल तरकारी आदि (द्रव्य पुष्प-फल-शाकादि) ले जानेवाले लोग; दलदलवाले इलाके में रहने वाले लोग (अनूप-ग्रामाणाम्) और ब्राह्मण साधु, बच्चे, वृद्ध तथा रोगी और गर्भवती स्त्रियाँ।

अध्यक्ष का यह कर्तव्य होता था कि यदि कोई जहाज तूफान में फँसकर टूट फूट जाए (वाताहत) या रास्ता भटक जाए (मूढ) तो वह पिता के समान उसकी रक्षा करे (पितेवानुगृह्णीयात्) और यदि किसी व्यापार करनेवाले जहाज को जल से कोई हानि पहुँची हो (उदक-प्राप्त) तो उससे आधा शुल्क ले (अर्ध-शुल्क) या बिल्कुल ही शुल्क न ले (अशुल्क)।

जो जहाज अपनी यात्रा के मौसम में (संयातीर्नावः) किसी बंदरगाह पर आते थे उन्हें बंदरगाह पर ठहरने का भाड़ा देना पड़ता था।

लूटमार करने वाले (हिंसिका) या शत्रु के देश की ओर जानेवाले (अमित्र विषयातिगा) या बंदरगाह के नियमों का उल्लंघन करने वाले (पण्य-पत्तन चारित्रोपघातिकाः) नष्ट कर दिए जाते थे।

छोटी-बड़ी सभी नदियों के घाटों पर राज्य की ओर से जहाजों और नावों को चलानेवाले कर्मचारियों का हर समय प्रबन्ध रहता था। हर जहाज पर एक कप्तान (शासक), जहाज को ठीक चलानेवाला (नियामक), रस्से के औजारों की देखभाल करनेवाला (दात्र-ग्राहक), पाल की रस्सियों को संभालने वाले (रश्मि-ग्राहक) तथा पानी उलीचनेवाला (उत्सेचक) रहते थे।

पार का मामूल निश्चित था और जो जिस प्रकार का तथा जितना भारी

बोझ के आता था जैसे ऊंट भैंसे बैलगाड़ियाँ आदि उससे उतना ही महसूल लिया जाता था ।

बंदरगाहों का अध्यक्ष (पत्तनाध्यक्ष) [II २८] : उसका काम होता था बंदरगाहों पर नियंत्रण रखने के लिए (पण्य-पत्तन-चारित्रम्) नियम (निर्णय) बनाना नावाध्यक्ष इन नियमों को मानने पर बाध्य था ।

वाणिज्य-अध्यक्ष (पण्याध्यक्ष) [II १६] उसके जिम्मे माल की पूर्ति उसकी कीमतों और उसके क्रय-विक्रय पर नियंत्रण रखने का काम होता था । देश के भीतर तैयार होनेवाला वह माल जिस पर राज्य का स्वामित्व होता था (स्व-भूमिज-राजपण्य) एक ही मंडी में बेचा जाता था (एक मुखम्) और उसकी बिक्री केंद्रीकृत होती थी और विदेशों से आनेवाला माल कई मंडियों में बेचा जाता था (अनेक-मुखम्) ।

पण्याध्यक्ष के अधिकार-क्षेत्र में चीजों के क्रय-विक्रय तथा उनकी कीमतों पर राज्य की ओर से नियंत्रण रखने की भी व्यवस्था थी । चीजों की प्रचलित कीमतों (अर्घवित) की पूरी जानकारी रखना उसके लिए आवश्यक था । वह व्यापारियों को लाइसेंस देकर (अनुज्ञातः) अन्न तथा अन्य बिकाऊ माल के भंडारों पर नियंत्रण रखता था ।

अनधिकृत भंडार जब्त कर लिये जाते थे । जब व्यापारियों के किसी एक विशेष समूह को व्यापार करने का लाइसेंस दे दिया जाता था तो जब तक उनका सारा माल बिक न जाए तब तक किसी दूसरे व्यापारी को लाइसेंस नहीं दिया जा सकता था ।

यह नियम इसलिए बनाया गया था कि प्रतिद्वंद्विता के कारण कोई व्यापारी कीमतें न गिराने पाए ।

अध्यक्ष अपना सब माल बिक जाने के समय तक के लिए केवल एक ही केंद्रीय मंडी के जरिए बिक्री को नियमित करा सकता था (एकमुखं व्यवहारं स्थापयेत्) । उस समय तक किसी दूसरे को वही माल बेचने की इजाजत नहीं होती थी ।

मुनाफ़ाखोरी को रोककर भी अध्यक्ष कीमतों पर नियंत्रण रखता था । ऐसा करने के लिए वह थोक कीमत निश्चित कर देता था और उस पर थोड़े से मुनाफ़े (आजीव) की गुंजाइश रख कर फुटकर कीमत तै कर देता था । इस मुनाफ़े की दर देश के भीतर बननेवाली चीजों के लिए (स्वदेशीयानां पण्यानाम्) ५ प्रतिशत और विदेशी माल के लिए १० प्रतिशत होती थी ।

यदि कोई व्यापारी कीमतों की नियत दर से अधिक मुनाफ़ा कमाने की

कोशिश करता तो उसे कम से कम २०० पण जुर्माना देना पड़ता था और यह जुर्माना उसके अपराध के अनुपात से बढ़ता जाता था।

इस हितकर नियम का उद्देश्य लाभ की मात्रा को व्यापारी की उचित दैनिक आय (दिवसवेतनम्) के हिसाब से सीमित करके जनता (उपभोक्ताओं) को लाभ पहुँचाना था (अनुग्रहेण प्रजानाम्) [II १६ IV २]।

कीमतों के बारे में यह नियम था कि वे इतनी नहीं होनी चाहिए, कि जनता उनका भार सहन न कर सके (अनुग्रहेण अपीडया) और न राज्य को जनता पर भार डालकर मुनाफा ही कमाना चाहिए (स्थूलमपि च लाभं प्रजानां औपघातिकं वारयेत्)।

जिन वस्तुओं की खपत जीवन की नित्य आवश्यकताओं में होती है जिनकी मांग तथा पूर्ति की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती (अजस्रपण्य जैसे दूध तथा तरकारियाँ) वे हर समय हर स्थान पर बेची जाती थीं।

राज्य अपने माल की बिक्री के लिए व्यक्तिगत व्यापारियों को अपना एजेंट नियुक्त कर सकता था लेकिन शर्त यह थी कि यदि हानि होगी तो वह व्यापारी उसे पूरा करेगा (छेदानुरूपं वैधरणं)। परन्तु इस प्रकार की बिक्री एक ही केन्द्रीय मंडी में न होकर कई मंडियों (बहुमुखम्) में करने की इजाजत होनी चाहिए।

राज्य को सुविधाएं देकर (अनुग्रहेण) जैसे इस बात का आश्वासन देकर कि सीमान्त पुलिस अफसर आदि व्यापारियों को परेशान नहीं करेंगे और व्यापारी आदि महसूलों से छूट देकर आयात व्यापार को प्रोत्साहन देना चाहिए। समुद्र के रास्ते आयात-व्यापार (नाविक-सार्थवाह) को विशेष सुविधाएं दी जानी चाहिएं।

विदेश से आने वाले व्यापारियों पर (आगन्तूनाम्) ऋण के लिए मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था (अनभियोगश्चार्थेषु) पर जो लोग व्यापार में उनकी सहायता करें उनके प्रति उन्हें अपने दायित्व पूरे करने चाहिए (अन्यत्र सभ्योपकारिभ्य: तदुपकारि-कर्म-करान्-अपवाय)।)

व्यापारिक माल का निर्धारण भी करना था जो विभिन्न कर जैसे चुंगी (शुल्क) सड़क का कर (वर्तनी) रास्ता-कर (आतिवाहिक) नाव कर (गुल्मदेय) घाट कर (तरदेय) आदि चुकाने के बाद लागत लाभ की गुंजाइश हो (उदयं पश्येत्)।

यदि घाटा का [illegible] से विनिमय [illegible] और भी जारी किया [illegible] और [illegible]। वह अपने विदेशी मंडियों में माल के नमूने भेजता था [illegible] तथा [illegible] पर माल [illegible]

बृहत्संहिता में मिलता है, जो भारतवर्ष के पश्चिम या कदाचित् उत्तर-पश्चिम के इलाके में रहते थे।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये मदिराएँ इससे पहले भी इस्तेमाल की जाती थीं। पाणिनि ने कापिशायन तथा कापिशायनी के नाम से उनका उल्लेख इस अर्थ में किया है, कि ये कापिशी नामक देश में बनाई जाती थीं (IV,२,९९)। कपिशा (= आधुनिक काफ़िरिस्तान) उस प्रदेश को कहते थे जो कुनर नदी तथा हिंदुकुश के बीच में स्थित था जिसके बाद बाह्लीक प्रदेश था।

इसी प्रकार जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है हारहूरक उस मदिरा को कहते थे जो हरह्वैति (अवेस्तन) नामक नदी की घाटी में बनाई जाती थी पुरानी फ़ारसी में इस नदी का नाम हरहुवती था और आजकल इसे हेल्मंद कहते हैं।

आज भी मुनक्के के लिए हरहूरा नाम का प्रयोग किया जाता है और, जैसा कि भट्टोजी दीक्षित ने बतलाया है कापिशायन एक प्रकार की मद्य अर्थात् मदिरा होती थी (जो शायद सूखे अंगूरों से बनायी जाती थी) और कापिशायनी एक प्रकार का द्राक्ष होता था।

यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में ये प्रदेश जहाँ ये मदिराएँ बनाई जाती थीं भारतीय साम्राज्य के अंतर्गत थे।

उन्मुक्त मदिरापान : उत्सवों के अवसरों पर (उत्सव कालस्थापि-उत्सवेषु) सामाजिक समारोहों के अवसर पर (समाजसंगुमन-मेलनेषु) और धार्मिक उपासना के अवसर पर (यात्रा इष्टदेवतापूजा) चार दिन तक बिना किसी रोक-टोक के और प्रमाणित मदिरालयों के बाहर भी मदिरापान की छूट होती थी। परन्तु यदि कोई इस छूट की सीमा का उल्लंघन करता था तो सुराध्यक्ष उन लोगों पर, जो इस अवधि के बाद भी मदिरापान करते हुए पाए जाते थे प्रतिदिन कुछ जुर्माना करता था (जिससे कि वे अपने काम का हर्ज न करें)।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि आबकारी के ये सारे नियम मद्य निषेध को सरकार का अंतिम लक्ष्य मानकर बनाये गए थे।

मेगास्थनीज : हम यह बात भी ध्यान में रखें कि मेगास्थनीज ने लिखा है कि भारतवासी यज्ञों के अवसर पर मदिरापान करते थे और यह कथन उस बात के सर्वथा अनुकूल है, जो कौटिल्य ने इन अवसरों पर मदिरा के विशेष आदेश दिए जाने के बारे में कहा है।

पौतवाध्यक्ष (नाप-तोल के मापदंडों का अध्यक्ष) [II,१९] नाप-तोल के मापदंड पौतवाध्यक्ष बनवाता था। बाट लोहे के या मगध तथा मेकल के पत्थ

के या अन्य किसी ऐसी चीज के बनवाए जाते थे जो गरम होने पर न तो बढ़ें न ठंडे होने पर सिकुड़ें। छः अंगुल या उससे अधिक लम्बी डंडियों वाली पलड़ेदार तुलाएँ बनाई जाती थीं। निजी व्यापार करनेवाले लोग नाप-तोल के जो मापदंड इस्तेमाल करते थे उन पर अध्यक्ष मुहर लगाता था और इस काम के लिए उनसे चार माष का शुल्क लेता था। हर चार महीने बाद नाप-तोल के मापदंडों की जाँच-पड़ताल की जाती थी और इसका खर्च पूरा करने के लिए, 'एक काकणी' प्रतिदिन का विशेष कर वसूल किया जाता था। सरकार ने लम्बाई तथा क्षेत्रफल नापने और समय नापने के मापदंड भी निर्धारित कर दिए थे।

सूत्राध्यक्ष (बुनाई तथा कताई का अध्यक्ष) [II २३] सूत, कपड़ा, कवच (वर्म) तथा रस्सियाँ बनाने के लिए सरकारी कारखाने थे।

श्रमिक स्त्रियाँ इन कारखानों में ऊन (ऊर्णा) छाल (वल्क) कपास रेशमी कपास (तूल) सन (शण) तथा क्षौम का धागा कातने के लिए (कर्तयेत्) औरतों को काम पर रखा जाता था।

काम पर ऐसी ही औरतों को रखा जाता था जिनका भरण-पोषण करनेवाला कोई न हो जैसे विधवाएँ, अपंग औरतें (न्यंगा) लड़कियाँ साध्वियाँ दंडित स्त्रियाँ वृद्ध दासियाँ आदि।

परदा करनेवाली औरतें जो कारखाने में काम करने नहीं आ सकती थीं उनके लिए कारखाने में काम करनेवाली दूसरी औरतों के हाथ (स्वदासीभिः) उनके घर काम भिजवा दिया जाता था। कता हुआ सूत सूत्रशाला में देना होता था।

मजदूरी जितना और जिस कोटि का काम किया जाता था उसी के अनुसार मजदूरी मिलती थी। पारिश्रमिक देने में विलम्ब करने पर दंड दिया जाता था (वेतनकालातिपातने मध्यमः साहसदण्डः)।

उत्पादित वस्तुएँ क्षौम (सन या जूट) दुकूल (रेशम) कृमितान (कीड़े से प्राप्त होने वाला रेशम) रांकव (हिरन का ऊन) और कार्पास (कपास) आदि विभिन्न चीजों का सूत काता जाता था (सूत्रवान-कर्म)।

नए-नए नमूनों के (उपायपर्येन् अनुमानि निर्वर्तयेत) बने-बनाए वस्त्र कम्बल (आस्तरण) और परदे (प्रावरण) भी बनाए जाते थे।

सूत की रस्सियाँ और बेंत तथा बाँस की छाल की बुनी हुई पेटियाँ (वरत्रा) भी कारखाना में बनाई जाती थीं जिनसे भारवाहक पशुओं को बाँधा तथा नथाया जाता था।

सूचना तथा गुप्तचर पुलिस का विभाग (I ११ १२; II ४५) इस विभाग का काम गुप्तचरों (गूढ़-पुरुषाः) के हाथ में होता था जो एक विशेष

किसी गाँव में ले जाते थे और वहाँ पहले से ही छिपे हुए किसी घर में घुसते थे और वहाँ उन्हें वे सब अपराध करने देते थे। चोरों को पकड़वाने के लिए वे चोरों का भेष धारण करके चोरों के साथ हो जाते थे।

हमें ऐसे जासूसों का भी उल्लेख मिलता है, जो लुटेरों का भेष बनाकर अपराधी वन्य-जातियों के बीच जाते थे और उन्हें किसी काफिले पर या किसी ऐसे गाँव पर हमला करने के लिए उकसाते थे जिसमें पहले से उन्हें फँसाने के लिए नकली सोना तथा और सामान भर दिया जाता था। जब योजना के अनुसार आक्रमण होता था तो या तो आक्रमणकर्ता वहाँ पर उनकी ताक में पहले से नियुक्त किये गए सैनिकों द्वारा मौत के घाट उतार दिए जाते थे या जब वे विशेष रूप से उनके लिए तैयार किया गया विषाक्त भोजन करके नशे में सो जाते थे तब उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाता था (IV,४,५)।

राजदूत विभाग (I १६) सरकार का एक राजदूत विभाग भी था जो देश के वैदेशिक सम्बन्धों का काम देखता था। राजदूत पूर्णतः योग्य अमात्यों में से भरती किए जाते थे और वे विभिन्न श्रेणियों के होते थे (१) निसृष्टार्थ सर्वाधिकार-सम्पन्न राजदूत (२) परिमितार्थ ऐसा राजदूत जो केवल एक सीमित उद्देश्य को लेकर भेजा जाता था और (३) शासन-हर, वह राजदूत जो कोई संदेश लेकर भेजा जाता था अर्थात् राजाज्ञा ले जानेवाला राजदूत।

जब किसी राजदूत को किसी दूसरे देश भेजा जाता था तो उसे बड़ी धूमधाम के साथ हर प्रकार की आवश्यक सामग्री से पूरी तरह लैस करके ही भेजा जाता था उसके लिए गाड़ी (यान) सवारी (वाहन) के लिए घोड़ों तथा अन्य पशुओं नौकरों-चाकरों (पुरुष) और यात्रा के लिए समुचित भोजन तथा विश्राम (परिवाप) का प्रबन्ध कर दिया जाता था। राजदूत को राजा का प्रवक्ता (दूतमुखाः राजानः) कहा गया है। उसे इस बात का पूरा ज्ञान होना चाहिए कि विदेशों में उसका आचरण किस प्रकार का होना चाहिए। उसे अधीर नहीं होना चाहिए और जब तक उसका काम समाप्त न हो जाए और उससे वहाँ से चले जाने को कह न दिया जाए (बलेनविसृष्टः) तब तक उसे वहीं रहना चाहिए। उसके प्रति जो सम्मान अथवा आदर-सत्कार प्रकट किया जाए (पूजया नोत्सिक्तः) उससे उसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। उसे पूर्ण नैतिक संयम से जीवन व्यतीत करना चाहिए और नारी तथा मदिरा से दूर रहना चाहिए (स्त्रियः पानञ्च वर्जयेत्)। उसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे जाते थे जैसे राजा का संदेश पहुँचाना संधियों का पालन करना (संधिपालनम्) अंतिम चेतावनी (प्रताप) देना मित्र बनाना (मित्र-संग्रह) राजनीतिक षड्यंत्र (उपजाप) करना शत्रु के मित्रों को तोड़ना (सुहृद-भेद) आदि।

देवताध्यक्ष (धार्मिक संस्थाओं का अध्यक्ष) इस पदाधिकारी का नाम देवताध्यक्ष सर्वथा उचित ही था (V,२)। नगरों तथा गाँवों के सभी मंदिरों तथा उनकी सम्पत्ति की जिम्मेदारी उस पर होती थी। वह किसी भी पुराने मंदिर, नई मूर्तियों अथवा शिव-लिंग की स्थापना करा सकता था और इस शुभ अवसर पर धार्मिक उत्सवों तथा समारोहों का आयोजन कर सकता था जिनमें वह इन संस्थाओं के लिए तीर्थ-यात्रियों द्वारा चढ़ाया जानेवाला धन जमा करता था (यात्रा-समाजाभ्यां आजीवेत्)।

मुख्य पदाधिकारियों की सूची कौटिल्य ने इन मुख्य पदाधिकारियों की एक सूची दी है (I १२) जिनमें ये शामिल हैं (१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) सेनापति (४) युवराज, (५) दौवारिक (६) अंतर्वंशिक, (७) प्रशास्ता जिस पर सैनिक पड़ावों की व्यवस्था का भार रहता था (८) समाहर्ता (९) सन्निधाता (१०) प्रदेष्टा (११) नायक, (सेनानायक) (१२) पौरव्यावहारिक (१३) कार्मान्तिक (खनिज-उद्योग का अध्यक्ष) (१४) मंत्रि-परिषद्-अध्यक्ष (१५) दण्डपाल (मुख्य सेनानायक, जो सेनापति से भिन्न होता था। सेनापति अक्षौहिणी सेना का प्रधान अथवा ईश्वर होता था—इस सेना में २१,८७० रथ इतने ही हाथी ६५,६१० घोड़े और १०९,३५ पैदल सिपाही होते थे) (१६) दुर्गपाल (१७) अन्तपाल और (१८) आटविक (अटवीराज्याधिपति 'अर्थात् वन-राज्य का स्वामी')। कौटिल्य ने इन अठारह मुख्य पदों को अष्टादशतीर्थ भी कहा है।

अध्याय ७

भू-व्यवस्था तथा ग्राम-प्रशासन

पैमाइश : खेती की जमीन रज्जु के पैमाने से नापी जाती थी (१ रज्जु = १० दण्ड = ४० हाथ, १ हाथ = ५४ अंगुल होता था)। अलग-अलग प्रकार की जमीनों के लिए अलग-अलग मापदंड प्रयोग में लाते थे—जैसे सैनिक पड़ाव की भूमि, इमारती लकड़ी के जंगल, सड़कें तथा कुएँ, माफी की जमीन जिसका लगान नहीं लिया जाता था, आदि।

पैमाइश तथा बन्दोबस्त का खर्च जमीन के मालिक से लिया जाता था, जिसे इससे लाभ होता था।

बन्दोबस्त : जमींदार के रूप में राज्य के कर्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ मनोरंजक आदेश दिये गए हैं। सबसे पहले तो ऐसे गाँवों की स्थापना की जाती थी जिनमें कम से कम १०० और अधिक से अधिक ५०० परिवार हों। राज्य दूसरे प्रदेशों के लोगों को सहायता देकर इन गाँवों में लाकर बसाता था (परदेशापवाहनेन) या वह स्वयं अपने देश के अधिक घने बसे हुए इलाकों के लोगों को इन क्षेत्रों में लाकर बसा देता था (स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन)।

दो गाँवों के बीच में कोई सुनिश्चित सीमा-रेखा होती थी जैसे नदी, पहाड़ी, जंगल, झाड़ियाँ (गुल्म), घाटी (दरी), तटबंध (सेतुबंध) और शाल्मली, शमी या वट के वृक्ष। यह भी आदेश था कि गाँव एक-दूसरे से बहुत दूर न हों। उन्हें एक-दूसरे से हद से हद एक या दो क्रोश (कोस) दूर होना चाहिए ताकि समय

पड़ने पर वे एक-दूसरे की रक्षा कर सकें। (अन्योन्यारक्षम्) [II १]।

गांवों में सामूहिक जीवन को प्रोत्साहन देने के लिए १०-१० गांवों को एक ही प्रशासन-केंद्र के रूप में संगठित कर दिया जाता था जिसे संग्रहण कहते थे २ २०० गांवों के सामूहिक प्रशासन-केंद्र को कार्वटिक और ४००-४०० गांवों के सामूहिक प्रशासन केंद्र को द्रोणमुख कहते थे इस प्रकार अंत में ८०० गांवों का संघ बन जाता था जिसे महाग्राम कहते थे। और इसके प्रशासन केंद्र को स्थानीय कहते थे जो संस्कृति वाणिज्य व्यापार तथा जीविकोपार्जन के साधनों का केंद्र होता था जहां उस पूरे इलाके के ग्रामवासी एकत्रित होकर सामूहिक जीवन का निर्माण करते थे (II,१)।

जिन लोगों की सेवाओं की मांग की जरूरत होती थी उन्हें राज्य की ओर से भूमि दी जाती थी और उस पर कोई लगान या कर भी नहीं वसूल किया जाता था। ऐसे लोगों में इनकी गणना की जाती थी—(१) जो लोग धार्मिक संस्कारसंपन्न कराते थे (२) अध्यापक (३)पुरोहित तथा(४) विद्वान [II १]।

इस प्रकार की माफी भूमि गांव के राजकर्मचारियों को भी वेतन के बदले दी जाती थी जिसे बेचना या रेहन रखना मना था (विक्रयाधानवर्जम्)। भूमि के अनुदान के रूप में विभिन्न कोटियों के पदाधिकारियों का वेतन मनुस्मृति (IV,११९) तथा महाभारत (XII,८७ ९-८) दोनों ही में इस प्रकार निर्धारित किया गया है १० गांवों के शासक को १ कुल भूमि २ गांवों के शासक को ५ कुल और १०० गांवों के शासक को एक पूरा गांव और १००० गांवों के शासक को एक पूरा नगर। कुल की व्याख्या यह की गयी है कि "जितनी भूमि १२ बैलों से जोती जा सके"

जो भूमि कृषि योग्य न हो उसे कोई व्यक्ति कृषि के योग्य बनाये तो (उस का पट्टा उस के जीवन भर के लिए उसको कर दिया जाता था। जो भूमि खेती लायक न हो वह उनसे न ली जाए जो उसे खेती के योग्य बना रहे हों।

यदि किसी जमीन पर खेती न की जाए, तो वह जब्त की जा सकती थी। इस प्रकार जो भूमि खाली होगी वह सबसे पहले उसी गांव के अन्य कृषकों को दी जाएगी। यदि यह न हो सके तो फिर राज्य उस पर अधिक लाभकों के अलग लोगों को बसाएगा जो उसे उपयोगी बना सकें और उसका लगान अदा कर सकें। इन लोगों को स्वयं गांव की ओर से वेतन देकर भी रखा जा सकता है (ग्रामभृतक)। स्थानीय व्यापारी (वैदेहक) भी इसी शर्त पर भूमि पा सकते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि कृषि की उन्नति के लिए पूर्णतः उन लोगों पर निर्भर रहने के बजाय जो जमीन जोतने थे या उस पर खेती करते थे ऐसे पूंजीपतियों की भी सहायता ली जाती थी जो स्वयं खेती नहीं करते थे।

बीज पशु तथा पैसा (हिरण्य) किसानों को उधार देकर कृषि को प्रोत्साहन देना राज्य का कर्तव्य है ताकि किसान भूमि को लाभप्रद बना सकें और बाद में (अनु) यह ऋण तथा देय-धन राज्य को बिना किसी कठिनाई के अदा कर सकें (सुखेन दद्यात्) ।

राज्य स्वयं हानि उठाकर किसानों का लगान में छूट (अनुग्रहपरिहार) नहीं दे सकता (महाभारत XII८७,५,८) ।

कौटिल्य के मतानुसार [VII,११] जिस देश की अधिकांश जनसंख्या निम्न वर्गों के लोगों की (अवरवर्ण-प्राय) हो वह आर्थिक दृष्टि से देश की अपेक्षा अच्छा (श्रेयसी) होता है जिसकी जनसंख्या का अधिकांश भाग चार वर्णों में से उच्चतम वर्णों के लोगों (चातुर्वर्ण्याभिनिवेशे) का हो । निम्न वर्गों के लोग कृषि की आवश्यकताओं के अनुसार हर प्रकार का काम कर सकते हैं तथा हर प्रकार की कठिनाइयाँ सहन कर सकते हैं (सर्व-कर्मसहत्वात्) । इसके अतिरिक्त कृषि पशुओं पर निर्भर रहती है और शूद्र चरवाहे होते हैं और पशुपालन द्वारा अपनी जीविका कमाते हैं (पशुपाल्य) । इसके अतिरिक्त वैश्यों की भी आवश्यकता होती है, जो अन्न के भंडार जमा करके रखते हैं और फसलों के आधार पर खेती बारी के लिए ऋण देते हैं (पण्य-निचयऋणानुग्रहात्) । कौटिल्य ने कृषि को सबसे अच्छा उद्योग माना है क्योंकि इस बहुत-से स्थानों पर (बाहुल्यात्) चलाया जा सकता है और इसके परिणाम निश्चित होते हैं (ध्रुवत्वात्) । अतएव कौटिल्य का मत यह है कि सबसे अच्छी भूमि वह होती है जो (१) कर्षणवती अर्थात् खेती के लिए उपयुक्त (२) गोरक्षकवती अर्थात् जहाँ चरवाहे बहुत बड़ी संख्या में हों और (३) जो वणिग्वती हो अर्थात् जहाँ कृषि में पैसा लगानेवाले व्यापारी बहुत बड़ी संख्या में हों । निम्न जातियों के उचित महत्व का समझना और भारतीय अर्थतंत्र का पूर्णतम ज्ञान कौटिल्य जैसे कट्टर ब्राह्मण के लिए सचमुच उल्लेखनीय बात है ।

ग्राम-नियोजन हर गाँव में खेती की जमीन के अतिरिक्त निम्नलिखित कामों के लिए कुछ ऐसी जमीन भी होनी चाहिए जिस पर खेती न होती हो (अकृष्या भूमि) : (१) पशुओं के चरने के लिए चरागाह (विवीत) (२) धार्मिक अध्ययन तथा पूजा-उपासना के लिए शान्त वन (ब्रह्म-सोमारण्य) तथा तपस्वियों के लिए तपोवन (३) राजा के शिकार खेलने के लिए एक संरक्षित वन जिसमें 'हिरन तथा हाथी जैसे पालतू (दान्त) जानवर और शेर जैसे हिंसक पशु हों पर उनके दाँत और नाखून निकाल दिये गए हों" (४) सभी प्रकार के पशुओं के रहने के लिए साधारण वन (सर्वातिथिमृगम्-मृग-वनम्) (५) विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ पैदा करने के लिए विशेष रूप से लगाए जाने वाले

विभिन्न प्रकार के वन जैसे इमारती लकड़ी के जंगल, बांस के जंगल या उन वृक्षों के वन जिनकी छाल उपयोगी होती है (६) वन-सम्पदा का उपभोग करने के लिए कारखाने (द्रव्य-वन कर्मान्तान्) (७) वनवासियों की बस्तियां और (८) मनुष्यों की बस्ती के परे हाथी पालने के वन [II,२]।

ग्राम-विकास: राज्य को एक ऐसे कार्यक्रम के अनुसार ग्राम-विकास का काम अपने हाथों में लेना चाहिए जिसमें ये बातें शामिल हों (१) खनिज तथा धातु उद्योग के कारखाने (आकर-कर्मान्त) खोलना (२) इमारती लकड़ी और चंदन की लकड़ी तथा अन्य सुगंधित लकड़ियों जैसी बहुमूल्य तथा औषधियों के लिए उपयोगी लकड़ियां पैदा करने के लिए वन लगवाना (३) हाथियों के लिए जंगल लगवाना (४) पशुओं के चरागाह (व्रज) बनवाना (५) यातायात के लिए सड़कें बनवाना (वणिक्-पथप्रचारान्) (६) जल-मार्ग तथा थल-मार्ग (वारिस्थलपथ) बनवाना और (७) माल की बिक्री के लिए बाजार (पण्य-पत्तन) बनवाना [XII १]।

राज्य को ऐसे जलाशय (सेतु) बनवाकर जिनमें नदी से पानी आता हो या वर्षा का जल भर जाता हो, गांवों के लिए जल का भी उचित प्रबन्ध करना चाहिए। राज्य को भूमि, जल लाने के लिए मार्ग, लकड़ी तथा अन्य आवश्यक सामग्रियां मुफ्त देकर लोगों को निजी रूप से तालाब बनवाने में भी सहायता देनी चाहिए।

जो लोग निजी तौर पर पूजा के स्थान (पुण्य-स्थान) तथा सार्वजनिक वाटिकाएँ तथा उद्यान (आराम) बनवाना चाहें उन्हें भी इसी प्रकार भूमि तथा अन्य सामग्री मुफ्त देकर राज्य को उनकी सहायता करनी चाहिए।

यदि कोई गांव किसी सहकारी योजना का बीड़ा उठाए, तो राज्य को निर्दिष्ट मात्रा में श्रम तथा बैलों के रूप में लोगों से उसमें योगदान करवाना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति निर्दिष्ट योगदान न करे, तो उसे उसके बराबर मूल्य तथा उस योजना में अपने हिस्से का मूल्य (व्यय-कर्मणि च भागी स्यात्) देना चाहिए।

राज्य द्वारा (सेतुषु) बनाए गए तालाबों में जो कुछ भी उत्पन्न होता था जैसे मछलियां, बतखें तथा जल के पौधे, उन पर राजा का स्वामित्व होता था।

गांवों में ऐसी विहार-वाटिकाएँ या नाटक, नृत्य, संगीत, वादन तथा मसखरों और भाटों के लिए रंगमंच नहीं बनवाए जाने चाहिए, जिनसे निस्सहाय कृषकों के काम में बाधा पड़ती हो।

राज्य को असह्य जुर्मानों, बेगार तथा अत्यधिक लगान अथवा कर से कृषकों की रक्षा करनी चाहिए।

हर गाँव में पुष्प वाटिकाएँ तथा फलों के बाग (पुष्प-फलवाट) कमलों
: सरोवर, बाँस के झुरमुट (षण्ड) तथा धान के खेत (केदार) होते थे [II १ ६]।
स्वस्थ ग्राम्य जीवन के विकास के लिए कुछ अन्य हितकर नियम भी बनाए
ए थे। परिवार में अनुशासन के उल्लंघन को रोकना राज्य का कर्तव्य था
ज्य का यह भी कर्तव्य था कि वह परिवार के सदस्यों वेतनभोगी नौकरों-
करों (आहितकों) तथा दासों को कुल स्वामी की आज्ञा का पालन करने पर
बाध्य करें। दास पाँच प्रकार के होते थे गर्भ-दास जो जन्मत दास होते
थे गृह-जा जो स्वामी के घर में जन्म लेने के कारण दास होते थे क्रीत दास
जो खरीद लिए जाते थे लब्ध जो दूसरे से प्राप्त कर लिए जाते थे और
दण्डोपगत जो ऋण के बदले में प्राप्त किए जाते थे।

गाँव के निस्सहाय लोगों बच्चो बूढ़ो रोगियों तथा अंगाओं और नि:-
सतान स्त्रियों का भरण-पोषण करने का दायित्व भी राज्य पर ही था।
गाँव के बड़े-बूढ़ों (ग्राम-वृद्ध) को इस बात का दायित्व सौंपा गया था
कि वे नाबालिगों की सम्पत्ति की रक्षा करें और जब तक वे बालिग न हो
जाएँ तब तक उनकी सम्पत्ति की उचित देखभाल करें और इसी प्रकार मंदिरों
की सम्पत्ति के संरक्षण का भार भी उन्हीं को सौंपा गया था (बाल-द्रव्य तथा
देव-द्रव्य)।

यदि कोई व्यक्ति सामर्थ्य रखते हुए भी अपने बच्चों अपनी पत्नी अपने
माता-पिता नाबालिग भाइयों बेटियो बहनों तथा विधवा बेटियों के भरण
पोषण की व्यवस्था नहीं करता था तो उसे दंड दिया जाता था यदि इनमें
से कोई नैतिक आचरण से विमुख हो जाए, तो उसके भरण-पोषण का दायित्व
उस व्यक्ति पर नहीं रह जाता था पर माता का भरण-पोषण हर हालत में
करना पड़ता था।

यदि कोई व्यक्ति अपने पुत्र तथा पत्नी के भरण-पोषण का उचित प्रबन्ध
किए बिना सन्यासी हो जाता था और घर-बार छोड़ देता था तो उसे दंड दिया
जाता था। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री को सन्यास का पथ ग्रहण
करने पर बाध्य करता था तो उसे भी दंड दिया जाता था।

शास्त्रों में बताई गई अवस्था से पहले कोई भी व्यक्ति संसार को त्याग
नहीं सकता था यदि कोई ऐसा करता था तो उसे दंड दिया जाता था (निष्-
क्रम्य) [II १]।

भू-राजस्व : भू राजस्व विभाग का प्रशासन समाहर्ता नामक एक पदाधि-
कारी के नियंत्रण में चलता था जिसके कामों का उल्लेख पहले किया जा चुका
है।

भू-राजस्व के स्रोत : जैसा कि हम पहले देख चुके हैं भू-राजस्व में जिस मद का उल्लेख किया गया है उसके स्रोत अनेक हैं जिनका वर्णन राष्ट्र अर्थात् देहात के अन्तर्गत किया गया है। दुर्ग को छोड़कर शेष सारे क्षेत्र को राष्ट्र कहते थे। इन स्रोतों के विशिष्ट नाम ये बताए गए हैं (१) सीता (राजा की भूमि) (२) भाग कृषि-उत्पादन का छठा भाग जो राज्य को दिया जाता था (३) कर, प्रजा के बागों की पैदावार पर लगाया जानेवाला कर (४) विवीत अर्थात् चरागाहों से वसूल किया जानेवाला कर (५) वर्तनी सड़क इस्तेमाल करने का कर (६) रज्जु भूमि की पैमाइश का कर (७) चोर रज्जु अर्थात् चौकीदारी अथवा पुलिस का कर (८) सेतु, सिंचाई वाली भूमि तथा तालाब (९) वन अर्थात् जंगल (१०) व्रज पशुपालन तथा पशु प्रजनन क्षेत्र (११) बलि राजा को दिए जानेवाले उपहार, एक प्रकार का नजराना (१२) खानें जैसे "सोना चाँदी हीरे-जवाहरात मणि-मुक्ता मूंगा शंख धातु नमक तथा पृथ्वी से खोदकर निकाले जानेवाले अन्य खनिज पदार्थों तथा पत्थर की खानें या पारद जैसे तत्वों के तेल-क्षेत्र (रस) [II,६]

प्रशासन : राजस्व अधिकारी : राजस्व विभाग में तीन श्रेणियों के अधिकारी होते थे (१) समाहर्ता राजस्व जमा करनेवाला मुख्य अधिकारी जो इस विभाग का प्रधान होता था (२) स्थानिक और (३) गोप। प्रान्त (जनपद) चार मंडलों अथवा विभागों में बाँट दिया जाता था जिनमें से प्रत्येक एक स्थानिक के अधीन होता था। इस प्रकार के प्रत्येक मण्डल को फिर ५-५ या १०-१० गाँवों के समूहों अथवा वर्गों में विभाजित कर दिया जाता था जिनमें से प्रत्येक एक गोप के अधीन होता था। गोप तथा स्थानिक के अतिरिक्त गाँवों में काम करनेवाले कर्मचारियों में ये खास होते थे (१) अध्यक्ष जैसे खानें तथा रत्न-आभूषणों के काम पर निगरानी रखनेवाला अधिकारी (सुवर्णाध्यक्ष) (२) संख्यायक गाँव का मुनीम (३) अनीकस्थ हाथियों को (जो आस-पास के हाथियों के जंगलों से पकड़े जाते थे) सधानेवाला (४) चिकित्सक गाँव का वैद्य (५) अश्वदमक घोड़ों को सधानेवाला (६) वैया-वृत्तिक (वाणिक) हरकारा तथा संदेशवाहक ([illegible]) आदि [II १]।

जनपद के चार मण्डलों में से प्रत्येक मण्डल के गाँव अपनी आबादी तथा अपनी आय के अनुसार तीन श्रेणियों में बाँट दिए जाते थे (टीकाकार)।

दस्तावेज : विभिन्न प्रकार के लिखित दस्तावेज (निबंध) तैयार किए जाते थे जिनमें विभिन्न प्रकार के गाँवों की सूची होती थी। जैसे (१) जिन गाँवों का लगान माफ हो (परिहारक) (२) जो गाँव लगान के बदले सैनिक सेवा

करते थे (आयुधीयं ग्रमकरयामर्द ग्रामाग्रम्) या (१) जो नियमित रूप स
सौदा कामकाजा समान (प्रतिहार: प्रतिनिधातः करः) धान्य (अनाज अथवा
दूसरी फसलों) की निर्दिष्ट मात्रा के रूप में अदा करते थे इनमें विभिन्न प्रकार
के पशुओं की संख्या तथा यह विवरण कि वे भारवाहक पशु हैं, या दूध अथवा
ऊन देनेवाले पशु (वाह-दोह-दोमादि-उपभुग् नि पशून इति पशुकरः) सिक्के
बनाने में इस्तेमाल की जानेवाली (कोशमयेन) सोना चाँदी तथा ताँबे जैसी
बहुमूल्य धातुओं (हिरण्य) कच्चे माल (कुप्य) की अनुमानित मात्रा तथा
श्रमिकों (विष्टि कर्मकरपुरुषा) की अनुमानित संख्या का हिसाब रखा रहता
था [II १५]।

इस प्रकार गाँवों के ब्यौरे में हर गाँव का पूरा सार-तत्व (ग्रामार्थ) उसका
वार्षिक मूल्य तथा साधन (प्रतिविधम्) तथा पूरे देश के हित में वह किस
प्रकार का योग देता है यह सब कुछ दर्ज रहता था साथ ही इन दस्तावेजों
में किसी भी मंडल के सभी गाँवों का सामूहिक सार-तत्व (सामूहिकं च परि
मानम्) भी दर्ज रहता था।

ब्यौरा राज्य की आय तथा उसके साधनों में हर गाँव द्वारा दिए जाने
वाले योग के अनुसार सभी गाँवों को इस प्रकार अलग-अलग श्रेणियों में बाँट
देने के बाद निम्नलिखित बातों की दृष्टि से हर गाँव का अलग-अलग अध्ययन
भी किया जाता था और गोप अपने गाँव से संबंधित सभी आवश्यक बातें अपने
निबंध में दर्ज कर लेता था। हर गाँव का अलग-अलग अध्ययन इन बातों की
दृष्टि से किया जाता था

(१) नदियों या चट्टानों आदि जैसी सुनिश्चित सीमाओं द्वारा हर गाँव
की सीमा-रेखा का निर्धारण और इस सीमाबद्ध गाँव (सीमावरोधेन ग्रामा-
ग्रम्) का क्षेत्र-विस्तार मालूम करना

(२) भूमि के विभिन्न हिस्सों (क्षेत्र) को निम्नलिखित श्रेणियों में विभा-
जित करना तथा उनको नापना (क) खेती की भूमि (ख) बंजर तथा परती
जमीन (ग) ऊबड़-खाबड़ तथा सूखी जमीन (घ) धान के खेत (केदार)
(च) उद्यान (आराम) फलों के बाग (षण्ड) (छ) ईख आदि के खेत (वाट)
(ज) ग्रामवासियों की ईंधन की सुविधा के लिए जंगल (वन) (झ) आबादी
का इलाका जिस पर घर बने हों (वास्तु) (ट) पूजा के वृक्ष (चैत्य) (ठ)
मंदिर, (ड) सिंचाई की व्यवस्था (सेतु) (ढ) श्मशान भूमि (ण) भिक्षागृह
(सत्र) (त) पशुओं को पानी पिलाने के स्थान (प्रपा पानीयशाला) (द)
तीर्थस्थान (ध) चरागाह (विवीत) और (न) सड़कें।

(३) ऐसे ब्यौरे तैयार करना जिनमें निम्नलिखित बातें दर्ज हों

विभिन्न खेतों की सीमाएँ (मर्यादा) तथा क्षेत्रफल (प्रमाणम्) (ख) सार्वजनिक उपयोग के लिए वन (अरण्य) (ग) खेतों में जाने के रास्ते (पथ) (घ) दान में मिले हुए खेत (सम्प्रदान) (ङ) बिक्री (विक्रय) में प्राप्त किये गए खेत (छ) कृषकों को दिया गया ऋण (अनुग्रह) और (ज) सरकार द्वारा लगान में दी गई छूट (परिहार)

(४) गाँव में बसनेवाले सभी परिवारों की जनगणना (गृहाणां संख्यानेन) तैयार करना जिसमें ये बातें दी जाएँ (क) रजिस्टर में प्रत्येक परिवार का क्रमांक (ख) वह परिवार कर देता है या कर मुक्त है (करद अथवा अकरद) (ग) उस परिवार में कितने ब्राह्मण कितने क्षत्रिय कितने वैश्य तथा कितने शूद्र हैं (एतावत् चातुर्वर्ण्यम्) (घ) गाँव में कितने कृषक (कर्षक) चरवाहे (गोरक्षक) व्यापारी (वैदेहक) शिल्पकार (कारु) कारीगर (कर्मकर) तथा दास हैं (च) मनुष्यों तथा पशुओं की संख्या (छ) हर परिवार राज्य को नकद धन श्रम-कर तथा सैनिक सेवा के रूप में कितना देता है (हिरण्य-विष्टि शुल्क-दण्ड) (ज) हर परिवार में (कुलानाम्) पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या तथा उनकी अवस्था (स्त्री-पुरुषाणाम् बाल-वृद्ध-कर्म परिसंख्यानम्) (झ) वर्ण (जाति) के अनुसार उनके व्यवसाय (कर्माणि) (ट) गाँव के तथा उस परिवार विशेष के रीति-रिवाज (चरित्र) (ठ) हर परिवार की आय तथा व्यय का ब्योरा (आजीव-व्यय-परिमाण) [II ३५]।

हर गाँव का इस प्रकार ब्योरेवार रजिस्टर तैयार हो जाने से सरकार को देहातों की हालत का पूरा-पूरा पता रहता था और उसे किसी भी दशा में अटकल से काम नहीं लेना पड़ता था। चूँकि ग्रामवासियों के बारे में पूर्ण जानकारी का यह विवरण हर समय ठीक रखना पड़ता था इसलिए थोड़े-थोड़े समय बाद गाँवों की परिस्थितियों का सर्वेक्षण आवश्यक था।

इस पद-सोपान में गाँव का सबसे निचला अधिकारी तो अपने शासनाधिकार के गाँव का पूरा ब्योरा रखता ही था पर उसके अतिरिक्त उससे ऊपर का दूसरा राजस्व अधिकारी स्थानिक भी जो प्रान्त के चार विभागों में से (जनपद-चतुर्भागम्) एक का शासनाधिकारी होता था अपने मण्डल के बारे में इसी प्रकार का ब्योरा तैयार करता था।

निरीक्षक (प्रदेष्टार) राजस्व मन्त्री इस प्रशासन पद्धति का परिपालन कराने के लिए निरीक्षक नियुक्त करता था जो भेष बदलकर गुप्तचर के रूप में देहात का चक्कर लगाते थे और जिले तथा गाँव के अधिकारियों द्वारा खेतों घरों (गृह) तथा परिवारों (कुल) के बारे में रखे जानेवाले निर्णयों तथा सेवाओं का निरीक्षण करते थे (क) खेतों का क्षेत्रफल तथा उनकी पैदावार क्या है

(मान-सम्बातान्यां सख्यानि) (ख) किस परिवार पर कितना लगान आँका गया है (भोग) और किस कितनी छूट (परिहार) दी गई है और (ग) विभिन्न परिवारों की जाति उनका व्यवसाय उनके सदस्यों की संख्या (जंघाग, सदस्यों की गणना इस हिसाब से न करके कि कितने सिर हैं इस हिसाब से की जाती थी कि कितने जोड़ टाँगें हैं) उनकी आय तथा व्यय। वे इस बात की भी जानकारी प्राप्त करते थे, कि किस गाँव से कौन गया और किस गाँव में कौन बाहर से आया और कौन लोग संदिग्ध चरित्र (अनर्घ्यानाम्) के हैं जैसे (नर्तक अभिनता आदि) और कौन लोग विदेशी जासूस हैं।

अन्य श्रमियों के निरीक्षक खेतों फलों के बागों जंगलों खानों तथा कार खानों के उत्पादन में से राज्य को मिलनेवाले भाग की मात्रा तथा उसके मूल्य का निरीक्षण करते थे।

कुछ निरीक्षक ऐसे होते थे जो जल-मार्ग अथवा थल-मार्ग से राज्य के भीतर आने वाले माल पर तथा उन पर लगाए जानेवाले विभिन्न प्रकार के करों की वसूली पर निगरानी रखते थे जैसे चुंगी (शुल्क) सड़क का कर (वर्तनी) गाड़ी का कर (आतिवाहिक) सेना का कर (गुल्म-देय) घाट का कर (तर देय) सौदागरों द्वारा राज्य को दिया जानेवाला अपने माल का छठवाँ हिस्सा (भाग) रहने का खर्च (भक्त) और सरकारी गोदामों (पण्यागार) में माल रखने का भाड़ा [II १५]।

किसानों चरवाहों सौदागरों तथा सरकारी विभागों के अध्यक्षों पर नजर रखने के लिए साधुओं के भेष में निरीक्षक भेजे जाते थे। जिन स्थानों पर पेड़ों की पूजा की जाती थी चौराहों पर, निर्जन स्थानों में तालाबों नदियों तथा नहाने के स्थानों के आस-पास तीर्थस्थानों में तपोवनों में मरुस्थल प्रदेश में पहाड़ियों पर और घने जंगलों में गुप्तचर पुराने डाकुओं तथा उनके साथियों का भेष बदलकर जाते थे और यह पता लगाते थे, कि चोर, शत्रु तथा डाकू उन स्थानों में कैसे और क्यों आते हैं और वहाँ किस उद्देश्य से ठहरते हैं।

निम्न श्रेणी के निरीक्षकों के अतिरिक्त कुछ उच्च श्रेणी के प्रदेष्टा भी होते थे जो नियमित रूप से हर दिन में अपने अधीन काम करनेवाले राजस्व अधिकारियों के काम का निरीक्षण करते थे (उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए देखिए II ३५)।

भूमि का क्रय-विक्रय (*III*, ९) भूमि भी उतनी ही आसानी से बेची जा सकती थी जैसे कोई अन्य-सम्पत्ति। जिस भूमि या मकान को बेचना होता था उसे उसके आस-पास के चालीस जायदादवालों की उपस्थिति में सार्वजनिक रूप से नीलाम पर चढ़ा दिया जाता था। वे लोग उस बिकाऊ भूमि या मकान के

सामने एकत्रित होकर उसके बिकाऊ होने की घोषणा करते थे। सारा सौदा उस इलाके के वयोवृद्ध लोगों की उपस्थिति में होता था। उस सम्पत्ति की सीमाओं तथा अन्य आवश्यक बातों का विवरण दिया जाता था। फिर नीलाम करने वाला ऊँचे स्वर में तीन बार कहता था 'इस भूमि अथवा मकान को इस मूल्य पर कौन खरीदना चाहता है (अमुक अर्घेण क: क्रेता)? यदि किसी को आपत्ति नहीं होती थी (अव्याहृतम्) तो इसके बाद वह भूमि खरीदनेवाले को मिल जाती थी। परन्तु यदि कोई ज्यादा ऊँची बोली लगा देता था तो वह अधिक मूल्य और उसके साथ बिक्री की रकम पर लगाया जानेवाला कर राजकोष में जमा कर दिया जाता था। जो आदमी बोली बढ़ाकर मूल्य में वृद्धि करता था वही उसका कर भी देता था। यदि कोई आदमी किसी ऐसी जमीन या मकान को बेचता था जिसका मालिक उपस्थित न हो या जिसके मालिक का पता न हो उसे २४ पण दंड देना पड़ता था (III ९)।

कर देनेवाले किसान अपनी भूमि को केवल आपस में ही बेच सकते थे या गिरवी रख सकते थे। जिन लोगों के पास कर मुक्त (ब्रह्मदेयिक) भूमि होती थी वे इस भूमि को केवल ऐसे ही लोगों के हाथ बेच सकते थे जो इसके लिए उचित पात्र हों या जिनको पहले ही से ऐसी भूमि मिल चुकी हो। इस नियम का उल्लंघन करने पर बेचनेवाले को ४ पण दंड देना पड़ता था (III १०)।

इसी प्रकार कर देने वाले को कर देनेवालों के गाँव में ही रहना पड़ता था। यदि कोई कर देनेवाला कर न देनेवालों के गाँव में रहता था तो उसे दंड देना पड़ता था। यदि कोई कर देनेवाला कर देनेवालों के गाँव में कोई सम्पत्ति हासिल करता था तो उसे वही अधिकार तथा सुविधाएँ मिल जाती थीं जो उस सम्पत्ति के पहले मालिक को प्राप्त रहती थीं (उपर्युक्त)।

यदि किसी भूमि का मालिक अपनी भूमि पर खेती करने में असमर्थ होता था तो दूसरा आदमी पाँच साल के पट्टे पर उस पर खेती कर सकता था पर अवधि पूरी हो जाने पर वह भूमि वापस लौटा देता था और उस भूमि में उसने जो सुधार किया होता था उसका मुआवजा उसके मालिक से ले लेता था। यदि किसी कर-मुक्त भूमि के मालिक को किसी आवश्यक कार्य से कुछ समय के लिए कहीं बाहर जाना पड़ता था तो उस उस भूमि के बराबर उत्पादन तथा लाभ (भोग) का अधिकार होता था। भूमि से होनेवाले अन्य लाभों पर राजा का अधिकार होता था (उपर्युक्त)।

कर निर्धारण : जैसा कि हम पहले बता चुके हैं लगान का हिसाब इस आधार पर लगाया जाता था कि पैदावार का एक हिस्सा आम तौर पर छठा भाग राज्य को मिलता था। सिंचाई की भूमि पर इसके अतिरिक्त पानी का

कर (उदकभाग) भी देना पड़ता था जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह कर सिंचाई की विभिन्न व्यवस्थाओं के अनुसार बदलता रहता था—पैदावार के पाँचवें भाग से लेकर एक-तिहाई तक। यदि कोई सिंचाई के लिए कोई नया तालाब आदि बनवाता था तो उसे ५ वर्ष के लिए लगान अदा करने से मुक्त कर दिया जाता था (तटाकसेतुबन्धानां नवप्रवर्तने पाञ्चवर्षिकः परिहारः) तालाब की मरम्मत आदि करवाने पर चार वर्ष की छूट (भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वर्षिकः) जमल साफ करके नई भूमि पर खेती करने पर तीन वर्ष की छूट (समुपारूढानां त्रैवर्षिकः) और यदि भूमि अच्छी अवस्था में हो (स्वत्वम्) तो २ वर्ष की छूट मिलती थी (III ९)।

पैदावार के एक हिस्से के रूप में वसूल किए जानेवाले इस बुनियादी लगान में (जिसे मुगल जमाने में असल जमा' कहते थे) आज की तरह ही और बहुत से कर जोड़ दिए जाते थे (जिन्हें अब आबवाब' कहते हैं)। आवश्यकता पड़ने पर (कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रः) राज्य भली-भाँति सींची गई भूमि पर होने वाली भरपूर फसल का तिहाई या चौथाई भाग तक ले सकता था (देव मातृकम्)। राज्य अन्न का (धान्यानाम्) चौथाई भाग और निम्नलिखित वस्तुओं का छठाँ भाग वसूल कर सकता था—(१) वन्य (जंगलों की पैदावार) (२) तूल (रेशमी कपास) (३) लाक्षा (लाख) (४) क्षौम (जूट) (५) वल्क (पेड़ों की छाल) (६) कार्पास (कपास) (७) रौम (ऊन) (८) कौशेय (रेशम) (९) औषध (दवाएँ) (१०) गन्धपुष्प (फूल) (११) फल (१२) शाक (तरकारियाँ) (१३) काष्ठ (ईंधन) (१४) वेणु (बाँस) (१५) मांसवल्लूर (सुखाया हुआ मांस)। (१) दन्त (हाथी दाँत) तथा (२) अजिन (गाय आदि)पशुओं की खालों का आधा भाग कर के रूप में लिया जाता था।

इसके अतिरिक्त 'चिड़ियों तथा सूअरों पर पैदावार का आधा भाग छोटे जानवरों (जैसे भेड़ तथा बकरी आदि)पैदावार का छठा भाग गायों भैंसों घोड़ों खच्चरों गदहों और ऊँटों पर पैदावार का दसवाँ भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था।

यह सारी वसूली केवल एक बार ही की जाती थी किसी भी दशा में दुबारा नहीं (सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः)।

परन्तु किसी कार्य विशेष के लिए समाहर्ता शहर तथा देहात के निवासियों से चंदे की अपील करके भी पैसा जुटाता था (समाहर्ता कार्यमपदिश्य पौर जानपदान् भिक्षेत) (V २)। इसके साथ ही समाहर्ता द्वारा गाँव पर लगाए जाने वाले उन अन्य करों का भी उल्लेख कर दिया जाए, जैसे पिण्डकर, बलि, आर्तव पार्श्व अथवा पारिहीणिक जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

अध्याय ८

नगर-प्रशासन

प्रशासन की प्रणाली : कौटिल्य ने एक पूरी प्रणाली बताई है जिसके आधार पर नगरों का प्रशासन व्यवस्थित किया जाता था। यह प्रणाली पौर जीवन की विशिष्ट समस्याओं तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की गई थी। (II ३६)

नागरिक (मेयर) शहर के मेयर को नागरिक कहते थे। शहर से अभिप्राय केवल नगर से होता था जिसे स्थानीय कहते थे। नागरिक को पुरमुख्य (II ३६) भी कहते थे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है। नागरिक एक शासनाधिकारी की हैसियत से समाहर्ता के अधीन होता था। समाहर्ता का पद मंत्री का होता था जिसके कार्य-क्षेत्र में पहले बताये गए अन्य विषयों के अतिरिक्त एक विषय नगर प्रशासन भी होता था। इन विषयों की सूची में दुर्ग के नाम से एक विषय का उल्लेख है जिसमें अनेक विभागों तथा शिल्पों का समावेश है और यह बताया गया है कि इन शिल्पों में से नगर के शिल्पों की देखभाल नागरिक नामक शासनाधिकारी करता था।

स्थानिक तथा गोप : हमें आगे चलकर इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि नगर में नागरिक का वही स्थान होता था जो प्रान्त में समाहर्ता का होता था (समाहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्) प्रान्त की ही भाँति नगर को भी चार भागों अथवा मण्डलों में विभाजित कर दिया जाता था और इनमें से प्रत्येक भाग स्थानिक नामक एक पदाधिकारी के अधीन रख दिया जाता था।

प्रत्येक स्थानिक अपने अधीन काम करनेवाले अनेक पदाधिकारियों पर नियंत्रण रखता था जिन्हें गोप कहते थे प्रत्येक गोप पर दस बीस या चालीस घरों की देखभाल करने का दायित्व रहता था।

कौटिलीय प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक नगर के स्थानिक अथवा गोप कदाचित् वही काम करते थे जो मेगास्थनीज ने समिति नं० १ के सदस्यों के बताए हैं, जिसका हमें मेगास्थनीज से केवल एक मौखिक वर्णन ही मिलता है।

जनगणना : वे जनगणना अधिकारियों के रूप में काम करते थे और प्रत्येक घर के स्त्री-पुरुषों की संख्या (जंघाग्र-जनसंख्या) उनके नाम उनके वर्ण गोत्र तथा व्यवसाय उनके पशुधन और आय तथा व्यय का ब्योरा तैयार करते थे।

धर्मशालाएँ उचित अधिकारियों को नगर में आनेवाले तथा नगर से जाने वाले सभी लोगों के बारे में रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। धर्मशालाओं के प्रबंधकों (धर्मावसथिन) को नगर के अधिकारी के पास पहले से इस बात की सूचना भेजनी पड़ती थी कि उनकी धर्मशाला में कौन पापी अथवा धर्मद्रोही (टीकाकार के अनुसार पाशुपत तथा शाक्यभिक्षु जैसे लोग) आएँगे और उन्हें अपने यहाँ रखने के लिए नगर के अधिकारियों की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। परन्तु जिन साधुओं अथवा संन्यासियों पर उन्हें विश्वास हो (स्व-प्रत्ययाः) उन्हें अपने यहाँ आश्रय देने का उन्हें पूरा अधिकार था।

कारखाने : इसी प्रकार शिल्पकार तथा दस्तकार अपने कारखानों में (स्वकर्मस्थानेषु) अपने सगे-सम्बन्धियों को भरती कर सकते थे।

दुकानें व्यापारी भी अपनी दुकानों में अपने वर्ग के लोगों को भरती कर सकते थे परन्तु ऐसे तमाम लोगों की सूचना देना उनका कर्तव्य था जो किसी वर्जित स्थान अथवा समय पर कोई माल बेचते हों या जिनके पास ऐसा बिकाऊ माल हो जो उनका अपना न हो।

भोजनालय : इसी प्रकार मदिरा बेचनेवालों (शौण्डिका) पका हुआ मांस (पक्वमांसिकाः) तथा चावल बेचनेवालों (औदनिकाः) और वेश्याओं को उन लोगों को अपने साथ ठहराने की इजाजत थी जिनसे वे भली-भाँति परिचित हों परन्तु जो लोग बहुत पैसा खर्च करते हों या जिनमें खतरनाक प्रवृत्तियाँ हों उनकी सूचना उन्हें देनी पड़ती थी।

वास्तव में शासन के कुछ नियम बहुत ही कठोर थे पर वे सार्वजनिक हित में नितान्त आवश्यक थे । हम इन नियमों के कुछ और उदाहरण देते हैं।

१ अतिथि हर गृहस्वामी को अपने यहाँ आने-जानेवाले अतिथियों की सूचना देनी पड़ती थी। ऐसा न करने पर यदि उस रात को जब उनके यहाँ कोई अपरिचित व्यक्ति ठहरा होगा या कोई वारदात हो जाती थी तो उसका

दोषी उन्हें ठहराया जाता था और यदि रात को कोई वारदात न भी हो तब भी उन्हें इस नियम का उल्लंघन करने के अपराध में दंड दिया जाता था।

२ स्वास्थ्य-चिकित्सकों तथा गृहस्वामियों का दायित्व : यदि कोई स्वास्थ्य-चिकित्सक किसी ऐसे रोगी की चिकित्सा करे जिसके संदेहजनक घाव (प्रच्छन्नव्रण) हों या यदि किसी घर के मालिक को खतरनाक अथवा घातक औषधियां बनानेवाले आदमी का (अपथ्यकारिणम् रोग-मरणोत्पादक-द्रव्यम्) पता चले तो उसका यह कर्तव्य हो जाता था कि वह इस बात की सूचना प्रधान नगर अधिकारियों अर्थात् गोप तथा स्थानिक को दे। ऐसा न करने पर उन्हें भी वही दंड दिया जाता था जो अपराध करनेवाले को मिलता था।

३ संदिग्ध चरित्रवाले लोग : घर के भेदी संदिग्ध चरित्रवाले लोगों तथा चर व भेदी जासूसों की रोकथाम के लिए अनेक नियम बनाये गए थे। नगर के भीतर या बाहर बड़ी सड़कों पर (रथिका महामार्गचारिणः) या छोटी सड़कों पर (उत्पथिकाविपरीतपथचारिणः) नागरिकों का यह नागरिक दायित्व था कि वे मंदिरों अथवा तीर्थस्थानों, उपवनों अथवा श्मशानों में आनेवाले संदिग्ध चरित्रवाले लोगों या दुश्चरित्र लोगों को गिरफ्तार करें। इस कोटि में वे सब लोग आ जाते थे जो संदेहजनक घावों (सव्रणम्) से पीड़ित हों या जिनके पास खतरनाक औजार जैसे सेंध लगाने के औजार (अनिष्टोपकरणम्) हों या जो अपनी क्षमता से अधिक भारी बोझ ले जा रहे हों या जो देखने में संदिग्ध चरित्र के लगते हों या जो बहुत देर तक सोते हुए (अतिस्वप्नम्) पाए जाएँ, या बहुत लम्बी यात्रा के कारण अत्यधिक थके हुए हों या उस इलाके में बिल्कुल अपरिचित हों। ये सब अपराधियों के चिह्न माने जाते थे।

इस प्रकार के लोगों की तलाश नगर के भीतर भी निर्जन घरों (आवेशन) तथा कारखानों (शिल्पशाला), मदिरालयों, पका हुआ चावल तथा मांस बेचने वाले भोजनालयों, जुआघरों तथा धर्मशालाओं के घरों में भी की जाती थी।

४ कर्फ्यू आर्डर : नागरिकों को सूर्यास्त के छः नालिका बाद से सूर्योदय के छः नालिका पूर्व तक घर से बाहर निकलने की इजाजत नहीं थी। एक नालिका २४ मिनट के बराबर होती थी। इस प्रकार यह प्रतिबंध [illegible] बजे रात से प्रातःकाल ३॥ बजे तक रहता था। कर्फ्यू आरंभ होने तथा समाप्त होने के समय की घोषणा करने के लिए तुरही (याम-तूर्यम्) बजाई जाती थी और यदि इस समय के दौरान में कोई आदमी घूमता-फिरता पाया जाता था विशेषकर के राजप्रासाद के निकट (राज्ञो परिग्रहे) तो उस पर जुर्माना किया जाता था। इस प्रतिबंध के कारण जन-साधारण को कोई असुविधा न होने पाए, इस उद्देश्य से निम्नलिखित लोगों पर से यह प्रतिबंध हटा लिया

जाता था (१) प्रसविनी माताओं की देखभाल करनेवाले (सूतिकाचिकित्सक) (२) वैद्यादि (३) शव से जानेवाले (प्रेतनिमित्तम्) (४) लालटेन लेकर चलनेवाले लोग (प्रदीपयान-निमित्तम्) (५) नगर दंडाधीश के ढिंढोरा पिट जाने पर (नागरिकतूर्य) जानेवाले लोग (६) सरकार द्वारा स्वीकृत नाटक का अभिनय देखने के लिए जाने वाले लोग (प्रेक्षानिमित्तं राजानुज्ञात-नाटकादिप्रयोग दर्शने निमित्ते) (७) आग आदि लग जाने जैसी किसी दुर्घटना के समय जिन लोगों को घर से बाहर चले आने के लिए कहा जाता था (८) जो लोग कर्फ्यू का समय हो जाने के बाद अनुमति-पत्र लेकर बाहर निकलते थे (मुद्रा-भिश्च यथाहस्था असम्पचारिणो) (*I* ३६)।

प्रतिबंध से छूट : उत्सव की रातों को (चार रात्रि) लोगों को बिना रोक-टोक घूमने-फिरने की छूट रहती थी परन्तु नकाब पहनकर या अनुपयुक्त वस्त्र धारण करके घूमनेवाले लोगों पुरुषों के वस्त्र पहने हुए स्त्रियां अथवा स्त्रियों के वस्त्र पहने हुए पुरुषों (प्रच्छन्नविपरीतवेषा) सन्यासियों और हाथ में लाठी अथवा कोई अस्त्र लेकर चलनेवाले लोगों (दण्ड-शस्त्र-हस्ताश्च) की जांच की जाती थी और यदि वे दोषी होते थे तो उन्हें दंड दिया जाता था (दोषतो दण्ड्याः)।

रक्षी (पुलिस) यदि रात्रि के समय कोई ऐसी दुर्घटना हो जाए, जिससे किसी के प्राण अथवा सम्पत्ति को क्षति पहुँचे (चेतनाचेतनिकम् रात्रिदोषम्) तो अधिकारियों को उसकी सूचना देने के लिए पुलिस होती थी।

यदि वे किसी ऐसे व्यक्ति को जिसे स्वतंत्रतापूर्वक घूमने का अधिकार हो कहीं आने-जाने से रोकें या इस प्रकार की स्वतंत्रता न रखनेवाले को रोकने में चूकें (अवार्यं वार्यतो वारयतश्च अवारयताम्) तो उन्हें दंड दिया जाता था।

यदि किसी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर लिया जाए, जिसे गिरफ्तार न करना हो या किसी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार न किया जाए, जिसे गिरफ्तार किया जाना चाहिए, तो इन दोनों ही परिस्थितियों में पुलिस को दंड दिया जाता था।

यदि पुलिसवाले किसी स्त्री के साथ अनाचार करते थे तो उन्हें कठोर दंड दिया जाता था और यदि वह स्त्री किसी प्रतिष्ठित कुल की होती थी (कुलस्त्री) तो मृत्युदंड तक दिया जाता था। यदि पुलिस आमोद-प्रमोद के स्थानों में (प्रमोदस्थाने) नियंत्रण रखने में ढीलढाल करती थी तो उसे परिस्थिति की गंभीरता के अनुसार दंड दिया जाता था। (उपर्युक्त)।

कारागार-संबंधी नियम प्रत्येक नगर में एक कारागार होता था जिसके प्रधान अधिकारी को बंधनागाराध्यक्ष (*IV* ९) कहते थे। कारागार के नियम अत्यंत कठोर किन्तु न्यायपूर्ण थे। मुख्य कारागार को बंधनागार कहते थे और

वह प्रदेष्टा के न्यायालय का एक अंग होता था। वह उस हवालात से बिल्कुल भिन्न होता था जिसे चारक कहते थे और जो धर्मस्थीय के न्यायालय का एक अंग होती थी। यदि कोई अधिकारी रिश्वत लेकर किसी अभियुक्त को छोड़ देता था (निस्सारयतः बन्धनागारात्) तो उस प्रकार दंड दिया जाता था। इसी प्रकार यदि कोई अधिकारी किसी अभियुक्त को चारक से रिहा कर देता था तो उसे दंड दिया जाता था और अभियुक्त के विरुद्ध जितने का दावा होता था उतना धन उसे दंड के रूप में देना पड़ता था (अभियोगदानम्)। यदि कोई अधिकारी (समय से पहले तथा अनुचित ढंग से) किसी बंदी को कारागार से मुक्त कर देता था तो उसकी सारी सम्पत्ति (सर्वस्व) जब्त कर ली जाती थी और उसे मृत्युदंड (वध) तक दिया जा सकता था।

अन्य अपराधों के लिए इस प्रकार जुर्माना किया जाता था: कारागार के अध्यक्ष की अनुमति के बिना हवालात से किसी बंदी को छोड़ देने पर २४ पण, किसी बंदी से अनधिकृत रूप से श्रम करवाने पर ४८ पण, किसी बंदी को उसके स्थान से हटाकर उसे खाना-पीना न देने पर ९६ पण, किसी बंदी को यातना देने पर भारी जुर्माना, और इसी प्रकार घूस (उत्कोच) लेने पर भी भारी जुर्माना किया जाता था।

बंदियों की मुक्ति : निम्नलिखित अवसरों पर एक सीमित संख्या में बंदी कारागार से मुक्त कर दिए जाते थे: (१) जिस नक्षत्र में राजा का जन्म हुआ हो उस नक्षत्र के दिन, (२) पूर्णमासी के दिन—इस दिन केवल बालक, बंदी, वृद्ध, रोगी तथा अनाथ लोग छोड़े जाते थे।

राष्ट्रीय उत्सवों के अवसर पर सारे बंदी मुक्त कर दिए जाते थे जैसे—(१) जब किसी नए देश पर विजय प्राप्त हो, (२) युवराज के राज्याभिषेक के अवसर पर, (३) राजकुमार के जन्म के अवसर पर।

कारागार का एक नियम यह भी था कि प्रतिदिन या पाँच दिन में एक बार इस बात का लेखा-जोखा किया जाता (विशोधयेत्) कि बंदियों को (ख) कितना काम (कर्म) दिया गया था, (ग) निर्दिष्ट काम के न करने पर कितना शारीरिक दंड (कायदण्ड) दिया गया और (घ) शारीरिक दंड के बदले में कितना जुर्माना (हिरण्य) वसूल किया गया (II ३६)। जो लोग स्वभाव से सच्चरित्र (पुण्यशीलाः) होते थे (जिनका अपराध आकस्मिक होता था) या जो किसी करार (समयानुबद्ध) को पूरा न कर सकने के कारण बंदी बना लिए जाते थे वे अपने उतने अपराध की गंभीरता के अनुसार जुर्माना देकर अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते थे (धननिष्क्रय) (उपर्युक्त)।

आग से बचाव के उपाय : आग लगने की सम्भावना के लिए भी सावधानियाँ

के कई नियम थे । उस समय के घरों में जितना अधिक लकड़ी का प्रयोग था उसके कारण शायद आग बहुत लगती होगी । जिन घरों की छत फूस की होती थी उनमें गर्मी के दिनों में दोपहर को तथा तीसरे पहर आग जलाना मना था यदि खाना पकाना हो तो आग घर के बाहर जलानी पड़ती थी । हर आदमी को अपने घर में आग बुझाने के लिए आठ साधन (अग्नि-निर्वापण-साधन) रखने पड़ते थे (१)कुम्भ(घड़ा) (२) द्रोणी—पानी भर कर रखने के लिए लकड़ी की नांद (३) निःश्रेणी—यदि ऊपर आग लग जाए तो चढ़ने के लिए सीढ़ी (४) परशु 'छत की धन्नियां काटने के लिए' कुल्हाड़ी (५) शूर्प—धुआं उड़ाने के लिए सूप (६) अङ्कुश—जलती हुई चीजों को खींच कर फेंकने के लिए कांटा (७) कचग्रहणी—घरों के छप्परों में से उलझा हुआ फूस नोचने के लिए चिमटा और (८) दृति पानी छिड़कने के लिए चमड़े की मशक । आग से बचाव के लिए बड़े-बड़े सार्वजनिक मार्गों पर, चौराहों पर, नगर के फाटकों पर, और सारी सरकारी इमारतों में हर समय हजारों की संख्या में पानी से भरे हुए बरतन (कुटव्रजाः) पंक्ति में रखे रहते थे । नगर की सीमा के भीतर गर्मी में फूस के घर बनाने की इजाजत नहीं दी जाती थी । इस प्रकार के घरों के मालिकों को रात के समय घर के भीतर ही रहना पड़ता था और कहीं आग लग जाने पर यदि वे घटनास्थल की ओर नहीं भागते थे तो उन्हें दंड दिया जाता था । इस प्रकार के अपराध के लिए दूकानदारों पर भी जुर्माना किया जाता था पर उन्हें घर के मालिकों की अपेक्षा कम जुर्माना देना पड़ता था । जो लोग अपनी लापरवाही के कारण कहीं आग लगा देते थे उन्हें ५४ पण जुर्माना देना पड़ता था पर जो लोग जानबूझकर आग लगाने के अप राधी होते थे उन्हें स्वयं जिंदा जला दिया जाता था (प्रदीपिको अग्निना वध्यः) । और अंतिम बात यह कि जिन लोगों को आग से काम ही करना पड़ता था जैसे लोहार, उन्हें नगर के एक अलग हिस्से में रहना पड़ता था (अग्नि जीविन एक स्थान वासयेत) ।

सफ़ाई के नियम : नगर के सफ़ाई के नियम बड़ी कठोरता के साथ लागू किए जाते थे । इधर-उधर कड़ा फेंकने पर (पांसुन्यासे) या सड़क पर कीचड़ करने पर (पंकोदकसन्निरोधे) जुर्माना देना पड़ता था । राजपथ पर इस प्रकार का अपराध करने पर दुगना जुर्माना देना पड़ता था । पवित्र स्थानों (पुण्यस्थान) जलाशयों मंदिरों तथा शाही इमारतों में पेशाब करनेवालों को भी दंड दिया जाता था पर यदि वह अपराध जानबूझकर न किया गया हो और किसी औषध रोग अथवा भय के कारण अनायास ही हो गया हो तो दंड नहीं दिया जाता था । नगर में सांप अथवा बिल्ली कुत्ते या नेवले जैसे पशुओं की

लाश फेंकने पर ३ पण जुर्माना किया जाता था। गधे, ऊँट, खच्चर या घोड़े जैसे किसी बड़े जानवर की लाश फेंकने पर जुर्माना दुगुना कर दिया जाता था और किसी मनुष्य का शव फेंकने पर ५० पण जुर्माना देना पड़ता था। निर्दिष्ट मार्गों अथवा द्वारों के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग अथवा द्वार से शव ले जाने पर दंड दिया जाता था और जो द्वारपाल इस प्रकार नियम का उल्लंघन होने देते थे उन्हें भी दंड दिया जाता था। इसी प्रकार निश्चित स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर मुर्दे जलाने अथवा गाड़ने (न्यासे दहने च) पर भी दंड दिया जाता था (उपर्युक्त)।

भवन-निर्माण सम्बन्धी नियम (वास्तुकम्) नगर-नियोजन सफाई की आवश्यकताओं का ध्यान में रखकर किया जाता था। हर घर में एक शौचालय (अवस्कर) नाली (भ्रम) तथा कुएँ (उदपान) का होना आवश्यक था और ये चीजें उचित स्थान पर (गृहोचितम्) ही बनानी पड़ती थीं। प्रसूतिगृह के लिए (सूतिका-कूप) या उत्सवों के लिए अस्थायी रूप से किसी भी स्थान पर ये स्थान बनाए जा सकते थे पर इनकी आवश्यकता पूरी हो जाने पर फौरन भर देना पड़ता था। इन स्थानों की उचित स्थिति के बारे में भी स्वास्थ्योपयोगी नियम बना दिए गए थे (१) अग्नि-स्थान, बकरियों तथा भारवाहक पशुओं के लिए पशुशालाएँ (२) चतुष्पद-स्थान (हाथी आदि बड़े जानवरों के रहने के लिए) (३) अग्निष्ठ (चूल्हा) (४) उदकञ्जर-स्थानम् पानी के मटके रखने का स्थान (५) रोचनी (अनाज पीसने की चक्की) और (६) कुट्टनी (ओखली) (III ८)। लक्ष्य यह रखा जाता था कि पड़ोसियों को कम से कम असुविधा हो। यदि दो घरों के उपर्युक्त भागों के एक-दूसरे से सट जाने की सम्भावना होती थी तो उनके बीच अनिवार्य रूप से कुछ जगह छोड़नी पड़ती थी।

घरों के बीच में कुछ खुली जगह छोड़नी पड़ती थी (सर्व-वास्तुकयोः प्राक्षिप्तकयोर्वा किष्कुरन्तरिका त्रिपदी वा)। हवा आने के लिए हर घर में खिड़कियों का होना आवश्यक था (अवाक्षार्थम् अल्पम् ऊर्ध्वं वातायनं कारयेत्)। घर बनवाने में सम्मिलित नियम आपस में समझौता करके भी तै किये जा सकते थे ताकि एक-दूसरे को कोई असुविधा न होने पाए (सम्भूय वा गृहस्वामिनो यथेष्टं कारयेयुरनिष्टं वारयेयुः)।

यदि कोई नये दरवाजे या खिड़कियाँ बनाता था जो दूसरे के मकान के सामने पड़ते हों और जिनसे दूसरे को असुविधा होती हो तो उसे दंड दिया जाता था। पर यदि इस प्रकार के दो मकानों के बीच राजपथ या कोई दूसरी बड़ी सड़क हो तो यह दंडनीय नहीं था। यदि किसी मकान के किसी हिस्से से जल का मार्ग ऐसा हो जिसके कारण दूसरे पड़ोसियों को असुविधा होती हो और

पानी जमा हो जाने के कारण दूसरे घर की नींव को हानि पहुँचती हो (पर कुड्यम् उदकेन उपघ्नतो) तो उस घर के मालिक को दंड दिया जाता था। यदि इस प्रकार की असुविधा मल-मूत्र आदि के जमा हो जाने के कारण हो तो दंड दुगुना कर दिया जाता था (उपर्युक्त)।

वास्तव में मकान मालिकों को अपने घर की नालियाँ इतनी साफ रखनी पड़ती थीं कि सदा पानी उनमें होकर बिना किसी रोक-टोक के बह सके। उन्हें अपने घरों के सामने चबूतरे भी बनवाने पड़ते थे। पूर्वोक्त सामुदायिक भावना के अनुसार ऐसे स्थानों को सार्वजनिक उपयोग के लिए खुला छोड़ देना पड़ता था जहाँ अग्नि की पूजा की जाती थी या अनाज पीसा जाता था। उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करने पर विभिन्न प्रकार के जुर्माने किये जाते थे (उपर्युक्त)।

छूत के रोग (उपनिपात-प्रतिकार) छूत के रोगों के फैल जाने पर उनकी रोकथाम के लिए विशेष उपाय किए जाते थे। चिकित्सक नगर में घूम-घूमकर दवाएँ बाँटते थे (औषधैः चिकित्सकाः) और साधु-सन्त इसको शमन के धार्मिक उपाय करते थे। पशुओं में ताऊन (पशु-व्याधि-मरके) फैल जाने पर भी ऐसे ही उपाय किए जाते थे (IV ३)।

चूहे : चूहों से उत्पन्न होने वाली व्याधियों का पूर्ण रूप से आभास था और उन्हें नष्ट करने के उपाय किए जाते थे। चूहों को मारने के लिए बिल्लियाँ तथा नेवले छोड़ दिए जाते थे और जो इन्हें पकड़ता था उसे दंड दिया जाता था। चूहों के लिए विषाक्त भोजन भी बहुत बड़े पैमाने पर बाँटा जाता था। ताऊन की बीमारी बहुत उग्र रूप में फैल जाने पर 'चूहा-कर' (मूषिका-कर) लगाया जाता था जिसके अंतर्गत हर घर के मालिक को प्रतिदिन एक निश्चित संख्या में चूहे पकड़ने पड़ते थे (उपर्युक्त)।

चिकित्सा-सम्बन्धी नियम : देश में चिकित्सा-सम्बन्धी व्यवस्था का नियमन करने के लिए भी कुछ नियम थे। खतरनाक रोगों की सूचना देना अनिवार्य था। यदि कोई रोगी किसी ऐसे रोग से मर जाए जिसकी सूचना पहले से न दी गई हो तो उस चिकित्सक को दंड दिया जाता था। गलत चिकित्सा के कारण (कर्मापराधेन) मृत्यु (विपत्ति) हो जाने पर अधिक कठोर दंड दिया जाता था। यदि गलत शल्य-क्रिया के कारण किसी रोगी को अपने किसी अंग से वंचित होना पड़ता था तो चिकित्सक का भी वही अंग काट दिया जाता था (मर्मवधवैगुण्यकरणे मर्माणि शस्त्रक्रिया अन्यथा-करणे दण्डपारुष्यं विद्यात् भिषजिषणामीयेन रोगिणो यद् अंगम् व्यापादितं तद् भिषज उपहन्यात्) (IV १)।

चिकित्सकों में विशेषज्ञों की निम्नलिखित श्रेणियाँ होती थीं (१) काया-

एक चिकित्सक (भिषज: या चिकित्सका:) (२) जो विष-सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा करते थे (जांगलीविद) (३) प्रसूति-कार्य के विशेषज्ञ (गर्भव्याधि-संस्था तथा सूतिका-चिकित्सका:) (४) सेना के साथ शस्त्र-क्रिया के यंत्र तथा अन्य सामग्री तेल तथा पट्टियां आदि लेकर चलनेवाले चिकित्सक (चिकित्सका: शस्त्रयंत्रागद-स्नेहवस्त्र-हस्ता:) और (५) पशु चिकित्सक जो मवेशियों घोड़ों तथा हाथियों के रोगों का इलाज करते थे जिनका वर्णन पहले दिया जा चुका है (X, ३)।

सर्प-दंश चिकित्सा यह बात उल्लेखनीय है कि सांप के काटे का इलाज इतनी सफलतापूर्वक किया जाता था कि सिकंदर का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ और जब भी किसी को सांप काट लेता था तो वह अपने यूनानी चिकित्सकों की अपेक्षा हमेशा भारतीय वैद्य से परामर्श करता था (ऍरियन)।

औषधियों की व्यवस्था : नगरों में ऐसे चिकित्सालय भी होते थे जिनके औषधिभंडारों में कई वर्षों के लिए पर्याप्त मात्रा में विभिन्न औषधियां रहती थीं और निरंतर नई औषधियों द्वारा इन भंडारों की पूर्ति की जाती थी (नवेन अनर्वं शोधयेत्)। राज प्रासाद के औषधि भंडार में विशेष रूप से वे सभी औषधियां रहती थीं जिनकी प्रसवकाल में आवश्यकता पड़ती है और विभिन्न प्रकार के नियमित तापमान वाले कांच-गृहों में गमलों में जड़ी-बूटियां उगाई जाती थीं। सामान्य में राज्य के खर्चे पर जड़ी-बूटियों के उद्यान लगाए जाते थे (II. ४)।

रजक : मैले कपड़े साफ करने के लिए धोबी होते थे जिन्हें निश्चित स्थानों में लकड़ी के तख्तों या चिकने पत्थरों पर कपड़ों की धुलाई करनी पड़ती थी। किसी अन्य स्थान पर कपड़े धोने पर जुर्माना किया जाता था। इस उद्देश्य से कि धोबी किसी प्रकार की बेईमानी न करने पाएं अनेक नियम बनाये गए थे। दूसरों के कपड़ों से अलग रखने के लिए धोबियों के स्वयं अपने कपड़ों पर मुद्गर का चिह्न बना होता था। यदि वे कोई ऐसा कपड़ा पहने हुए पाए जाते थे जिस पर यह चिह्न न बना हो या यदि वे दूसरों के कपड़े बेचते गिरवी रखते या किराए पर देते हुए पकड़े जाते थे तो उन पर जुर्माना किया जाता था। एक ग्राहक के कपड़े किसी दूसरे ग्राहक के कपड़ों से बदल देने पर भी दंड दिया जाता था। कपड़े देर से लौटाए जाने पर भी जुर्माना देना पड़ता था। धुले हुए कपड़ों में सफेदी की चार श्रेणियां निर्धारित थीं। धुलाई के लिए जो शुल्क लिया जाता था वह इसी के अनुसार होता था कि कपड़ों में कितनी सफेदी आती है। उदाहरण के लिए सबसे अधिक सफेदी वाली सबसे अच्छी धुलाई के लिए चार गुना या समय लिया जाता था जबकि सबसे मैल निकाल

की साधारण धुलाई के लिए केवल एक रात का समय दिया जाता था साधारण रँगाई (तनुरागम्) के लिए ५ रात का समय दिया जाता था नील (नीलम्) आकरान के फूलों (पुष्प) लाख (लाक्षा) तथा मञ्जीष्ठा के फूलों से रँगाई के लिए ६ रातों का समय दिया जाता था। महँगे कपड़े (जात्य वस्त्र) धोने के लिए, जिसमें अधिक कौशल सावधानी तथा श्रम की आवश्यकता होती थी ७ रातों में धोकर वापस करना होता था (IV १)।

नगरमुख्य के सामान्य कर्तव्य : नगर के प्रधान कामकारी पदाधिकारी के कुछ कर्तव्य ऐसे बताये गए हैं, जिन्हें उसे प्रतिदिन पूरा करना होता था। उसे प्रतिदिन (१) नगर की जल-व्यवस्था (उदक-स्थान) (२) नगर की सड़कों (मार्ग) की दशा (३) उसके मैदानों (भूमय) (४) जमीन के नीचे बने हुए मार्गों (छन्नपथा) (५) नगर की प्रतिरक्षा के साधनों जैसे वप्र (कंगूरेदार दीवारें) प्राकार (भित्ति) और अट्टालक (मीनार) अथवा परिखा (खाई) का निरीक्षण करना पड़ता था।

उसे नगरपालिका की उचित व्यवस्था के अन्तर्गत उन चीजों की भी देखरेख (रक्षणम्) करनी पड़ती थी जिन्हें उनके मालिक अपनी लापरवाही के कारण या भूल से (प्रमृत) खो देते थे (नष्ट) और उन पशुओं को भी अपनी निगरानी में रखना पड़ता था जो भटककर इधर-उधर चले जाते थे (नष्टप्रस्मृतानाम् स्वयं अपक्रान्तानां द्विपद-चतुष्पदानाम्) (II ३६)।

मिलावट : अंतिम बात यह कि खाद्य-सामग्री जैसे अन्न तेल क्षार, लवण गंध अथवा औषधि में किसी भी प्रकार की मिलावट करनेवाले को (समवर्णोपधानं कुम्भयन्त्रे हीनमूल्यं धान्यादिभिः मिश्रणे) दंड देकर जन-स्वास्थ्य की रक्षा का उपाय किया जाता था।

नैतिक आचरण पर नियंत्रण : गणिकाध्यक्ष नामक एक विशेष पदाधिकारी के नियंत्रण में नगर की वेश्याओं (गणिका) के बारे में कुछ नियम बनाकर नगरवासियों के नैतिक आचरण की रक्षा की जाती थी (II २७)। गणिकाध्यक्ष गणिकाओं की आय तथा उनकी सम्पत्ति पर नियंत्रण रखता था। अपने ग्राहकों के साथ उनके सम्बन्धों का नियमन करने के उद्देश्य से कुछ कानून बना दिये गए थे। उनकी आय पर प्रति माह दो दिन की आय कर के रूप में ले ली जाती थी।

मनोरंजन : नगर में मनोरंजन तथा आमोद प्रमोद की व्यवस्था की कोई कमी नहीं थी। इसके लिए (१) अभिनेताओं (नट) (२) नाचनेवालों (नर्तक) (३) गवैयों (४) वाद्य-संगीत के कलाकारों (वादक) (५) कहानी सुनाने वालों (वाग्जीवी) (६) नाचनेवालियों (कुशीलवाः नर्तकीप्रभृतयः) (७)

रस्सी पर करतब दिखाने के विशेषज्ञों (प्लवक रज्ज्वारोहक) (८) बाजीगरों (सौभिक) (९) भाटों (चारण) तथा (१०) दलालों की मण्डलियाँ थीं।

कला की पाठशालाएँ नगरपालिका की ओर से निम्नलिखित कलाओं की शिक्षा देने वाली संस्थाओं की भी व्यवस्था की जाती थी (१) गीत ( ) वाद्य (३) कहानी कहने की कला (पाठ्यम् आख्यायिकादि) (४) नृत्य (नृत्तं पदार्थाभिनय) (५) अभिनय (नाट्यं वाक्यार्थाभिनय) (६) लिपि (७) चित्रकला (चित्रं आलेख्य-कर्म) (८) वीणा बाँसुरी (वेणु) तथा मृदंग बजाना (९) दूसरे के विचारों को बताना (परचित्तज्ञानम्) (१०) गन्ध बनाना (११) हार पिरोना (माल्य) (१२) मालिश करना (संवाहन) और (१३) वशीकरण (वैशिक) (दत्तक नामक गुरु द्वारा सिखायी गई वेश्याओं की कला)।

सारांश नगरों का विकास अब हम संक्षेप में उस समय के भारत में नगरों के जीवन का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। पौर जीवन के काफी विकास के फलस्वरूप ही ऐसी परिनिष्ठित् नगर व्यवस्था का जन्म हुआ होगा।

मेगास्थनीज की साक्षी : मेगास्थनीज ने लिखा है (अंश LXVI) कि भारत में नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि वह ठीक-ठीक बताई नहीं जा सकती। वहाँ 'नदियों के किनारे या समुद्रतट पर' या "विस्तृत खुले मैदान में या ऊँचे स्थानों पर" बने हुए नगर हैं।

नगरों अथवा दुर्गों के विषय में कौटिल्य के विचार : नगरों की स्थिति के बारे में मेगास्थनीज का उपर्युक्त विवरण कौटिल्य द्वारा निर्धारित सूत्रों से काफी हद तक मेल खाता है (नदीपर्वतदुर्गं नदीसंगमे ह्रदस्य वा अन्तर्द्वीपं स्थलं प्रास्तरं पार्वतम्)(II ३)। कौटिल्य ने इस सूत्र में सभी प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है जैसे (१) किसी नदी के तट पर (२) नदियों के संगम पर (३) किसी झील के किनारे (४) किसी द्वीप पर (५) किसी मरुस्थल (धान्वन) में (६) किसी जंगल (वन) में (७) या किसी पर्वत पर पत्थर से (पार्वतं प्रास्तरम्) बनाए जाने वाले दुर्ग। इन सब दुर्गों में कौटिल्य पर्वत पर बने हुए दुर्ग को सब से अधिक सुरक्षित मानता था क्योंकि वह प्राकृतिक रूप से सुरक्षित (स्वारक्षम्) होता है। ऐसे दुर्ग का घेरा कठिन (दुरुपरोधि) तथा उस पर जाना (दुरारोहम्) दुष्कर होता था और वहाँ से शत्रु पर (महापकारिणम्) पत्थर की शिलाएँ तथा वृक्ष आदि गिराकर (शिला-वृक्ष प्रमोक्षश्च) दुर्ग की और भी अच्छी तरह रक्षा की जा सकती थी। वह नदी तट पर बने हुए दुर्ग को (जैसे पाटलिपुत्र) अधिक नहीं मानता था क्योंकि नदी को लकड़ी के पुलों हाथियों तथा नावों की सहायता से पार किया जा सकता था (हस्ति-स्तम्भ

संक्रम सेतुबन्धनौभिः साध्यम्) इसके अतिरिक्त नदी के पानी को बिल्कुल सुखाया भी जा सकता था (अनित्यगांभीर्य अवस्राव्युदकम्) या उसका किया जा सकता था (VII १०)। यूनानी लेखकों की तरह ही कौटिल्य भी तक्षशिला का निवासी होने के नाते सिकंदर की घेरेबंदी के विरुद्ध मस्सग या आओर्नस जैसे चट्टानी किलों से की गई वीरतापूर्ण प्रतिरक्षा के अपने निजी अनुभव के आधार पर पर्वत पर बने हुए दुर्गों को अधिक पसंद करता था। उसने अवश्य ही यह भी देखा होगा कि सिकंदर अपने नावों के पुलों की सहायता से कितनी आसानी से नदियाँ पार कर लेता था। इसी प्रकार झेलम नदी को पार करके उसने अपने सबसे शक्तिशाली शत्रु पोरस को पराजित किया था। अर्थशास्त्र के सातवें अध्याय के १२वें सूत्र में उसने निश्चित रूप से अपना यह मत प्रकट किया है कि वह नदी के किनारे बने हुए दुर्ग की अपेक्षा पहाड़ी पर बने हुए दुर्ग को और खुले मैदान में बने हुए दुर्ग (स्थल-दुर्ग) की अपेक्षा नदी के किनारे बने हुए दुर्ग को अच्छा समझता है। अर्थशास्त्र के ८वें अध्याय के प्रथम सूत्र में कौटिल्य ने इस बात का उल्लेख किया है कि किसी पहाड़ी अन्तरीप या द्वीप पर बना हुआ अकेला दुर्ग सुरक्षित नहीं होता क्योंकि वहाँ अधिक लोग नहीं होते।

नगरों की संख्या यूनानी लेखकों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि पोरस के राज्य में ५, ० काफी बड़े नगर तथा असंख्य गाँव थे (प्लूटार्क सिकंदर LX)। ग्लौचुकायनिक (ग्लौसाई) नामक गण-जाति को इस बात पर गर्व था कि उसके छोटे-से राज्य में १७ नगर थे। मेगास्थनीज ने बताया है कि अकेले आंध्र राज्य में १ नगर थे (खण्ड LVIX)।

नगरों का वर्गीकरण नगरों की अनेक श्रेणियाँ थीं सबसे छोटा नगर संग्रहण कहलाता था और वह १० गाँवों के मंडल का केंद्र होता था। उसके बाद देहाती कस्बे आते थे जिन्हें कार्वटिक तथा द्रोणमुख कहते थे और जो २ या ४ गाँवों के केंद्र होते थे। फिर कस्बे अर्थात् स्थानीय (आजकल के थाने) आते थे फिर शहर (नगर या पुर) बंदरगाह (पट्टन) और अंत में राजधानी होती थी। इनमें सीमान्त प्रदेश में स्थित उन दुर्गों को भी जोड़ दिया जाना चाहिए, जो अन्तपालों के अधीन होते थे या जो देश के भीतर किसी मरुस्थल में जिसे कौटिल्य ने धान्वन कहा है, या जंगल में (वन दुर्ग) या दलदल तथा नीची भूमि पर (निम्नावरुद्धौदकम्) बने होते थे।

किलेबंदी की कला : नगरों के विकास में किलेबंदी की कला भी निहित थी जिसके बारे में प्राचीन काल से एक मानक योजना चली आई थी। पुष्कलावती मसकावती या वरणा (आओर्नोस) तथा पाटलिपुत्र जैसे नगरों में भारतीय किलेबंदी के जो नमूने यूनानियों ने देखे थे तथा जिनका वर्णन

रचनाओं में किया है और अर्थशास्त्र में प्रतिपादित सूत्र, प्राचीन महाकाव्यों में वर्णित नगरों पर भी चरितार्थ होते हैं। महाकाव्यों में वर्णित नगरों की सुरक्षा के लिए खाइयां तथा कंगूरेदार मीनारें, सुरंगें, जल-द्वारों तथा ऊपर-नीचे सरकनेवाले जंगलेदार फाटकों की व्यवस्था रहती थी।

भरहुत तथा सांची के स्मारकों की मूर्तिकला में जो चित्रण मिलता है वह इन विवरणों के अनुरूप है। ये स्मारक लगभग उसी काल के हैं।

राजधानी की इमारतें : कौटिलीय नगर अथवा राजधानी अपनी इमारतों के वैविध्य के कारण अवश्य ही उल्लेखनीय रहे होंगे, जैसे राजकोष की इमारत (कोशगृह), राजकीय अन्न भंडार (कोष्ठागार), राजकीय गोदाम (भाण्डागार), राजकीय शस्त्रशाला (आयुधागार), व्यापारियों का मालगोदाम (पण्यगृह), न्यायालय (धर्मस्थीय), परिषद् भवन (उपस्थान अथवा सभाभूमि), प्रशासन कार्यालय अथवा मंत्रालय के कार्यालय (महामात्रीय), कारागार (बन्धनागार) तथा औद्योगिक कारखाने (कर्मान्त)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राजकीय रत्न-कोष के लिए जमीन के नीचे एक तिमंजिली इमारत होती थी (पहले दिया गया विवरण देखिए)।

सुविधाएं : नगरपालिकाओं द्वारा साधारण नगरवासियों को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए बहुत-सी सुविधाएं प्रदान की जाती थीं। इसके लिए नियम बने हुए थे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। हर सड़क पर नालियां होती थीं जिनमें घरों का पानी बहकर आता था और ये सब नालियां अंत में जाकर किले की खाई में गिरती थीं। यदि इनमें कूड़ा-करकट अथवा अन्य कोई वस्तु डालकर कोई इनका प्रवाह अवरुद्ध करता था तो उसे दंड दिया जाता था। इस प्रकार के नियम बनाये गए थे जिससे पड़ोसियों को किसी प्रकार की असुविधा न होने पाए। किसी घर में ऐसी खिड़की जो दूसरे के घर की खिड़की के सामने खुलती हो उस समय तक नहीं बनाई जा सकती थी जब तक बीच में कोई सड़क न हो। आग बुझाने के लिए सर्वोत्तम व्यवस्था के बजाय सड़कों पर हर समय पानी से भरे हुए हजारों बरतन रखे रहते थे। सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए यह व्यवस्था भी थी कि रात्रि के समय एक निश्चित अवधि के बीच कोई अपने घर से बाहर नहीं निकल सकता था। इस अवधि की घोषणा तुरही बजाकर कर दी जाती थी। नगरपालिका के प्रधान (मेयर) को सभी घटनाओं की सूचना देनी पड़ती थी और समस्त खोई हुई अथवा लावारिस सम्पत्ति अपनी निगरानी में रखनी पड़ती थी। नगर की सुरक्षा और शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए नगरपालिकाओं ने यह नियम बना लिया था कि समस्त मंदिरों, धार्मिक विश्राम स्थानों, नगरों तथा बाजार प्रभागों के स्थानों पर निगरानी रखी जाए और वे

हर महायस्युक के आगमन की सूचना दें।

नगर के जीवन की रंगीनी उसके मदिरालयों जलपानगृहों भोजनालयों सरायों जुआघरों तथा कसाईबाड़ा में देखने म आती थी। नगर म सार्वजनिक भोज तथा नाट्य-अभिनय भी होते थे। चिकित्सकों की भी बड़ी सुविधा थी। राजा की सवारी बड़ी धूमधाम से निकलती थी।

कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विवरणों की समानता उपर्युक्त विवरण से यह भी पता चलता है कि कौटिल्य ने प्रशासन-सम्बन्धी जिन बातों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, वे यूनानी लेखकों की रचनाओं म दिए गए नाम विवरण स पूरी तरह मेल खाता है। परन्तु हम इस विषय पर कुछ अधिक विस्तारपूर्वक विचार करेंगे क्योंकि इस प्रकार हमें इस बात का प्रमाण मिलता है कि अर्थशास्त्र में मौर्यकालीन भारत का सजीव चित्रण किया गया है।

नगर के अधिकारी मेगास्थनीज ने अस्तोनोमोइ नामक नगर-अधिकारियों का उल्लेख किया है, जिनके दायित्वों का वर्णन कौटिल्य न विस्तारपूर्वक किया है। इन कामों में कौटिल्य ने 'फैक्टरियो के निरीक्षण' का भी उल्लेख किया है। कौटिल्य ने कहा है कि नगरों की ये फैक्टरियाँ कपास उद्योग कताई तथा बुनाई उद्योग सोने-चाँदी के आभूषण बनाने के उद्योग जो मुख्यत नगरों का ही उद्योग था और सोने-चाँदी के अतिरिक्त अन्य धातुओं की चीजें बनाने अस्त्रास्त्र उद्योग भवन-निर्माण उद्योम सरकारी टकसाल धूप की चीज बनाने तथा वन-सम्पदा का उपयोग करने के कारखाने होते थ। मेगास्थनीज के अनुसार नगरों की फैक्टरियों पर सरकार की 'निगरानी' रहती थी। कौटिल्य ने बताया है कि यह निगरानी वे सरकारी अध्यक्ष रखते थे जिन पर इन फैक्टरियों की निगरानी का दायित्व रहता था जैसे सूत्राध्यक्ष सौवर्णिक लोहाध्यक्ष लक्षणाध्यक्ष रूप्याध्यक्ष आदि।

मेगास्थनीज ने इसके बाद नगर-अधिकारियों के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया है जिनके काम में मदिरालयों का नियंत्रण नगर में बाहर से आने वालों की देखभाल तथा उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करना शामिल था। कौटिल्य ने विस्तारपूर्वक इस बात का वर्णन किया है कि नगर का प्रशासन इन कार्यों तथा अन्य कई कामों का भार सँभालता था जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। स्वयं एक विदेशी यात्री होने के नाते मेगास्थनीज न "अजनबियों" अथवा विदेश के लोगों के सम्बन्ध में नगर के कर्तव्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। कौटिल्य ने इस दायित्व को नगर प्रशासन के अन्य प्रासंगिक कामों में शामिल किया है।

मेगास्थनीज ने कामों की जिस तीसरी श्रेणी का उल्लेख किया है, उसका

सम्बन्ध मृत्यु तथा जन्म का हिसाब रखने से है। कौटिल्य ने भी स्थानिक तथा गोप नामक अधिकारियों का उल्लेख किया है जिनका काम यह था कि वे जन संख्या की पूरी सूची रखें और मूलभूत महत्त्व के आंकड़ों का हिसाब रखने के अतिरिक्त नियमित रूप से जनगणना करें। इस काम के लिए अधिकारियों को घर घर घूमना पड़ता था और इस उद्देश्य से नगर को अनेक मंडलों में विभाजित कर दिया जाता था।

मेगास्थनीज का ध्यान नगर-अधिकारियों के कामों की जिस चौथी श्रेणी की ओर आकृष्ट हुआ उसे उसने 'बाजार का नियन्त्रण' कहा है। कौटिल्य ने बताया है कि इस काम के लिए एक विशेष अधिकारी होता था जिसे पण्याध्यक्ष कहते थे जिसके कामों का उल्लेख विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया जा चुका है।

इसके बाद मेगास्थनीज ने नगर-अधिकारियों द्वारा "माप-तोल के मानदंडों के निरीक्षण" का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने बताया है कि यह काम एक विशेष अधिकारी के जिम्मे था जिसे पौतवाध्यक्ष कहते थे।

मेगास्थनीज ने नगर-अधिकारियों के कामों की पाँचवीं श्रेणी का उल्लेख इन शब्दों में किया है: "तैयार माल का निरीक्षण करना और नई तथा पुरानी चीजों में सही-सही अन्तर रखते हुए उस माल की बिक्री की व्यवस्था करना।"

ये सब काम नगर का वह अधिकारी करता था जिसे कौटिल्य ने पण्याध्यक्ष कहा है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि वह मूल्य पर, स्वदेशी तथा विदेशी दोनों प्रकार की चीजों के बाजारों पर, खाद्य-सामग्री पर और आयात तथा निर्यात पर नियन्त्रण रखता था।

अन्त में मेगास्थनीज ने बिके हुए माल पर लगाए जाने वाले कर की वसूली से सम्बन्धित कामों का उल्लेख किया है। मेगास्थनीज तथा कौटिल्य ने बिके हुए माल पर उसके मूल्य के अनुसार कर वसूल करने का उल्लेख किया है। अन्तर केवल यह है कि मेगास्थनीज ने लिखा है कि यह कर दशमांश होता था जबकि अर्थशास्त्र में ५ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत तक कर की विभिन्न दरों का उल्लेख किया गया है। यह कर वसूल करने का काम शुल्काध्यक्ष नामक अधिकारी के जिम्मे रहता था।

मेगास्थनीज ने "नई तथा पुरानी चीजों के बीच सही-सही अन्तर रखने" की जो बात कही है उसका दायित्व कौटिल्य द्वारा उल्लिखित संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी पर रहता था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस अधिकारी को इस बात का अधिकार था कि यदि कोई व्यापारी अपने माल की मात्रा अथवा उसका मूल्य कम बताए या कर देने से बचने के लिए अपने माल की वास्तविक कोटि को छिपाने के उद्देश्य से घटिया नमूना दिखाए तो वह उसे दंड दे सकता

था। हम पहले इस बात का भी उल्लेख कर चुके हैं कि मिलावट करने पर किस प्रकार दण्ड दिया जाता था।

स्ट्राबो के मतानुसार नगर-अधिकारियों के इन दायित्वों को पाँच-पाँच सदस्यों के छ मण्डल पूरा करते थे। जैसा कि एफ डब्ल्यू टामस ने लिखा है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४८९) "इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्धति अलग-अलग स्थानों में अलग अलग रूपों में लागू होती थी और सम्भव है कि यह अन्तर इस आधार पर होता हो कि वह नगर राजधानी था या कोई साधारण कस्बा वह किसी सार्वभौम शासक के अधीन था या स्वतन्त्र था। हम इसकी तुलना स्वयं अपने इंग्लैंड में मध्यकाल के इंग्लैंड के 'रायल बरोज' तथा स्वतंत्र नगरों के अन्तर से कर सकते हैं।

जिले के अधिकारी जिले के अधिकारियों अर्थात् एग्रोनोमोई के सम्बन्ध में जिनमें से अधिकांश शासन-तन्त्र में काम करने वाले समाहर्ता के नियन्त्रण में रहते थे कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विचारों में हम एक समानता पाते हैं।

कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विचारों की समानता सिंचाई मेगास्थनीज ने बताया है कि उनके पहले काम का सम्बन्ध सिंचाई तथा जमीन की पैमाइश से था। हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र में सिंचाई को समाहर्ता के कर्तव्यों में एक बताया गया है। इसका संकेत नदीपाल (नदियों तथा उनके घाटों पर निगरानी रखने वाला अध्यक्ष) तर नाव सेतु तथा सीता आदि अनेक शब्दों में मिलता है। इस बात का भी पता चलता है कि समाहर्ता प्रधान नियन्त्रक अधिकारी अर्थात् अपने विभाग का अध्यक्ष होता था पर उसके अधीन जिलों में अनेक छोटे-छोटे विभागीय अध्यक्ष होते थे जिनमें से एक सीताध्यक्ष अर्थात् कृषि निर्देशक होता था जिसके जिम्मे सिंचाई की व्यवस्था करने तथा सिंचाई का कर वसूल करने का काम होता था। हम पहले देख चुके हैं कि सिंचाई के साधनों के अनुसार सिंचाई-कर की दर किस प्रकार बदलती रहती थी।

मेगास्थनीज ने आगे चलकर उन अधिकारियों का भी उल्लेख किया है 'जो नदियों पर निगरानी रखते थे। भूमि की पैमाइश करते थे। उन जल-द्वारों का निरीक्षण करते थे जिनके रास्ते बड़ी नहर में से उसकी शाखाओं में पानी पहुँचाया जाता था ताकि सबको बराबर-बराबर पानी मिल सके। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कौटिल्य ने नदियों पर निगरानी रखने वाले अधिकारी को नदीपाल का बहुत ही उचित नाम दिया है। सीताध्यक्ष के बारे में यह कहा गया है कि "वह नदी झील (घट) जलाशय (तटाक) तथा कूपों (कूप) से जल-द्वारों के नियमन द्वारा पानी के उचित वितरण की व्यवस्था करता था" (वप्रपातमत्ते निःसामते जल आगमति वप्रकटो सरसदकाति-सयंमम्) (II ...)

था। हम पहले इस बात का भी उल्लेख कर चुके हैं कि मिलावट करने पर किस प्रकार दंड दिया जाता था।

स्ट्राबो के मतानुसार नगर-अधिकारियों के इन दायित्वों को पाँच-पाँच सदस्यों के छः मंडल पूरा करते थे। जैसा कि एफ॰ डब्ल्यू॰ टामस ने लिखा है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री I, ४८९) "इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्धति अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग वर्षों में लागू होती थी और संभव है कि यह अन्तर इस आधार पर होता हो कि वह नगर राजधानी था या कोई साधारण कस्बा; वह किसी सार्वभौम शासक के अधीन था या स्वतंत्र था। हम इसकी तुलना स्वयं अपने इंग्लैंड में मध्यकाल के इंग्लैंड के 'रायल बरोज' तथा स्वतंत्र नगरों के अन्तर से कर सकते हैं।

ज़िले के अधिकारी : ज़िले के अधिकारियों अर्थात् एग्रोनोमोई के सम्बन्ध में जिनमें से अधिकांश शासन-केंद्र में काम करने वाले समाहर्ता के नियंत्रण में रहते थे कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विचारों में हम एक समानता पाते हैं।

कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विचारों की समानता : सिंचाई : मेगास्थनीज ने बताया है कि उनके पहले काम का सम्बन्ध सिंचाई तथा जमीन की पैमाइश से था। हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र में सिंचाई को समाहर्ता के कर्तव्यों में से एक बताया गया है। इसका संकेत नदीपाल (नदियों तथा उनके घाटों पर निगरानी रखने वाला अध्यक्ष) तर नाव सेतु तथा स्रोता आदि अनेक शब्दों में मिलता है। इस बात का भी पता चलता है कि समाहर्ता प्रधान नियंत्रक अधिकारी अर्थात् अपने विभाग का अध्यक्ष होता था पर उसके अधीन ज़िलों में अनेक छोटे-छोटे विभागीय अध्यक्ष होते थे जिनमें से एक सीताध्यक्ष अर्थात् कृषि निर्देशक होता था जिसके ज़िम्मे सिंचाई की व्यवस्था करने तथा सिंचाई का कर वसूल करने का काम होता था। हम पहले देख चुके हैं कि सिंचाई के साधनों के अनुसार सिंचाई-कर की दर किस प्रकार बदलती रहती थी।

मेगास्थनीज ने आगे चलकर उन अधिकारियों का भी उल्लेख किया है 'जो नदियों पर निगरानी रखते थे। भूमि की पैमाइश करते थे। उन जल-द्वारों का निरीक्षण करते थे जिनके रास्ते बड़ी नहर में से उसकी शाखाओं में पानी पहुँचाया जाता था ताकि सबको बराबर-बराबर पानी मिल सके। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कौटिल्य ने नदियों पर निगरानी रखने वाले अधिकारी को नदीपाल का बहुत ही उचित नाम दिया है। सीताध्यक्ष के बारे में यह कहा गया है कि "वह नदी, झील (सर), जलाशय (तटाक) तथा कूपों (कूप) से जल-द्वारों के नियमन द्वारा पानी के उचित वितरण की व्यवस्था करता था" ([illegible]) (II २४)।

एक नियम यह भी था कि यदि 'कोई निश्चित क्रम के विपरीत (अकारे) पानी देता था या प्राप्त करता था या जिस खेत की बारी होती थी (वारे) उसमें पानी पहुँचने से रोके, तो यह अपराध है और इसके लिए दंड दिया जा सकता है। (III ९)। इससे पता चलता है कि (क) उपभोक्ताओं अर्थात् काश्तकारों के बीच नहर के पानी का वितरण बारी-बारी से किया जाता था और (ख) यह वितरण जल-द्वार को किया द्वारा किया जाता था। जिन खेतों में नहर के पानी से सिंचाई होती थी उन्हें कुल्या-वाप कहा गया है (II, २४)। सिंचाई की एक ऐसी व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है जिसे स्रोतोयंत्र-प्रावर्तिमम कहा गया है, जिसका अभिप्राय उस व्यवस्था अथवा यंत्र से है जिसके द्वारा सिंचाई-अधिकारी बहती हुई जल-धाराओं से पानी लाकर खेतों में पहुँचाता था (सारणीपातित जलनिष्कासे उदकभागम् उपर्युक्त)। मेगास्थनीज के इस कथन के सम्बन्ध में कि जल का वितरण ऐसा होना चाहिए कि 'सबको बराबर-बराबर पानी मिल सके' यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कौटिल्य ने सिंचाई का पानी सबको बराबर-बराबर मिलने की व्यवस्था सुनिश्चित कर दी थी। सबसे समान दर से कर वसूल किया जाता था और जो भी अपनी सिंचाई की आवश्यकता के लिए जितना पानी लेता था उसके लिए उसे समान रूप से पैसा देना पड़ता था। विभिन्न स्तरों पर स्थित विभिन्न खेतों (केदार) के बीच पानी के वितरण के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले झगड़ों का निबटारा भी सिंचाई कार्यालय करता था। यदि बाद में निचले स्तर पर कोई जलाशय बनाया जाता था (पश्चान्निविष्टमधर-स्तटाकम्) तो उसे इस प्रकार बनाना पड़ता था कि उसका जल पहले से ऊँचे स्तर पर बने हुए जलाशय द्वारा सींचे जाने वाले खेत में न भरने पाए (उदकेन प्लावयेत्)। और न ही ऊँचे स्तर पर बनाये गए नए तालाब से नीचे स्तर पर बने हुए पुराने तालाब में पानी के बहाव को रोकने की इजाजत थी। ऐसा केवल उसी दशा में किया जा सकता था जब वह पानी सिंचाई के लिए आवश्यक न हो (III, ९)।

जमीन की पैमाइश के बारे में (मेगास्थनीज की अन्तिम बात के सम्बन्ध में) हम पैमाइश तथा बंदोबस्त पर आधारित भू राजस्व प्रशासन का वर्णन विस्तार-पूर्वक पहले ही कर चुके हैं।

शिकार मेगास्थनीज ने इसके बाद जिले के अधिकारियों के दायित्वों की जिस श्रेणी का उल्लेख किया है, उसका सम्बन्ध शिकार पर निगरानी रखने से है। इन दायित्वों के प्रसंग में कौटिल्य ने कुप्याध्यक्ष नामक एक अधिकारी के अधीन एक नियमित वन-विभाग का उल्लेख किया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, इस अधिकारी का काम यह होता था कि वह वनों के ऐसे रक्षक (वन-

पाल) नियुक्त करे, जो हर पेड़ के बारे में छोटी-से-छोटी बात से भी परिचित हों और वन में पैदा होने वाली विभिन्न चीज़ें जमा कर सकें वनों तथा उनकी सम्पदा के संरक्षण की व्यवस्था कर सकें। कुप्याध्यक्ष के साथ विवीताध्यक्ष नामक एक और अधिकारी होता था जिसका काम मवेशियों की चरागाहों को वन्य पशुओं के अतिक्रमण से सुरक्षित रखना था। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं उसे इस काम के लिए बहुत-से शिकारियों (लुब्धक) को नौकर रखना पड़ता था जो अपने शिकारी कुत्तों द्वारा (श्वगण) जंगलों को समस्त हानिकारक तत्वों से मुक्त रखते थे।

हम यह भी देख चुके हैं कि इस बात के बारे में मेगास्थनीज तथा कौटिल्य दोनों का मतैक्य था कि शिकार मुख्यतः राजा का एक मनोरंजन था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कौटिल्य शिकार को राजा के लिए एक स्वास्थ्यप्रद तथा हितकर क्रीड़ा समझता था परन्तु उसने इसके साथ ही यह शर्त भी लगा दी थी कि राजा की सुरक्षा के लिए ऐसे शिकारी (लुब्धक) भी साथ रखे जाएँ जो राजा की श्वानशाला के शिकारी कुत्तों की सहायता से जंगलों को शेर आदि हिंसक पशुओं से मुक्त रखें ताकि राजा सुरक्षा के वातावरण में भागते हुए मृग जैसे गतिमान लक्ष्य पर निशाना लगाने की दुःसाध्य कला सीख सके।

वन-उद्योग तथा खनिज-उद्योग : मेगास्थनीज ने लिखा है कि कृषि वनों लकड़ी के काम धातु की ढलाई के कारखानों तथा खानों से सम्बन्धित विभिन्न उद्योगों की देख-रेख का भार जिले के अधिकारियों पर रहता था। कौटिल्य ने इन दायित्वों को कई विभागों के अध्यक्षों के बीच बाँट दिया है, जैसे सीताध्यक्ष कुप्याध्यक्ष आकराध्यक्ष लोहाध्यक्ष सुवर्णाध्यक्ष तथा खन्याध्यक्ष जो अपने अपने विभागों के काम का लेखा-जोखा समाहर्ता तथा सन्निधाता नामक अपने प्रधान अधिकारियों के सामने प्रस्तुत करते थे। ये अधिकारी राजधानियों में रहते थे।

सड़कें : अंत में मेगास्थनीज ने सड़कों की देख-भाल करने के सम्बन्ध में इन अधिकारियों के दायित्वों का उल्लेख किया है। हम पहले देख चुके हैं कि कौटिल्य की प्रशासन-व्यवस्था में यातायात के मार्गों (वणिक्पथ) को अच्छी दशा में रखना समाहर्ता का एक मुख्य कर्तव्य था। कौटिल्य ने देश की अनेक प्रकार की सड़कों का उल्लेख किया है, जिन्हें उसने निम्नलिखित नाम दिए हैं (१) राजमार्ग [I २१ II ४],(२) रथ्या अर्थात् जिले के शासन-केंद्र तक जाने वाली प्रांतीय सड़कें (३) हाथियों के वनों को जानेवाली सड़कें (४) खेतों को जानेवाली छोटी सड़कें (प्रपथ) तथा अन्य छोटी सड़कें (५) गाड़ियों के आने-जाने के लिए सड़कें।

कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विवरणों की अनेक समानताओं को एच॰ जी॰ रालिंसन नामक प्रख्यात विद्वान ने संक्षेप में इन शब्दों में व्यक्त किया है (इंडिया ऐंड द वेस्टर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ६७) : "चन्द्रगुप्त के राजभवन का जो विवरण मेगास्थनीज ने दिया है उसकी बहुत-सी बातों की पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र द्वारा होती है। इस ग्रंथ में राजप्रासाद का वर्णन उसकी खाइयों प्राचीरों तथा मीनारों का विवरण बहुत हद तक उसी रूप में किया गया है जैसा कि मेगास्थनीज ने वर्णन किया है। राजा के साथ हर समय "धनुष-बाण से सशस्त्र स्त्रियों" का एक अंगरक्षक दल रहता है (जिन्हें अर्थशास्त्र में स्त्रीगणैः धन्विभिः कहा गया है, II १)।

'अर्थशास्त्र' में अधिकारियों के अति सुसंगठित पद-सोपान का वर्णन जिन शब्दों में किया गया है वह मेगास्थनीज के विवरण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है अंतर केवल यह है कि अर्थशास्त्र में यह वर्णन अधिक विस्तारपूर्वक दिया गया है। जैसे मेगास्थनीज ने हमें बताया है कि जंगलों मंदिरों बंदरगाहों खानों तथा सड़कों आदि की देख भाल करने के लिए जिला-अधिकारी होते थे। उसने नगरपालिका की व्यवस्था चलाने वाले छः मंडलों का भी वर्णन किया है, पर उन सबके सामान्य कार्य लगभग एक जैसे ही बताये गए हैं। उदाहरण के लिए कौटिल्य ने एक वाणिज्य अध्यक्ष तथा एक मालगोदामों के अध्यक्ष का उल्लेख किया है, जो मिलकर बाजारों की व्यवस्था की देखभाल करते थे बाजार में विभिन्न चीजों का मूल्य निर्धारित करते थे कृषि की पैदावार के व्यापार का नियमन करते थे सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर लगाते थे और खरीदे तथा बेच जाने वाले माल पर राजा की ओर से कर वसूल करते थे। मेगास्थनीज ने शासन-व्यवस्था का जिस रूप में वर्णन किया है, उसमें पहले चौथे पांचवें तथा छठे मंडलों के कर्तव्य लगभग यही बताये गए हैं।

"अर्थशास्त्र में वेश्याओं तथा सार्वजनिक स्थानों में जुआ खेलने पर निगरानी रखने वाले एक अध्यक्ष का उल्लेख मिलता है मेगास्थनीज के यहां पुलिस विभाग के इन दो दायित्वों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर मेगास्थनीज ने इस बात का उल्लेख अवश्य किया है कि राजा के गुप्तचर जानकारी प्राप्त करने के लिए किस प्रकार वेश्याओं की सहायता लेते थे। इस प्राचीन पेशे को एक व्यवसाय के रूप में मान्यता प्राप्त थी उस पर कर लगाया जाता था उसका निरीक्षण होता था और सरकार उसका लाभ उठाती थी।

"एक महत्त्वपूर्ण बात के बारे में कौटिल्य से हमें ऐसी जानकारी प्राप्त होती है, जिससे मेगास्थनीज के विवरण की काफी हद तक पुष्टि होती है। वह है जहाज-रानी के मंडल से सम्बन्धित जानकारी। बंदरगाहों का अधीक्षक समुद्र तथा नदियों

के रास्ते होने वाले यातायात तथा घाटों पर निगरानी रखता था। मछुओं व्यापा-रियों तथा मांझियों से कर लिया जाता था और घाट सरकार के अधीन थे। जिन स्थानों से नदियों को पार किया जा सकता था वहाँ पर संतरियों का पहरा रहता था जो संदिग्ध लोगों को इन स्थानों में घुसने या वहाँ से निकलने से रोकते थे। बंदरगाहों के प्रधान अधिकारियों का यह कर्तव्य था कि वे विपद्ग्रस्त जहाजों की सहायता करें और नदियों के घाटों की देख भाल करने वाले अधिकारियों का यह कर्तव्य था कि जब नदी उफान हालत में हो तब वे किसी को उसके पार न जाने दें।

"कुल मिलाकर देखा जाए, तो ये दोनों विवरण अत्यंत सराहनीय ढंग से एक-दूसरे के पूरक हैं।"

अध्याय ९

विधि

विधि के स्रोत : कौटिल्य ने (III १) उनकी सार्थकता के क्रम के अनुसार विधि के चार स्रोतों का उल्लेख किया है (१) धर्म (सत्य पर आधारित धर्म सत्ये स्थितो धर्मो) (२) व्यवहार (जो बातें आपस में तै कर ली गई हों) (३) चरित्र (रीति-रिवाज) और (४) राजशासन (राजाज्ञा)।

यह भी कहा गया है कि राजा को (१) धर्म (२) व्यवहार, (३) संस्था (लोकाचार) तथा (४) न्याय के अनुसार इस कानून का पालन करवाना चाहिए (अनुशासन)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशासन अर्थात् राजाज्ञा जिसे विधि का चौथा स्रोत बताया गया है वह न्याय पर आधारित है, अर्थात् इस बात पर कि राजा की दृष्टि में क्या उचित है।

राजशासन अर्थात् यह बात कि राजा कानून को किस रूप में लागू करता है या जिसे हम न्यायाधीश का निर्णय अथवा न्यायाधीश का बनाया हुआ कानून कह सकते हैं वह न्याय अर्थात् धर्म द्वारा निर्धारित होती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधि का अंतिम स्रोत न्याय है। यह बात भी समझाई गई है कि किसी विवाद में (अर्थे) लोकाचार अर्थात् संस्था और धर्म शास्त्र (उदाहरण के लिए मनु का धर्मशास्त्र) के बीच या राजाज्ञा (शास्त्रं राज शासनम्) तथा साक्षी द्वारा सिद्ध होने वाली परिस्थिति में (व्यावहारिक साक्षी

व्यवहार) कोई मतभेद हो तो उसका निवारण धर्म अर्थात् धर्मशास्त्र के अनुसार किया जाता था। ऐसी परिस्थिति में न तो गवाहों की साक्षी को कोई महत्त्व दिया जाता था न राजा के मत को। परन्तु यदि शास्त्र अर्थात् धर्मशास्त्र और स्थानीय धर्म तथा आचार अर्थात् रीति-रिवाजों द्वारा समर्थित न्याय के बीच कोई मतभेद हो तो न्याय को प्रधान माना जाता था। ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्र के सूत्र का कोई महत्त्व नहीं होता था (तत्र पाठो हि नश्यति)। उदाहरण के लिए, जैसा कि टीकाकार ने बताया है धर्मशास्त्र का एक सूत्र यह है कि यदि कोई दरवाजा टूट गया हो और उसके पास ही कोई आदमी हाथ में फावड़ा लिये हुए पाया जाए तो यह माना जाएगा कि उसी आदमी ने दरवाजा तोड़ा है (कुद्दालपाणिर्विज्ञेयः सन्धिभेत्ता समीपगः)। परन्तु यदि वह फावड़ा किसी बच्चे के हाथ में हो जो यह अपराध करने की क्षमता ही न रखता हो तो यह निर्णय स्वीकार्य न होगा।

कौटिल्य ने इस परिकल्पना पर जोर दिया है कि राजा दण्ड का प्रतीक होता है और दण्ड धर्म का अर्थात् वह वर्णाश्रम धर्म और उस पर आधारित लोकाचार का नियमन करने वाली विधि की रक्षा करता है। यही राज-धर्म अन्य सभी धर्मों की रक्षा करता है, जो इस संरक्षण के बिना नष्ट हो जाएँगे (चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्। नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्मः प्रवर्तकः)। इस प्रकार दण्ड, जो सबसे समान रूप से धर्म का पालन करवाता है चाहे वह बेटा हो या शत्रु, और जो किसी भी व्यक्ति के साथ पक्षपात नहीं करता इस लोक में सुख की स्थापना करेगा और परलोक में भी सब के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा (दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः)।

न्यायालय ऊपर जिस रूप में धर्म की व्याख्या की गई है, उसका पूर्ण ज्ञान रखने वाले लोगों को न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था जिन्हें धर्मस्थ कहते थे। न्यायाधीश अमात्यों के स्तर के अधिकारियों में से नियुक्त किए जाते थे और वे भी ऐसे अमात्य जो धर्म अर्थात् सदाचार की कसौटी पर भी पूरे उतरते हों (धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्) (I १०)।

न्यायालय में छ न्यायाधीश होते थे जिनमें से तीन विधि के विशेषज्ञ होते थे और तीन अमात्य होते थे। न्यायालय विभिन्न प्रशासन-केंद्रों में स्थापित किए जाते थे देश के भीतर भी (जनपद) और उसके सीमान्त प्रदेशों के नाकों (दुर्ग) में भी जहाँ से अन्तपाल इन सीमान्त प्रदेशों का प्रशासन चलाते थे। देश के भीतर वे संग्रहण द्रोणमुख तथा स्थानीय नामक केंद्रों में स्थापित किए जाते थे (जनपदसन्ध्यादिषु जनपदसन्धौ अन्तपालदुर्गे संग्रहण-द्रोणमुखस्थानीयेषु)।

न्यायालय का समय प्रातःकाल होता था।

दीवानी का कानून इसकी व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की

गई हैं विवाह तथा दहेज उत्तराधिकार, घर तथा पास-पड़ोस (जिसमें अतिक्रमण भी शामिल है) ऋण अमानत दास श्रम संविदा बिक्री हिंसा तथा अनाचार, जुआ तथा विविध ।

व्यवहार की वैधता: कुछ नियमों में यह बताया गया है कि किन परिस्थितियों में समझौते (व्यवहार) वैध नहीं रह पाते जैसे (१) तिरोहित, अर्थात् यदि उस समझौते को क्रियान्वित करने में निम्नलिखित कारणों से कोई दोष उत्पन्न हो गया हो (क) वह स्वामी की अनुमति के बिना (स्वामितिरोहित) क्रियान्वित किया गया हो (ख) वह किसी ऐसे अनुपयुक्त स्थान में क्रियान्वित किया गया हो (देशतिरोहित परोक्षसाक्षिक) जहाँ कोई प्रत्यक्ष साक्षी उपस्थित न हो (ग) यदि वह उचित समय व्यतीत हो जाने के बाद पूरा किया गया हो (काल-तिरोहित) (घ) किसी अनुचित क्रिया द्वारा पूरा किया गया हो (क्रियातिरोहित) (च) या अचल सम्पत्ति के किसी ऐसे भाग के प्रसंग में क्रियान्वित किया गया हो जो दृश्य वस्तु न हो (द्रव्यतिरोहित) (२) अन्तरगार (वह समझौता जो किसी गुप्त कक्ष में किया गया हो) (३) नक्त (रात्रि के समय किया गया हो) (४) अरण्य (किसी वन में किया गया हो) (५) उपधि (उपहृत:) (छलकपट द्वारा सम्पन्न किया गया हो और (६) उपह्वर (उस समझौते में भाग लेनेवाले दो पक्षों द्वारा गुप्त रूप से किया गया हो) ।

परन्तु इनमें से प्रत्येक परिस्थिति के कुछ अपवाद हैं विशेष रूप से ऐसी दशा में जब साक्षी मौजूद हो या समझौता घर के भीतर ऐसी औरतों के बारे में किया गया हो जो परदा करती हों (स्त्रीणां अनिष्क्रासिनीनाम्) या जो बीमारों या ऐसे लोगों के बारे में किया गया हो जिनका दिमाग ठीक न हो और जो घर के बाहर निकलकर यह समझौता सम्पन्न न कर सकते हों ।

कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के वैध तथा अवैध समझौतों (व्यवहारों) का उल्लेख किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनका अंतर स्पष्ट नहीं हुआ है ।

ऊपर बताए गए (१) (घ) वर्ग के उन समझौतों पर, जो किसी पुरुष तथा स्त्री के बीच गान्धर्व विवाह (मिथ समवाये) के सम्बन्ध में किये गए हों या वर्ग (३) के उन समझौतों पर जो वनवासियों (अरण्यचराणां) द्वारा किये गए हों चाहे वे व्यापारी (सार्थ) हों या चरवाहे (व्रजाः गौपालकाः) या जंगल में रहते हों (आश्रमी वनचरदुर्भिक्ष:) या शिकारी हों (व्याधा किराताः) या घूमने-फिरने वाले नट हों (चारणाः संभूयसमुत्थानाविरोधिनः) ये प्रतिबन्ध लागू नहीं होते थे ।

अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा किए गए समझौते वैध नहीं माने जाते थे ।

समझौते विवादों के बारे में निर्णय देने की कार्य-पद्धति के बारे में भी कुछ

नियम बना दिये गए थे जिनके अन्तर्गत वादी को अपनी बात कहने प्रतिवादी को उसका खंडन करने तथा वादी को फिर उसका प्रत्युत्तर देने का मौका दिया जाता था।

कार्य-पद्धति मुकदमे की सुनवाई से पहले समझौते की तिथि वादी तथा प्रतिवादी के नाम उनके निवासस्थान जाति गोत्र तथा उनकी हैसियत (कृतसमर्थावस्थयोः) दर्ज करना आवश्यक होता था (अभिलिख्य निवेशयेत्)।

वादी तथा प्रतिवादी के बयान भी यथोचित ढंग से लिखकर दर्ज कर लिए जाते थे।

इन लिखित वक्तव्यों की बड़े ध्यानपूर्वक जाँच की जाती थी (निविष्टांश्च अवेक्षेत्)।

बयान लिखने वाला लेखक यदि न्यायालय का लेखक (मुहर्रिर) वक्तव्यों को उस ढंग से दर्ज नहीं करता था जिस ढंग से वे दिए जाते थे या यदि वह ऐसी बातें लिखता था जो न कही गई हों और कही गई बातों को नहीं दर्ज करता था (उक्तं न लिखति अनुक्तं लिखति) कही गई बात में अपनी तरफ से कुछ शब्द जोड़कर उसे अनापत्तिजनक (दुरुक्तं उपलिखति) या आपत्तिजनक (सूक्तं उल्लिखति) बना देता था और इस प्रकार उस विवाद के आधार का बदल देता था (अर्थोत्पत्तिम् वा विकल्पयति ताम्यसिद्धिमस्यथमति) तो उसे उसके अपराध की गंभीरता के अनुसार (यथापराधम्) दंड दिया जाता था।

अविलम्ब न्याय न्याय में अधिक विलम्ब नहीं होता था। प्रतिवादी को अपनी सफाई पेश करने के लिए ३ से ७ दिन तक का समय दिया जाता था। विलम्ब करने पर उसे जुर्माना देना पड़ता था। वादी को अपना प्रत्युत्तर उसी दिन देना पड़ता था (प्रत्युक्तः स अभियुक्तवतोत्तरः प्रतिब्रूयात्) जिस दिन प्रतिवादी अपनी सफाई (प्रत्यक्त) पेश करता था अन्यथा उसे जुर्माना देना पड़ता था (III १)।

स्थानीय न्यायालय न्याय की व्यवस्था को विकेंद्रित करके न्याय में विलम्ब होने की संभावना को और भी कम कर दिया गया था। "आम तौर पर विवादों का निपटारा स्थायी अथवा कुछ समय के लिए स्थापित की गई पंचों की एक सभा द्वारा या विभिन्न कोटियों के पदाधिकारियों द्वारा कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त राजा के पास तक अपील करने की पद्धति भी प्रचलित थी जो नियमित रूप से अपने न्यायालय में मौजूद रहता था या कोई मंत्री प्राड्विवाक उसका प्रतिनिधित्व करता था। धर्म अथवा कर्म से सम्बन्धित अपराधों की सुनवाई परिषद नामक समितियों के सामने होती थी" (कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४८५)।

उदाहरण के लिए, गाँवों में यदि सीमाओं के सम्बन्ध में कोई विवाद उठ

खड़ा होता था (सीमाविवाद) तो उस गाँव के बड़े-बूढ़े तथा आस-पास के ५ १० गाँवों के समझदार लोग (पञ्चग्रामी दशग्रामी वा) मिलकर तुरन्त वहीं पर उसका निबटारा कर देते थे (III ९)।

या फिर काश्तकारों तथा चरवाहों में से बड़े-बूढ़े (कर्षक-गोपालक-वृद्धकाः) या विवादाधीन भूमि के भूतपूर्व मालिक (पूर्वभुक्तिकाः) एक या दो ऐसे लोगों की सहायता से जो उस इलाके से बाहर न रहते हों (अबाह्याः) तथा जिन्हें विवादाधीन सीमाओं के बारे में वैयक्तिक जानकारी हो (जैसे आस-पास के शिकारी) उस झगड़े का निबटारा कर देते थे। वे उन्हें उस जगह पर ले जाकर उन्हें ठीक-ठीक सीमाएँ बता देते थे ऐसा करते समय वे दूसरे लोगों से भिन्न अपनी विशिष्ट पोशाक पहने रहते थे (विपरीतवेषाः)। शिकारियों तथा अन्य ऐसे लोगों को जिन्हें विवादाधीन सीमाओं के बारे में वैयक्तिक ज्ञान हो या तो एक समूह में या उनके किसी एक प्रतिनिधि को (बहव एको वा) उस विवाद का निबटारा करने वालों की सहायता के लिए बुलाया जा सकता था।

खेतों के स्वामित्व के सम्बन्ध में जो झगड़े होते थे (क्षेत्र-विवादम्) उनका झगड़ा पड़ोस के गाँवों के बड़े बूढ़े (सामन्त-ग्रामवृद्धाः) करते थे। यदि उनमें कोई मतभेद होता था (द्वैधीभावे) तो निर्णय ऐसे लोगों के बहुमत द्वारा होता था जिनकी ईमानदारी तथा लोकप्रियता को सभी लोग स्वीकार करते हों (यतो बहवः शुचयो अनुमता वा ततो नियच्छेयुः) [III ९]।

इसी प्रकार स्थानीय पंचों की समितियों द्वारा निम्नलिखित स्थानों से सम्बन्धित विवादों का निबटारा किया जाता था (१) तपोवन (२) विवीत अर्थात् चरागाह, (३) महापथ अर्थात् बड़ी-बड़ी सड़कें (४) श्मशान (५) देवकुल, अर्थात् मंदिर, (६) यज्ञस्थान, तथा (७) पुण्यस्थान।

न्याय करते समय घटनास्थल पर उपस्थित लोगों की साक्षी को सबसे अधिक महत्व दिया जाता था (सर्व एव विवादाः सामन्तप्रत्ययाः) (III ९)।

सामीप्य तथा स्थानीय जानकारी के इस सिद्धान्त को बाद के धर्मशास्त्रकारों ने भी स्वीकार किया है जैसे मनु (VIII ६२ २५८ २६२ २५९ २६) याज्ञवल्क्य (II १५०-२) बृहस्पति (II २५-७) और शुक्रनीति में (IV ५, २८) जिसमें कहा गया है कि 'वनवासियों के विवादों का निर्णय वनवासियों की सहायता से व्यापारियों के विवादों का व्यापारियों की सहायता से सैनिकों के विवादों का सैनिकों की सहायता से किया जाना चाहिए)। इस प्रकार विवादों तथा उनके निबटारे के मामले में समाज का हर वर्ग स्वशासित था।

विधि के उदाहरण विवाह कौटिल्य ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है—ब्राह्म, प्राजापत्य आर्ष दैव गान्धर्व आसुर राक्षस, तथा पैशाच। ब्राह्म

विवाह में लड़की का दहेज उसके पिता द्वारा अपनी इच्छा से उसे प्रेमपूर्वक दिया या उपहार होता था। आर्ष विवाह की विशेषता यह होती थी कि उसमें कन्या के पिता को गायों की एक जोड़ी (गो-मिथुन) उपहार स्वरूप दी जाती थी। उस समय विवाह की यह पद्धति बहुत प्रचलित थी जिसका पता मेगास्थनीज के इस कथन से चलता है कि भारतीय विवाह की विशेषता यह होती थी कि उसमें "बैलों की एक जोड़ी" उपहार में दी जाती थी [अंश XXVII]। आसुर विवाह में कन्या के पिता को कुछ धन (शुल्क) दिया जाता था जिसके बदले में वह अपनी कन्या का विवाह वर के साथ कर देता था (शुल्कादानादासुरः) [III २]।

विवाहित स्त्रियों की सम्पत्ति तथा उनके अधिकार : स्त्रीधन में वृत्ति अर्थात् भरण-पोषण के साधन तथा आबन्ध्य अर्थात् आभूषण आदि दोनों ही सम्मिलित थे। भूमि अर्थात् खेती की जमीन और कम से कम २ कार्षापण से अधिक की नकद रकम (हिरण्यादि) को जिसे पूंजी के रूप में लगाने से कुछ आय हो सकती थी वृत्ति माना जाता था। कम से कम २ कार्षापण की सीमा इसलिए निर्धारित कर दी गई थी कि इससे कम धन राशि से कोई आय नहीं हो सकती थी।

यदि पति रोग अकाल अथवा विपत्ति के समय या किसी संकट से अपने के लिए या किसी धार्मिक काम के लिए अपनी पत्नी की सम्पत्ति का उपयोग कर ले तो उसे वैध माना जाता था। पहले चार प्रकार की प्रतिष्ठित विवाह पद्धतियों के अंतर्गत जब किसी दम्पति के दो सन्तानें हो जाएं, तो तीन वर्ष तक उनके द्वारा व्यय किया गया स्त्रीधन वापस नहीं लौटाना पड़ता था।

यदि किसी विधवा के सन्तान न हो तो वह अपने ससुर की अनुमति से अपने पति के भाई से विवाह कर सकती थी।

यदि वह अपने ससुर की इच्छा के विरुद्ध किसी से दूसरा विवाह कर ले तो अपने मृत पति तथा ससुर द्वारा दी गई सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता था। यदि अपने पति के जीवित रहते कोई स्त्री उसे छोड़कर किसी दूसरे से विवाह कर ले (ज्ञातिहस्तात् अभिमृष्टा) तो दूसरे पति को उसके पहले पति तथा ससुर द्वारा दी गई सम्पत्ति वापस लौटानी पड़ती थी।

यदि किसी विधवा के पुत्र मौजूद हो तो दूसरा विवाह करने पर उसे अपनी सम्पत्ति अपने पुत्र को दे देनी पड़ती थी [III २]।

पुनर्विवाह कौटिल्य एक विवाह के पक्ष में था। उसने सन्तान अथवा पुत्र प्राप्त करने के लिए ही दूसरी पत्नी से विवाह करने की अनुमति दी थी।

विदेश भेज दिए गए राज-कर्मचारी (राज-पुरुषम्) को छोड़कर यदि कोई व्यक्ति दीर्घकाल तक अपनी पत्नी से अलग रहे तो वह विवाह भंग हो सकता था।

यदि पति संन्यासी हो जाए या बिना कोई सन्तान छोड़े मर जाए तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी। सन्तान होने पर भी यदि पति दीर्घकाल तक उससे अलग रहे तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी।

परन्तु पुनर्विवाह मृत पति के सम्बन्धियों तक ही सीमित था अवस्था के क्रम से मृत पति के भाइयों को सबसे उचित पात्र समझा जाता था यदि ऐसा सम्भव न हो तो उसी गोत्र के निकटतम सम्बन्धी से विवाह हो सकता था। यदि कोई स्त्री किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह कर लेती थी (वेदने) जो उसके पहले पति का सम्बन्धी न हो तो जो व्यक्ति कन्यादान करता था (दत्तृ) और जो उस स्त्री से विवाह करता था उन दोनों ही को दंड दिया जाता था।

यदि कोई स्त्री किसी अन्य पुरुष के साथ अवैध ढंग से रहती थी (जार कर्मणि) तो दोनों पर (जार-स्त्री) जारी—का अभियोग लगाकर मुकदमा चलाया जाता था (तदर्युक्त)।

बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेने पर लड़की को और १६ वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेने पर लड़के को बालिग़ (प्राप्त-व्यवहारा) मान लिया जाता था [III १]।

उत्तराधिकार माता-पिता के जीवित रहते पुत्रों का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता था।

पिता की सम्पत्ति केवल पुत्रों को उत्तराधिकार में मिलती थी पुत्रियों को नहीं यदि कोई पुत्र न हो तभी पुत्री को सम्पत्ति पाने का अधिकार होता था। ऐसी दशा में पुत्रियों के साथ-साथ उत्तराधिकार में मृत व्यक्ति के भाइयों का भी हिस्सा रहता था [III ५]। मेगास्थनीज ने भी कहा है "पिता का उत्तराधिकार पुत्रों को मिलता है [अंश XXVII]।

अपने जीवनकाल में सम्पत्ति का बटवारा करते समय कोई व्यक्ति किसी एक पुत्र के साथ पक्षपात नहीं कर सकता था (नैकं विशेषयेत्) बल्कि उसे सबके साथ समान व्यवहार करना पड़ता था। जब तक कोई पर्याप्त कारण न हो तब तक वह किसी पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित भी नहीं कर सकता था। इससे यह संकेत मिलता है कि उत्तराधिकार से वंचित करने का अधिकार था।

विभिन्न प्रकार के पुत्र पुत्र अनेक प्रकार के बताये गए हैं (१) औरस स्वाभाविक वैध पुत्र (२) पुत्रिका-पुत्र जिस पिता के कोई पुत्र न हो उसके द्वारा पुत्र-सन्तान को जन्म देने के लिए नियुक्त की गई कन्या का पुत्र (३) दत्त, शास्त्रोक्त विधि-संस्कारों के अनुसार माता-पिता द्वारा किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति को दिया गया पुत्र जो उसे अपने पुत्र के रूप में गोद ले ले (४)

उपगत, जो स्वयं किसी का पुत्र बनने की इच्छा प्रकट करे और वह उसे गोद ले ले (५) दत्तक, जिसे बिना किसी विधि-संस्कार के स्नेहपूर्वक पुत्र मान लिया जाए (६) क्रीत जिसे उसके माता-पिता से खरीदकर गोद ले लिया जाए (७) क्षेत्रज, पुत्र उत्पन्न करने के लिए नियुक्त किये गए (नियुक्तेन) किसी दूसरे व्यक्ति का अपनी पत्नी से पुत्र (८) गूढज, पति द्वारा किसी व्यक्ति के नियुक्त किए गए बिना सम्बन्धियों के घर में गुप्त रूप से अपनी पत्नी के उत्पन्न होने वाला पुत्र (९) अपविद्ध जिस पुत्र को उसके माता-पिता ने त्याग दिया हो (उत्सृष्ट) और किसी दूसरे व्यक्ति ने विधि-संस्कार द्वारा उसे गोद ले लिया हो (१०) कानीन विवाह से पहले किसी कन्या के उत्पन्न होनेवाला पुत्र (११) सहोढ, वह पुत्र जो विवाह के समय कन्या के गर्भ में हो (१२) पौनर्भव पुनर्विवाहित स्त्री का पुत्र [III ७]।

यदि अन्य किसी कोटि के पुत्र को गोद लेने के बाद किसी के स्वयं अपनी पत्नी से स्वाभाविक रूप से पुत्र उत्पन्न हो तो इस औरस पुत्र को अपने पिता की दो तिहाई सम्पत्ति पाने का अधिकार होगा। उसी वर्ण के (सवर्ण) अन्य पुत्रों को एक-तिहाई सम्पत्ति पाने का और अन्य पुत्रों को जो दूसरे वर्ण की स्त्री के हों केवल भरण-पोषण तथा वस्त्रादि अर्थात् खाना-कपड़ा पाने का अधिकार होगा। सवर्ण पुत्र की परिभाषा यह की गई है, कि जो पुत्र पिता के वर्ण से एक वर्ण नीचे की माता से उत्पन्न हो जैसे ब्राह्मण पिता का क्षत्रिय माता से उत्पन्न पुत्र। असवर्ण पुत्र वह होता है जो उससे भी एक वर्ण नीचे की माता से अर्थात् वैश्य माता से उत्पन्न हो।

यदि कोई उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निचले वर्ण की कन्या से विवाह करे, तो वह अनुलोम विवाह कहलाता था। यदि कोई पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करता था तो वह प्रतिलोम विवाह होता था। प्रतिलोम विवाह धर्म के प्रतिकूल (धर्मातिक्रम) होता था और राजा को इस प्रकार का विवाह नहीं होने देना चाहिए। अन्यथा वह नरक में जाएगा (नरकमन्यथा)।

भिन्न वर्णों की सन्तानों (अन्तराल) को उत्तराधिकार में बराबर-बराबर हिस्सा मिलता था [III ७]।

सहकारिता के नियम : ग्रामीण जीवन का नियमन करने के लिए अनेक हितकर नियम बना दिए गए थे।

जो लोग पूरे गाँव के हित के कामों में अपना निर्दिष्ट योगदान नहीं देते थे उन्हें जुर्माना देना पड़ता था। यदि कोई काश्तकार श्रम में अपना योगदान नहीं करता था (असंभूयते) तो उसे जितनी मजदूरी (कर्मवेतन) मिलने वाली होती थी उसका दुगना उसे जुर्माना देना पड़ता था। जो व्यक्ति निर्दिष्ट मात्रा

के अनुसार पूँजी अथवा श्रम के रूप में अपना योगदान नहीं करता था उसे उसकी दुगुनी रकम जुर्माने में देनी पड़ती थी। जिसे खाने-पीने की चीजों के रूप में योगदान करना होता था यदि वह उसे पूरा नहीं करता था तो उसे गाँव के सामुदायिक भोजों के लिए (प्रवहणेषु गोष्ठी-भोजनादिषु) जिनके लिए उन चीजों की आवश्यकता थी और उसने देने का वचन दिया था उससे दुगनी मात्रा में वे चीजें देनी पड़ती थीं।

यदि कोई व्यक्ति पूरे गाँव द्वारा आयोजित सार्वजनिक मनोरंजनों (प्रेक्षा) के खर्च के लिए, जैसे संगीत नृत्य आदि के लिए अपना हिस्सा नहीं देता था तो उसे तथा उसके रिश्तेदारों को वहाँ घुसने नहीं दिया जाता (सस्वजनो न प्रेक्षेत)। यदि वह फिर भी छुप-छिपकर उस कार्यक्रम को देखने का प्रयत्न करता था तो उससे जितने चंदे की मात्रा की जाती थी उसकी दुगुनी रकम उसे जुर्माने में देनी पड़ती थी।

यदि कोई व्यक्ति पूरे गाँव के हित के लिए किए जाने वाले किसी काम में योगदान नहीं करता था (सर्वहिते कर्मणि निग्रहेण) तो उसे प्रति व्यक्ति के लिए निर्धारित योगदान की दुगुनी रकम जुर्माने में देनी पड़ती थी।

यदि कोई व्यक्ति पूरे गाँव के कल्याण के लिए (सर्व-हित) कोई काम करता था तो सबको उसकी बात माननी पड़ती थी। अवज्ञा करने वाले पर १२ पण जुर्माना किया जाता था।

एक नियम यह भी था कि यदि गाँव का मुखिया (ग्रामिक) किसी सार्वजनिक काम से (ग्रामार्थ) कहीं बाहर गया हो तो गाँव के खेती-बारी के कामों से सम्बन्धित उसके दायित्व का भार बारी-बारी से वे लोग उठाएँगे जो गाँव के वतनभोगी कर्मचारियों के रूप में (उपवासा) अपनी जीविका कमाते हैं।

अंत में यह भी कहा गया है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह ग्रामवासियों के ऐसे संगठनों को कुछ रियायतें दे जो आपस के समझौते (समय) द्वारा गाँव में समाजोपयोगी (देशहितान्) काम करने का बीड़ा उठाएँ, जैसे खेती-बारी में वृद्धि (सेतु, जिसकी व्याख्या II १ में की गयी है) सड़कों पर पुलों का निर्माण (वणि संक्रमान्) अथवा गाँव की शोभा बढ़ाने तथा उसकी रक्षा के लिए कोई काम (ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च)।

राज्य द्वारा इन कामों को दी जाने वाली सुविधाओं में एक सुविधा यह भी शामिल थी कि सहकारिता तथा पारस्परिक हित की भावना से वंचित उपर्युक्त प्रकार के लोगों पर जो जुर्माना किया जाए वह राज्य को न मिलकर, स्वयं उस गाँव को मिल जाए [III १]

ऋण तथा ब्याज ब्याज की वैध (धर्म्य) दर १५ प्रतिशत प्रति वर्ष

बताई गई है। जैसा कि टीकाकार ने बताया है यह दर कदाचित् उन ऋणों के लिए थी जो कोई चीज गिरवी रख कर (बन्धकावलपूर्व) प्राप्त किए जाते थे। ब्याज की दरों में जो अत्यधिक अंतर था उसका कारण इस बात से मालूम हो जाता है। व्यापारी (व्यावहारिक) ब्याज की दर ५ प्रतिशत प्रति माह दुर्गम स्थानों से लायी गई चीजों का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों के बीच (कान्तारगाणां दुर्गममार्गपण्यवाहिनां वणिजाम्) १० प्रतिशत और समुद्री (सामुद्र) व्यापार करने वालों के बीच २ प्रतिशत बताई गई है।

निर्धारित दर से अधिक ब्याज लेने वाले को दंड दिया जाता था। जो लोग इस प्रकार की अनुचित दर पर लेन-देन के साक्षी होते थे (श्रोतृणाम्) उन पर भी जुर्माना किया जाता था [III ११]

कृषि-ऋण यदि किसी व्यक्ति को अनाज उधार दिया जाए और यदि वह उसे फसल के समय वापस लौटाए (सस्यनिष्पत्तौ) तो उससे ब्याज के रूप में (धान्य-वृद्धि) उधार दी गई मात्रा के आधे से अधिक अनाज नहीं लिया जा सकता था।

यदि ब्याज फसल के बाद अदा किया जाए, तो ऋण का हिसाब नकद रकम के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता था (मूल्यकृता)।

किसी नये समझौते के अन्तर्गत ऋण पर ब्याज की मात्रा (प्रक्षेपवृद्धि) मूलधन के मूल्य के आधे से अधिक नहीं हो सकती थी (उदयादर्ध)।

यदि ऋण देनेवाला (फसल के समय) चुकाने के लिए न कहे (सन्निधान-सन्ना) जबकि ऋण लेनेवाला उसे आसानी से चुका सकता है तो ऋण देने वाले को केवल एक वर्ष का ब्याज पाने का अधिकार होगा उसके बाद उस ऋण पर कोई ब्याज नहीं चढ़ेगा (वार्षिकी देय)।

जो लोग किसी दीर्घ साधना में संलग्न हों (दीर्घसत्रा) या रोगी हों या शिक्षा के लिए अपने घर से अलग अपने गुरु के यहाँ रहते हों (गुरुकुलोपरुद्ध) या जो नाबालिग हो या जिनके पास कुछ न हो (असार) तो उनके ऋण का ब्याज मूल ऋण की राशि में जोड़कर, उसमें वृद्धि नहीं की जा सकती (ऋणम् न वर्धेत)।

कालातीतता अथवा ऋण की समाप्ती यदि कोई ऋण दस वर्ष के भीतर वसूल न कर लिया जाए तो उसके बाद वह वसूल नहीं किया जा सकता था। परन्तु यदि कोई ऋण देनेवाला ऋण की वसूली के लिए कार्रवाई न कर सकता हो जैसे यदि वह नाबालिग हो या बहुत बूढ़ा या बीमार हो या कहीं परदेस चला गया हो (प्रोषित) या देश छोड़कर चला गया हो (देशत्याग) या राज्य में विप्लव की परिस्थिति हो (राज्य-विभ्रम) तो उसके लिए समय की यह सीमा लागू नहीं की जाती थी [III ११]।

काश्तकारों तथा राजकर्मचारियों (राजपुरुषाः) को काम करते समय (कर्मकालेषु) ऋण अदा न करने के अपराध में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था (उपर्युक्त)।

धरोहर : यदि कोई धरोहर (उपनिधि) ऐसी परिस्थितियों के कारण खो जाए जिनकी जिम्मेदारी धरोहर के रखवाले पर न हो तो वह धरोहर वापस नहीं माँगी जा सकती थी। इन परिस्थितियों की व्याख्या इस प्रकार की गई है— (क) यदि शत्रु अथवा वन्य जातियाँ (आटविक) समस्त नगरों तथा देहातों सहित उस देश पर कब्जा कर लें (ख) यदि शत्रु (प्रतिरोधक) उस गाँव को उसके व्यापारिक माल के भंडारों को (सार्थ अथवा वणिक्-संघ) को तथा उसकी पशुशालाओं (व्रज) को नष्ट कर दें (ग) उसके साथ कोई धोखा करे या वह कंगाल हो जाए, (घ) आग लग जाने या बाढ़ आ जाने के कारण गाँव को क्षति (आबाध) हो और (च) माल से भरा हुआ जहाज डूब जाए या समुद्री डाकू उसे लूट लें [III १२]

दीर्घकाल तक उपभोग के फलस्वरूप सम्पत्ति पर अधिकार दीर्घकाल तक किसी सम्पत्ति का उपभोग करने के फलस्वरूप उस पर स्वामित्व हो जाने के बारे में भी कुछ नियम बना दिये गए थे। यदि कोई व्यक्ति दस वर्ष तक अपनी सम्पत्ति की ओर कोई ध्यान न दे और कोई दूसरा व्यक्ति उसका उपभोग करता रहे तथा वह उसके स्वामित्व में रहे तो उस सम्पत्ति के मूल स्वामी को उस पर कोई अधिकार नहीं रह जाता था जब तक कि इस परिस्थिति का कारण यह न हो कि वह नाबालिग हो या बहुत बूढ़ा हो या कहीं बाहर रहता हो या राज्य में अशान्ति फैल जाने के कारण देश छोड़कर चला गया हो। अचल सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त करने के लिए बीस वर्ष तक उस पर स्वामित्व रहना आवश्यक था [III,१६]।

मानहानि : इस शीर्षक के अन्तर्गत ये अपराध गिनाये गए हैं उपवाद (मानहानि) कुत्सन (तिरस्कारपूर्ण बात या अपमान) और अभिभर्त्सन (गाली या धमकी)। किसी भी प्रकार का अपशब्द कहने पर, चाहे वह सच हो या झूठ अपराधी को दंड दिया जा सकता था।

धमकी : यदि कोई किसी व्यक्ति को क्षति पहुँचाने की धमकी देता था तो उसे वह क्षति पहुँचाने पर जितना दंड मिलता उसका आधा दंड दिया जाता था [III ८]।

मिथ्या लांछन : किसी व्यक्ति के काम (वृत्तोपवाद) या पेशे (पुरुषोपवाद) के बारे में जैसे कहानी कहनेवालों (वाग्जीवन) दस्तकारों (कारु) या कला-कारों तथा गवैयों (कुशीलव) के बारे में कोई अपमानजनक बात कहने पर

दंड दिया जाता था। यदि किसी व्यक्ति के किसी कुख्यात स्थान का निवासी होने के कारण उसका अपमान किया जाए (जनपदोपवाद), तो भी अपमान करने वाले को दंड दिया जा सकता था। अपमान सूचक देशों तथा जातियों के उदाहरणों के रूप में कौटिल्य ने प्राजूणक तथा गान्धार का उल्लेख किया है। प्राजूणक उस देश का नाम है जो हूणक नामक देश के पूर्व में स्थित है जिसे टीकाकार के अनुसार, लोग आम बोलचाल में कम्पालराष्ट्र भी कहते थे। गान्धार तथा उसके भी आगे के देश के उल्लेख में इस बात का एक और प्रमाण मिलता है कि कौटिल्य को अपने जन्मस्थान के बारे में कितनी अधिक जानकारी थी। [III १८]।

विविध अपराध: बौद्ध को भोजन देना: अन्य विविध अपराधों में कौटिल्य ने किसी पूजा अथवा श्राद्ध के अवसर पर (देवपितृ-कार्येषु) शाक्यों (बौद्धों) आजीवकों, शूद्रों तथा प्रव्रजितों को भोजन कराने के अपराध का भी उल्लेख किया है और इस अपराध को दंडनीय ठहराया है [III २]।

फौजदारी का कानून: फौजदारी के कानून की व्यवस्था के लिए कण्टक-शोधन शब्द का प्रयोग किया जाता था [IV १]। इसके अन्तर्गत जो अपराध आते थे उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं: चोरी, हत्या, सेंध लगाना या जबर्दस्ती किसी के घर में घुस जाना, किसी को विष देना, जाली सिक्के बनाना, सम्पत्ति को हानि पहुँचाना, अपनी लापरवाही के कारण किसी को हानि पहुँचाना, कर्मचारियों द्वारा मारकाट तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य, कीमतों को इच्छानुसार चढ़ाने या गिराने के लिए संघ बनाना या माप-तोल के मानदंडों के सम्बन्ध में जालसाजी करना। इन सब मामलों में दंडाधीशों (प्रदेष्टा) अथवा राजस्व तथा पुलिस विभाग के अधिकारियों की सहायता के लिए गुप्तचरों तथा इस प्रकार के अपराध करने वालों के बीच घुसकर उनका भेद लेने वालों का बहुत बड़ा कर्मचारी-मंडल काम करता था जिसका कि उल्लेख पहले किया जा चुका है।

उदाहरण: कुछ विशेष कानूनों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

गिरफ्तारी: जब तक कि अपराध का कोई बहुत पक्का प्रमाण मौजूद न हो तब तक किसी अपराध के घटित होने के समय से तीन दिन बीत जाने पर किसी व्यक्ति को उस अपराध के संदेह में (शंकित) गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था (त्रिरात्रादूर्ध्वं अग्राह्य)। किसी पर केवल संदेह होने के कारण उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। इसके पीछे दलील यह थी कि ३ दिन बीत जाने पर बहुत-से आवश्यक प्रमाण नष्ट हो चुके होंगे और उसके बाद जिस व्यक्ति पर अपराध का संदेह हो उससे सवाल-जवाब करने से कोई लाभ नहीं होगा और इस बीच में अपराध को सिद्ध करने वाले औजार आदि ऐसे लोगों के पास पहुँचाए

जा चुके होंगे जिन पर उस अपराध का सन्देह भी न किया जा सके (परिज्ञाताद्यायस्त्रोपकरणवर्जनात्) [IV ८]।

उकसावा अपराध के लिए उकसाने वाले को जैसे किसी हत्यारे अथवा चोर को खाना-कपड़ा (भक्तवास) तथा माल आदि जैसी चीजें देनेवाले को या उन्हें सूचना अथवा परामर्श देनेवाले को दण्ड दिया जाता था [IV ११]।

बिना लाइसेंस (अनुज्ञा) के कोई चीज बेचने पर भी दण्ड दिया जाता था। यदि किसी अनधिकृत स्थान पर कोई चीज किसी के लिए जमा करता था तो उसका सारा माल जब्त कर लिया जाता था [IV २)।

मिलावट : जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, किसी चीज में किसी भी प्रकार की मिलावट करनेवाले को भी दण्ड दिया जाता था जैसे किसी पुरानी चीज को नई कहकर बेचना [IV २ तथा ९] अशुद्ध नकली, घटिया तथा विदेशी माल को एक मार्का लगाकर बढ़िया तथा स्वदेशी कहकर बेचना और विशेष रूप से खाने पीने की चीजों में मिलावट करना अपराध था [IV २]।

व्यापारियों की सुरक्षा : व्यापारियों के काफिलों (सार्थिकाः) को गाँव में उनके लिए निर्दिष्ट स्थान में ठहरना पड़ता था और गाँव के मुखिया (ग्राम-मुख्य) को अपने माल की कीमत बतानी पड़ती थी। यदि कोई चीज खो जाती थी या नष्ट हो जाती थी तो गाँव के मुखिया (ग्रामस्वामी) को उस क्षति की पूर्ति करनी पड़ती थी। यदि चोरी अथवा क्षति गाँव के बाहर उसकी सीमा के निकट होती थी तो उस क्षति की पूर्ति विवीताध्यक्ष को करनी पड़ती थी। यदि यह दुर्घटना उसके भी अधिकार-क्षेत्र के बाहर होती थी तो चोररज्जुक नामक अधिकारी को उस क्षति की पूर्ति करनी पड़ती थी। यदि क्षति किसी ऐसे स्थान में होती थी जहाँ ऐसा कोई अधिकारी न हो यदि वह किसी अरक्षित स्थान में भी होती थी, तब भी उस क्षति की जिम्मेदारी ऐसे व्यक्ति पर पड़ती थी जिसकी देखभाल में यह "दो सीमाओं के बीच का अरक्षित स्थान" होता था। इसे सीमा-स्वामी कहते थे। यदि यह भी सम्भव न हो तो आस-पास के पाँच या दस गाँवों के लोगों को उस क्षति की पूर्ति करनी पड़ती थी। इस प्रकार यह उपबंध प्राण तथा सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए एक प्रकार का बीमा-कर था [IV १३]।

इस प्रकार व्यापारियों के लम्बे-लम्बे काफिले धीरे-धीरे दिन के समय भी और रात के समय भी पूर्ण सुरक्षा के आश्वासन के साथ विभिन्न प्रदेशों को पार करते हुए पाटलिपुत्र से गान्धार तक चले जाते थे। एक प्रदेश की सीमा समाप्त हो जाने पर, उस प्रदेश के प्रहरी उनकी रक्षा का भार दूसरे प्रदेश के प्रहरियों को सौंप देते थे। यातायात की इस सुरक्षा के कारण देश में व्यापार की सचमुच बहुत वृद्धि हुई होगी।

यातायात सम्बन्धी नियम : यातायात के सम्बन्ध में बहुत ही दिलचस्प नियम था यदि कोई सारथी किसी राहगीर को "हट जाओ ! हट जाओ !" (अपेहि ! अपेहि !) कहकर रथ के आने की चेतावनी देता आया हो तो टक्कर हो जाने पर भी (अपसृत्य) उसे दंड नहीं दिया जाता था [IV ११]। यही बात हाथी के महावत पर भी लागू होती थी।

मार्ग अवरुद्ध करने पर या सिंचाई के पानी का प्रवाह रोकने पर (कर्मोदक-मार्गस्यमतः) भी दंड दिया जाता था [IV १०]।

चोरों से रक्षा उस जमाने में भी जेबें काटी जाती थी (ग्रन्थिभेद) और इस अपराध पर कठोर दंड दिया जाता था [IV १०]।

प्राण तथा सम्पत्ति की रक्षा का भार एक विभाग के जिम्मे था जिसके प्रधान को प्रदेष्टा कहते थे। उसके अधीन काम करने वाले कर्मचारियों में दो प्रकार के अधिकारी होते थे गोप तथा स्थानिक। जिस प्रकार नगर के भीतर (अन्तर्दुर्ग) चोरों से रक्षा करने की जिम्मेदारी नगर के मेयर (नागरिक) की होती थी उसी प्रकार देहातों में (बाह्य) चोरों का पता लगाने की जिम्मेदारी इन गोप तथा स्थानिक नामक अधिकारियो की होती थी [IV ४]।

शान्ति तथा सुव्यवस्था : यूनानी लेखकों की साक्षी उस समय पूरे देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था की जो सामान्य परिस्थितियाँ थीं उनका वर्णन मेगास्थनीज ने किया है। भारतवासियों की ईमानदारी के प्रमाण के रूप में न्यायालयों के सम्मुख आने वाले विवादो की अल्प संख्या का उल्लेख करते हुए उसने यहाँ तक कहा है कि "आज तक किसी भी भारतवासी को झूठ बोलने का दंड नहीं दिया गया है" [अंश ३५]। उसने यह भी कहा है कि 'भारतवासी मुकदमेबाज नहीं होते हैं। किसी के पास कोई धरोहर रखते समय गवाहों की या उस चीज पर मुहर लगाने की आवश्यकता नही समझी जाती। वह दूसरे पर विश्वास करके ही उसके पास धरोहर रखता है। आम तौर पर उनके घरों की रखवाली करने के लिए कोई नही होता।

स्ट्राबो [XV ५३] ने लिखा है मेगास्थनीज सैण्ड्रोकोट्टोस (चंद्रगुप्त) के पड़ाव में रहा था जिसमें ४०   ०० सिपाही थे और उसका कहना है कि उसने यह बात देखी थी कि किसी भी दिन २० ड्राक्मार्इ (=लगभग १ रुपये) से अधिक की चोरियों की शिकायतें नही आती थीं।

ओनेसिक्रिटस के कथनानुसार सिंध में हत्या अथवा मार-पीट के अतिरिक्त और किसी बात का मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। 'हम हत्या या मार पीट से रोक थाम का तो कोई उपाय नहीं कर सकते परन्तु यदि हम सहज ही किसी पर भरोसा कर लेने के कारण धोखा खा जाएँ तो दोष हमारा ही होगा। आरंभ

में हमें बहुत सावधान रहना चाहिए, कि कहीं हम नगर में मुकदमों की भरमार न कर दें" [स्ट्राबो XV ७०२]। मुकदमे करने की सुविधाओं का यह अभाव देश के सच्च नैतिक स्तर का सूचक है। स्ट्राबो ने लिखा है (उपर्युक्त) "उनके कानूनों तथा उनके करारों की सादगी इस बात से सिद्ध होती है कि वे शायद ही कभी न्यायालयों की शरण में जाते हों। आगे चलकर उसने फिर लिखा है "वे बहुत बड़ी अव्यवस्थित भीड़ को पसन्द नहीं करते और इसलिए वे सुव्यवस्था के नियमों का पालन करते हैं।

मेगास्थनीज ने यह भी लिखा है [अंश XXVII] "भारतवासी न तो सूद पर पैसा देते हैं और न ही वे उधार लेना जानते हैं। किसी के साथ कोई अन्याय करना या किसी अन्याय को सहन करना आचार-व्यवहार के प्रतिष्ठित मानदंडों के विरुद्ध है और इसीलिए न तो वे कोई कानूनी लिखा-पढ़ी करते हैं, और न उन्हें किसी की जमानत की आवश्यकता पड़ती है।

दंड-संहिता परन्तु शान्ति तथा सुव्यवस्था की इस व्याप्त भावना के साथ एक कठोर दंड-संहिता का होना कोई असंगत बात नहीं थी और कदाचित् इसी के कारण यह शान्ति तथा सुव्यवस्था कायम थी। कुछ अपराधों में दंड के रूप में अपराधी के अंग काट दिए जाते थे। स्ट्राबो ने लिखा है "यदि कोई व्यक्ति झूठी गवाही देता था और उसका यह अपराध सिद्ध हो जाता था तो उसके हाथ-पैर काट दिए जाते थे। यदि कोई आदमी किसी दूसरे व्यक्ति के किसी अंग को बेकार कर देता था तो उसका न केवल वही अंग काट लिया जाता था बल्कि उसका एक हाथ भी काट लिया जाता था। यदि कोई किसी कारीगर के हाथ या उसकी आँख को नष्ट कर देता था तो उसे मृत्युदंड दिया जाता था।" अर्थशास्त्र के दो अध्यायों में [IV ८ तथा १०] विविध प्रकार की यंत्रणाओं (दंडकाव्य-कर्मानिग्रह) तथा अंग-विच्छेद (एकांगवध) का उल्लेख किया गया है, पर इस प्रकार के शारीरिक दंडों के बदले में जुर्माने आदि का उपबंध करके अंग काट लेने के दंड को निरर्थक कर दिया गया है।

न्याय की निष्पक्षता : इसके लिए समाहर्ता तथा प्रदेष्टा नामक प्रधान अधिकारियों के अधीन न्याय के प्रशासन के कठोर निरीक्षण की व्यवस्था की गई थी [IV ९]।

न्यायाधीशों के अपराध : यदि कोई न्यायाधीश (धर्मस्थ) न्याय करते समय वादी पर धौंस जमाकर (तर्जयति) उसे डांटकर (भर्त्सयति), न्यायालय से निकालकर (अपसारयति) या झिड़ककर, अथवा अपमानित करके या गाली देकर क्रोध का प्रदर्शन करता था (वाक्पारुष्य) तो उसे दंड दिया जाता था।

यदि वह ऐसे प्रश्न नहीं पूछता था जो पूछे जाने चाहिएँ, या ऐसे प्रश्न पूछता था जो नहीं पूछे जाने चाहिएँ, या स्वयं उसके द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर की ओर ध्यान नहीं देता था या किसी गवाह को सिखा-पढ़ाकर उससे साक्षी दिलवाता था या उसे किसी प्रश्न का उत्तर बताता था या किसी भी प्रकार का संकेत देता था (पृच्छ्यं न पृच्छति अपृच्छ्यं पृच्छति पृष्ट्वा वा विसृजति शिक्षयति स्मारयति पूर्वं ददाति वेति) तो भी उसे दंड दिया जाता था।

किसी न्यायाधीश के लिए इससे भी बड़ा अपराध यह था कि वह किसी गवाह से ऐसे प्रश्न पूछे जिनका उस विवाद से कोई सम्बन्ध न हो (अदेशं देश पृच्छति) गवाह की बात को दृष्टिगत रखे बिना विवाद का निर्णय करे (कार्यं अदेशेन अविवाद्यमतिसाक्षिम चिर्नेव निर्णयति); किसी सच्चे गवाह को गलत दिशा में ले जाए (छलेन अतिहरति सत्यवादिनमपि साक्षिणं छलवाक्येन अपराजयति) विवाद के दोनों पक्षों को इतना थका दे कि वे अपना धैर्य खो बैठें और न्याय में इतना विलम्ब करे कि वे विवश होकर न्यायालय से चले जाएँ (कालहरणेन श्रान्तम् अपवाहयति) गवाह ने वक्तव्य जिस क्रम से दिए हों उन पर उसी क्रम के अनुसार विचार न करके समस्या को उलझा दे (मार्गापन्न वाक्यं अपरिसमाप्त-कर्म साक्षिवाक्यं उत्क्रमयति) या गवाह को संकेत देकर तथा अपेक्षित उत्तर बताकर उसकी सहायता करे और इस प्रकार उसके साथ साठ-गांठ करे (मति-साहाय्यं साक्षिभ्यो ददाति) और अंतिम बात यह कि किसी ऐसे विवाद पर, जिस पर पहले निर्णय हो चुका हो फिर से विचार आरंभ करे (तारितानुशिष्टं कार्यं पुनरपि गृह्णाति)। यदि कोई न्यायाधीश बार-बार इस प्रकार के अपराध करता था तो उसे पदच्युत कर दिया जाता था (स्थानात् व्यवरोपणम्) [XVI १]।

गवाही में उलट-फेर करना : जैसा कि हम पहले बता चुके हैं गवाहों के वक्तव्यों को सही-सही दर्ज न करके उनमें उलट-फेर करने या उनके वक्तव्यों को बाद में बदल देने पर न्यायालय के उस लेखक को उसके अपराध की गंभीरता के अनुसार दंड दिया जाता था।

मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों की तुलना में कौटिल्य के नियमों की प्रधानता : ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने जिस समाज के लिए नियम बनाए थे वह मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों के समाज से बहुत पुराना था। किसी भी समाज व्यवस्था का सब से बुनियादी तथा मूलभूत तत्त्व विवाह-सम्बन्धी तथा समाज में स्त्रियों के स्थान से सम्बन्धित नियम होते हैं।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं इस मामले में कौटिल्य के नियम उन सामाजिक प्रथाओं पर आधारित हैं, जो मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में

प्रतिबिम्बित होने वाले बाद के समाज की अपेक्षा वैदिक समाज के अधिक निकट है।

विवाह-विच्छेद : उदाहरण के लिए, जबकि स्मृतियों में तलाक की कल्पना करना भी असंभव है कौटिल्य ने कुछ परिस्थितियों में उसे उचित ठहराया है। इसमें तो संदेह नहीं कि मनु ने पुरुष को यह अधिकार दिया है कि वह अपनी पत्नी को तलाक देकर दूसरा विवाह कर सकता है परन्तु स्त्री को इसका अधिकार नहीं है। मनु के मतानुसार, 'यदि कोई पत्नी मदिरापान करती हो जिसका आचरण अनैतिक हो जो अपने पति के प्रति घृणा प्रकट करती हो जो दुष्ट प्रवृत्ति की हो या अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करती हो उसे उसका पति तलाक दे सकता है और उसके स्थान पर दूसरी पत्नी ला सकता है' [II ८]। मनु ने ऐसी भी कुछ परिस्थितियाँ बतायी हैं, जब पति कुछ समय के लिए अपनी पत्नी को छोड़कर जा सकता है। परन्तु उपर्युक्त स्मृतिकारों ने तलाक देने या छोड़कर चले जाने के ये अधिकार केवल पति के लिए ही सीमित रखे हैं और पत्नी को इन अधिकारों से सर्वथा वंचित रखा है। स्त्री का कर्तव्य यह बताया गया है कि उसे इस जीवन में और जीवन के बाद भी बिना कोई शंका किए या कोई शर्त लगाए, अपने पति की आज्ञा का पालन करना चाहिए तथा उसके प्रति एकनिष्ठ रहना चाहिए [मनु, V १५१ १५४ IX ७७-७८ V १४८ याज्ञवल्क्य I ७६ ७७]। परन्तु कौटिल्य ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देकर अधिक बुद्धिसंगत तथा मानवीय भावनाओं के अनुकूल व्यवस्था की स्थापना की है। कौटिल्य ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में स्त्री के लिए अपने पति को तलाक दे देना उचित ठहराया है। इनमें से एक परिस्थिति यह है कि दोनों अपनी निरन्तर पारस्परिक शत्रुता के आधार पर तलाक के लिए सहमत हों (परस्परं द्वेषात् मोक्ष) [III ३] ताकि वे अपना वैवाहिक जीवन नए सिरे से आरंभ कर सकें। परन्तु यदि दोनों में से कोई एक पक्ष इसके लिए सहमत न हो तब कौटिल्य तलाक को उचित नहीं ठहराता। कौटिल्य के मतानुसार कोई स्त्री चाहे उसके हृदय में अपने पति के प्रति कितना ही द्वेष क्यों न हो उस समय तक तलाक नहीं ले सकती जब तक पति इस पर सहमत न हो जाए। न ही कोई पति चाहे वह अपनी पत्नी को कितना ही नापसंद क्यों न करता हो उसकी इच्छा के विरुद्ध तलाक ले सकता था।

इसके साथ ही कौटिल्य ने पत्नी को इस बात का अधिकार दिया था कि यदि निम्नलिखित किसी कारण से उसका अपने पति के साथ रहना असंभव हो जाए, तो वह उससे अलग हो सकती थी उसका पति "दुश्चरित (नीच) हो उसने धर्मच्यवन पाप किए हों (पतित महापातकदूषित) या वह राज्याप

(प्राशाभिहन्ता) हो या नपुंसक (क्लीब) हो या क्षय रोग से पीड़ित हो (राज किल्विषी) या उस पर घूसखोरी अथवा राजद्रोह का अभियोग लगाया गया हो या वह कहीं विदेश चला गया हो [III २]।

परन्तु कौटिल्य ने रूढ़ियों तथा सनातन पद्धति के आदर्शों को बिल्कुल ही त्याग नहीं दिया था क्योंकि विवाह की मान्य पद्धतियों में से जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, पहले चार प्रकार के विवाहों में वह तलाक को स्वीकार नहीं करता था (अमोक्षो धर्मविवाहानाम्) [II ३]।

पुनर्विवाह : इसके अतिरिक्त स्त्रियों के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में भी कौटिल्य तथा बाद के स्मृतिकारों में मतभेद है। मनु के अनुसार, धर्मग्रंथों में विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी गई है और विद्वानों ने उसे पशुओं के लिए ही उचित ठहराकर उसकी निंदा की है [IX, ६५, ६६]। मनु ने यह बात भी जोर देकर कही है कि कन्या का विवाह केवल एक बार ही हो सकता है [IX, ४७)। वह विधवा को इस बात का भी अधिकार नहीं देते कि वह विवाह के प्रसंग में किसी दूसरे पुरुष का नाम भी ले [V १५७]।

इतना ही नहीं पत्नी दीर्घकाल तक अपने पति की अनुपस्थिति के आधार पर, उसकी अनुपस्थिति का काल कितना ही लम्बा क्यों न हो दूसरे पति से विवाह नहीं कर सकती [IX, ७६, ७८ याज्ञवल्क्य I ८९]। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि अपनी पहली पत्नी के मर जाने के बाद किसी पुरुष के लिए दूसरा विवाह न करना एक अपराध है [I ८९) पर इन्हीं परिस्थितियों में स्त्री को दूसरा विवाह करने की इजाजत नहीं दी गई है। इसका अर्थ यह भी था कि दूसरा विवाह करने के धार्मिक काम में उसका साथ देने के लिए विधवा को अपने किसी सम्बन्धी का सहारा भी नहीं मिल सकता था और यदि वह अपने आप दूसरा विवाह कर लेती थी तो उसे स्वैरिणी ठहराया जाता था [I ६३ ६४ ६७]। स्त्री का धर्म यहाँ तक बताया गया था कि पति की मृत्यु हो जाने पर उसे सती होकर अपने प्राणों का अन्त कर देना चाहिए [I ८६]।

मनु ने ऐसी स्त्री का उदाहरण दिया है जिसे उसका पति छोड़कर चला गया हो या जो विधवा हो गई हो और उसने दूसरे पति से विवाह कर लिया हो ऐसी दशा में इस विवाह से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह पौनर्भव अर्थात् 'वासना की संतान' कहलाएगा [IX १७५]। परन्तु यह स्पष्ट है कि कुमारी विधवा को पुनर्विवाह की अनुमति थी (उपरोक्त १७६)।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कौटिल्य का मत यह था कि यदि पति कहीं चला जाए, तो उसकी पत्नी दूसरा विवाह कर सकती थी। पति की अनुपस्थिति का काल अलग-अलग परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग निर्धारित किया गया

था जैसे यह कि उसका गर्भ गया है, उस स्त्री के कोई संतान है कि नहीं या उसके भरण-पोषण की कोई व्यवस्था है कि नहीं (अप्रजाता अथवा प्रजाता प्रतिविहिता या अप्रतिविहिता)। यदि पति ब्राह्मण विद्यार्थी हो और विद्योपार्जन के लिए विदेश गया हो तो पत्नी को १ वर्ष तक प्रतीक्षा करना पड़ती थी और यदि उसके संतान हो तो १२ वर्ष तक। यदि पति राज-कर्मचारी हो और उसे राज्य के किसी काम से विदेश भेजा गया हो तो स्त्री दूसरा विवाह नहीं कर सकती थी। यदि प्रतीक्षा की उपर्युक्त अवधि बीत चुकी हो तो स्त्री उसी वर्ण के किसी व्यक्ति से दूसरा विवाह कर सकती थी ताकि उसका वंशक्रम चलता रहे। यदि पति की अनुपस्थिति के कारण किसी स्त्री के पास भरण-पोषण के साधन न रह जाए और उसके सगे-सम्बन्धी उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध न करते हों और इसलिए वह अपनी जीविका चलाने के लिए या अपने आप को विपत्तियों से बचाने के लिए दूसरा विवाह करने पर विवश हो तो वह अपनी पसंद के किसी व्यक्ति से दूसरा विवाह कर सकती थी (यथेष्टं विन्देत्) [III ४]। विवाह की उपर्युक्त चार मान्य पद्धतियों (धर्मविवाह) के अन्तर्गत उस कुमारी पत्नी को जिसका पति विदेश चला गया हो निर्दिष्ट काल तक प्रतीक्षा करने के बाद जिसकी अवधि तीन माह से एक वर्ष तक रखी गई थी दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति थी। परन्तु इससे पहले न्यायालय की अनुमति से विवाह को औपचारिक रूप से भंग करा लेना आवश्यक था (धर्मस्थविसृष्ट)।

उन स्त्रियों को भी दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति थी जिनके पति दीर्घकाल से विदेश में हों (दीर्घप्रवासिन) या संन्यासी हो गए हों (प्रव्रजित) या मर चुके हों (प्रेत) [III ४], या पत्नी के कोई सन्तान न हो (कुटुम्बकामा) ऐसी दशा में उसे अपने पहले ससुर तथा पति द्वारा दिये गए स्त्रीधन पर पूरा अधिकार रहता था [III २]।

स्वीतर विवाह इस प्रकार के विवाहों को कौटिल्य तथा स्मृतिकारों दोनों ही ने उचित ठहराया है पर इसके बारे में दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। यदि कोई प्रौढ़ कन्या अपनी इच्छा से अपना वर चुन ले तो उसे अपने पिता से कुछ पाने का अधिकार नहीं रह जाता [मनु IX ९० ९१ III २७-१ ३५ IX ९१ III ३१ ४० याज्ञवल्क्य I ३४ II २८७ आदि]। कौटिल्य का मत यह है कि उस विवाह का अनुमोदन किया जाना चाहिए, जिससे सभी सम्बन्धित पक्षों को सन्तोष प्राप्त होता हो (सर्वेषां प्रीत्यारोपणम् अप्रतिषिद्धम्) [III २]।

अनुलोम विवाह : कौटिल्य तथा स्मृतिकारों दोनों ही ने अनुलोम विवाह की अनुमति दी है [याज्ञवल्क्य I ५७ मनु III, १४ १९]। परन्तु कौटिल्य से स्मृतियाँ इस बात में भिन्न हैं कि उनमें तीन उच्च वर्णों के पुरुषों के शूद्र कन्या के

साथ विवाह की अनुमति नहीं दी गई है। इस प्रसंग में तीन उच्चतर वर्णों तथा शूद्रों के बीच कोई अन्तर न मानकर, कौटिल्य ने अधिक उदार विचारों का परिचय दिया है। कौटिल्य ने केवल उत्तराधिकार के बंटवारे के मामले में इनमें अन्तर किया है जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं। ब्राह्मण पत्नी के पुत्र को पिता की सम्पत्ति में चार हिस्से पाने का अधिकार होता था क्षत्रिय पत्नी के पुत्र को तीन हिस्से वैश्य पत्नी के पुत्र को दो हिस्से और शूद्र पत्नी के पुत्र को एक हिस्सा पाने का अधिकार होता था (III ६)। इसके अतिरिक्त यदि तीन उच्चतर वर्णों के किसी व्यक्ति ने शूद्र स्त्री के साथ वैध रूप से विवाह न किया हो, तो उस पत्नी से उत्पन्न होने वाले पुत्र को पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता था पर कौटिल्य ने इस प्रकार के पुत्र को अपने पिता की तिहाई सम्पत्ति का अधिकारी ठहराया है। [मनु IX, १५५ अर्थशास्त्र III ६]।

मौर्य समाज की कुछ अन्य विशेषतायें कौटिल्य ने जिस रूप में मौर्य समाज का चित्रण किया है वह स्मृति-कालीन समाज से अन्य कई बातों में भी भिन्न है। हम देख चुके हैं कि आर्य लोग एक निर्धारित सीमा के भीतर मदिरापान करते थे। इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ने मदिरा बेचकर अपनी जीविका कमाने वाले (सुराजीव) के घर पर भी भोजन करने में दोष ठहराया है [I, १६४]। फिर, मौर्य समाज में हम देखते हैं कि ब्राह्मण बिना किसी रोक-टोक के सेना में भरती होते थे। मौर्य सेना में जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ब्राह्मणों के रिसाले होते थे [IX, २]।

हम अन्त में यह भी बता दें, कि ऋग्वेद में रथान्तर विवाहों का उल्लेख मिलता है उसमें सती प्रथा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता और विधवा विवाह की भी बात कही गई है। ऋग्वेद में अन्त्येष्टि सम्बन्धी जो मंत्र है, उसमें यह कहा गया है कि विधवा केवल एक क्षण के लिए चिता पर अपने पति के साथ बैठती थी। उसे 'फिर जीवन के लोक में लौट आने' का आदेश दिया गया है (ऋग्वेद, X ८५, २१।२२ १८ ८)। महाकाव्यों में भी हम देखते हैं कि स्वयंवर की प्रथा के साथ-साथ रथोत्तर विवाह की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो विधि-सम्बन्धी तथ्य-सामग्री तथा अन्य सामग्री मिलती है वह उसकी प्राचीनता का बहुमूल्य प्रमाण है (इस विषय की बहुत अच्छी व्याख्या के लिए न्यू इंडियन ऐंटिक्वेरी के फरवरी १९३ के अंक में एच॰ जी॰ नरहरि का लेख सोसायटी इन मौर्यन इंडिया देखिए)।

अध्याय १०

सेना

चन्द्रगुप्त की सेना : हम मौर्यकालीन असैनिक (सिविल) प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर चुके हैं। अब हम मौर्यकालीन सैनिक प्रशासन का विवरण देंगे। चन्द्रगुप्त ने शक्तिशाली सैन्यबल का निर्माण किया होगा जिस की सहायता से न केवल पंजाब में यूनानी शासन और नन्दवंशी राजाओं के शक्तिशाली साम्राज्य का तख्ता उसने उलट दिया बल्कि प्लूटार्क के शब्दों में "पूरे भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया"। यूनानी वृत्तांतों के अनुसार नन्द-सम्राट् की सेना में अनुमानतः २,००,००० पैदल २०,००० घुड़सवार, ३,००० हाथी तथा ८,००० चार घोड़ों वाले रथ थे। इसीलिए पुराणों में नन्द को महापद्मपति, अर्थात् 'असंख्य सैनिकों की सेना का स्वामी' कहा गया है। इतनी बलवती सेना को परास्त करने के लिए चन्द्रगुप्त ने इससे बड़ी और इससे अधिक शक्तिशाली सेना जुटाई होगी। प्लिनी ने अनुमान लगाया है कि उसकी सेना में ६,००,००० पैदल सिपाही ३०,००० घुड़सवार और ९,००० हाथी थे [नेचुरल हिस्ट्री V २२]। प्लिनी ने इस बात का उल्लेख नहीं किया है, कि उसकी सेना में युद्ध के रथ कितने थे पर यह मान लेना ठीक ही होगा कि उसे कम से कम नन्द की सेना जितने ही अर्थात् ८,००० रथ रहे होंगे। यदि जैसा कि एरियन ने कहा है हर रथ में सारथी के अतिरिक्त दो सिपाही और होते हों और हर हाथी पर महावत के अतिरिक्त दो धनुर्धारी होते हों तो चन्द्रगुप्त की सेना

में ६,०० ००० पैदल सिपाही ३० ००० घुड़सवार, ३६,००० आदमी हाथियों पर और २४ ००० आदमी रथों पर रहे होंगे कुल मिलाकर ६ ९० ०००। इनमें सेना के साथ चलनेवाले अन्य नौकर-चाकर शामिल नहीं हैं।

स्थायी सेना : यह विशाल सेना नागरिकों की अस्थायी सेना नहीं थी बल्कि एक नियमित स्थायी सेना थी जिसके हर सैनिक को राज्य की ओर से वेतन मिलता था राज्य की ओर से ही उन्हें युद्ध के सब आवश्यक साधन जैसे घोड़े हाथी हथियार तथा रसद आदि मिलते थे और हर समय राज्य को उनकी सेवा उपलब्ध रहती थी और वे सदैव आज्ञापालन के लिए तत्पर रहते थे। कौटिल्य के मतानुसार यह आवश्यक था कि सैनिक सदैव युद्ध के लिए तत्पर रहें बजाय इसके कि उन्हें कोई ऐसे अलग-अलग काम सौंपकर विभिन्न क्षेत्रों में बिखेर दिया जाए, वहाँ से उन्हें फौरन रणक्षेत्र के लिए कूच करनेके लिए छुट्टी न मिल सके (विक्षिप्तसैन्य नेतरम् कार्य-व्यासक्त प्रतिसहर्तमयम्) [VII ९]। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए, कौटिल्य प्रांतीय दुर्गरक्षक सेनाओं के लिए नए भरती किये गए वेतनभोगी सैनिकों की अपेक्षा आजमाए हुए पुराने सैनिकों को अधिक पसंद करता था क्योंकि पुराने सैनिकों में स्वभावत अपने स्वामी के प्रति सेवा तथा स्वामिभक्ति का भाव होता है (नित्यसत्कारानुगमाच्च मौलबलं भृतबलात् श्रेयः) [२]।

मेगास्थनीज का विवरण : युद्ध-कार्यालय : मेगास्थनीज के अनुसार सेना पर युद्ध-कार्यालय नियंत्रण रखता था जिसके तीस सदस्य होते थे। इनमें पाँच पाँच सदस्यों के ६ मंडल होते थे। ये ६ मंडल सेना के निम्नलिखित ६ विभागों का कार्य-भार सम्भालते थे (१) पैदल सेना (२) घुड़सवार सेना (३) युद्ध रथ (४) युद्ध के हाथी (५) परिवहन रसद तथा सैनिक सेवा जिसमें ढोल बजाने वालों घोड़ों आदि की देखभाल करनेवालों मिस्त्रियों तथा घसियारों आदि का प्रबन्ध करना भी शामिल था (६) नौ-सेना के सेनापति से सहयोग स्थापित करनेवाला" मंडल।

पाँचवें मंडल के काम ये बताये गए हैं 'इस मंडल के सदस्य बैलगाड़ियों का प्रबन्ध करते हैं, जिन पर युद्ध की सामग्री सैनिकों के लिए रसद पशुओं के लिए चारा और सेना की आवश्यकता का अन्य सामान ले जाया जाता है। ये ही उन नौकरों का प्रबन्ध करते हैं, जो ढोल बजाते हैं और उनका भी जो घंटे लेकर चलते हैं। ये ही घोड़ों की देखभाल करनेवाले सेवकों तथा अन्य सहकारियों के लिए मिस्त्रियों का भी प्रबन्ध करते हैं। घंटे की आवाज पर ये घास लाने के लिए घसियारों को भेजते हैं और पुरस्कार तथा दंड देकर इस बात की व्यवस्था रखते हैं, कि काम शीघ्र तथा सुचारु रूप से सम्पन्न हो" [मेगास्थनीज अंश XXXIX]।

सेना के अंग : महाभारत : हिंदू सेना के बारे में परम्परा यह रही है कि उसके चार अंग होते थे। अर्थशास्त्र में हर जगह उसे चतुरंगबल कहा गया है (जैसे II, ३३ IX I २ आदि)। मेगास्थनीज ने सेना के दो और अंगों का उल्लेख किया है इन्हें भी प्राचीनकाल से सेना का अंग माना जाता रहा है। उदाहरण के लिए, महाभारत के अनुसार पूरी सेना के इतने अंग होने चाहिए : (१) रथ (२) हाथी (३) घोड़े (४) पैदल सिपाही (५) परिवहन रसद तथा अन्य सामानों के लिए आम श्रमिक (विष्टि) (६) नौ-सेना (७) गुप्तचर और (८) दैशिक, या कदाचित् स्काउट तथा आस-पास की परिस्थितियों का पता लगाने वाली टोलियों के नेता होते थे। यह स्पष्ट है कि इसमें (५) (६) (७) और (८) ये के सब मेगास्थनीज द्वारा बताये गए सेना के पूरक अंगों के अनुकूल थे।

कौटिल्य : चिकित्सा तथा घायलों को रणक्षेत्र से लाने की व्यवस्था : यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य ने भी सेना के इन गौण अंगों का उल्लेख किया है। 'स्काउटों का काम जैसे शिविरों सड़कों नदियों तथा कुओं की खुदाई नदियों के घाटों का निरीक्षण और उन्हें उपयोग के लिए तैयार करना घायल सैनिकों को उनके अस्त्रशस्त्रों तथा कवच आदि सहित रणक्षेत्र से हटाकर ले जाना— ये सब काम श्रमिकों के एक विशेष समूह के है (शिबिर-मार्ग-सेतु-कूपतीर्थशोधन-कर्म यन्त्रायुधावरणोपकरण ग्रासवहनं आयोधनाच्च प्रहरणावरण प्रतिविद्धा-पनयनं इति विष्टि कर्माणि) [X ४]। आवश्यकता की अन्य सेवाएँ, जिनका कौटिल्य ने उल्लेख किया है पर जिन्हें मेगास्थनीज ने छोड़ दिया है, चिकित्सा और घायलों को रणक्षेत्र से हटाने की व्यवस्थाएँ हैं जिनका वर्णन कौटिल्य ने इन शब्दों में किया है 'अपने साथ शल्य चिकित्सा के औजार (शस्त्र) यंत्र दवाएँ (अगद) घावों को अच्छा करने वाले तेल (स्नेह) और पट्टियाँ (वस्त्राणि) लिये हुए शल्य-चिकित्सक और पथ्य तथा पौष्टिक पेय लिये हुए परिचारिकाएँ सदैव सेना के साथ रहने चाहिएँ और उन्हें सैनिकों को लड़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए (XI ३)।

इस युग में आज कल की रेडक्रास सोसायटी के ढंग की व्यवस्था करना सचमुच बहुत ही श्रेयस्कर बात है क्योंकि यह व्यवस्था सेना की रण-क्षमता के लिए उसके चारों अंगों की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं रखती। मेगास्थनीज ने नौकरों चाकरों मिस्त्रियों तथा बनियारों का जो उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि कौटिल्य के कथन से भी होती है कौटिल्य ने लिखा है कि "सेनानायक को अपने नौकरों-चाकरों सहित जिनमें मिस्त्री (वर्धकि स्थपति) और साधारण मजदूर (विष्टि) हों आगे-आगे चलने चाहिए और सेना के लिए पहले से मार्ग तैयार करके रखना

चाहिए तथा पानी के लिए कुएँ खोदने चाहिएँ [X,१] 'इस बात का पता पहले से लगाकर रखना चाहिए, कि घास ईंधन और पानी कहाँ मिल सकता है' (२)। "किसी आकस्मिक आवश्यकता में जितनी खाद्य-सामग्री की जरूरत पड़ सकती हो उससे दुगुनी मात्रा में खाद्य-सामग्री तथा अन्य सामान लेकर चलना चाहिए" [X २]। अंत में कौटिल्य ने तूर्य पताकाओं तथा ध्वजाओं का भी उल्लेख किया है [X,६]।

ऊँटों का रिसाला : यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कौटिल्य ने घोड़ों तथा ऊँटों की एक सहायक सेना का भी उल्लेख किया है जिसके साथ कुछ गधे भी हों जो सूखे मौसम में ऐसी जगहों में काम कर सकें जहाँ दलदल न हो (खरोष्ट्राश्वबहुप्राय)।

सेनापति : कौटिलीय पद्धति के अनुसार युद्ध-सम्बन्धी पूरे प्रशासन तथा उसके सभी विभागों पर प्रधान सेनापति का पूरा नियंत्रण रहता था। सेनापति में सभी सैनिक योग्यताओं का होना आवश्यक था। उसे युद्ध की सभी विधियों (सर्वयुद्ध) में तथा युद्ध में काम आने वाले सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करने की कला में (प्रहरण) निपुण होना चाहिए उसकी सामान्य शिक्षा का स्तर ऊँचा होना चाहिए (विद्याविनीत) और उसमें सेना के चारों अंगों पर नियंत्रण रखने की क्षमता होनी चाहिए। इनमें से प्रत्येक अंग का अपना अलग प्रधान होता था पर इन सब पर सेनापति का नियंत्रण रहता था। सेनापति का यह काम था कि वह शान्तिकाल में (स्थाने यमननिवृत्तौ) जिस समय सेना कूच कर रही हो (याने) और आक्रमण के दौरान में (प्रहरणे) सेना म अनुशासन कायम रखे। वह सेना को अलग-अलग व्यूहों अर्थात् रेजिमेंटों में विभाजित करता था और हर व्यूह की पहचानके लिए अलग तूर्य ध्वजा तथा पताका निश्चित करता था [II ३१]।

अन्य पदाधिकारी पहले विभिन्न पदाधिकारियों के वेतन की जो सूची दी जा चुकी है उससे पता चलता है कि युद्ध-प्रशासन में निम्नलिखित मुख्य पदाधिकारी होते थे

१ सेनापति जिसका वेतन ४८ ०० पण होता था। (राजसेवा में यह सर्वोच्च वेतन था)।

२ प्रशास्ता जिसका वेतन २४ पण होता था।

३ नायक जिसका वेतन १२, ०० पण होता था।

४ मुख्य जिसे ८,० पण मिलते थे।

अब हम सेना के प्रत्येक अंग के सम्बन्ध में प्रशासन की ब्योरे की बातों पर विचार करेंगे।

पैदल सेना ६ प्रकार के सैनिक हम पहले ही देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त की सेना के लिए विभिन्न स्रोतों से सैनिक भरती किये गए थे और उसमें अनेक वर्गों के लोग थे। कौटिल्य ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है

(१) मौल : प्रान्तीय प्रशासन के केन्द्र अर्थात् मूल की निगरानी करने वाले सैनिक। यह प्रान्तीय दुर्ग-रक्षक सेना होती थी (मूल-रक्षणम्) का उल्लेख [X, २ में]।

(२) भृत वेतनभोगी सैनिक।

(३) श्रेणी काम्बोज सुराष्ट्र आदि देशों की सैनिक जातियों की नैगम सेना। (X १) इसका अर्थ यह भी लगाया गया है कि श्रेणी उन सैनिकों को कहते थे जो प्रांतों में शस्त्र-कला को अपना जीविकोपार्जन का साधन बनाते थे (जनपदस्वर्गसुश्रीयमण) [I ११ IX २ तथा IX, १ ।

(४) मित्र-बल, किसी मित्र देश द्वारा दी गई सेना के सैनिक।

(५) अमित्र-बल, शत्रु देश से भरती किये गए सैनिक।

(६) अटवी-बल, वन-संरक्षक (अटवीपाल) की निगरानी में रहनेवाली वन-जातियों में से भरती किये गए सैनिक (उपर्युक्त)।

श्रेणी-बल : सैनिकों की इन कोटियों में जो सैनिक जातियों से आते थे वे शस्त्रों से ही अपनी जीविका कमाते थे और इसीलिए कौटिल्य ने उन्हें शस्त्रोपजीविन [XI १] कहा है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कौटिल्य ने काम्बोज तथा सुराष्ट्र नामक जातियों का उल्लेख ऐसी ही सैनिक जातियों के उदाहरण के रूप में किया है। कौटिल्य ने एक प्रकार के आयुधीय ग्रामों का भी उल्लेख किया है, जो पेशेवर सैनिकों की बस्तियां होते थे जिनकी जन-गणना ग्राम्य-अधिकारी करते थे (II ३५)। यह बात उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने भी आयुध जीविन नामक सैनिक जन-समुदायों का उल्लेख किया है।

आटविक कौटिल्य वीर सैनिकों के एक स्रोत के रूप में वन्य जातियों के महत्व को भली-भांति समझता था। उसने लिखा है (VIII १०) जिस देश में जिन्हों चोरों की जातियों (चोर-गण) म्लेच्छ लोगों (जैसे पर्वतवासी किरात) और वन्य जातियों की बहुतायत है वह हमेशा एक खतरे का स्रोत रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी परामर्श दिया गया है, कि जब किसी राजा की सब आशाएँ नष्ट हो गई हों (उत्साहहीन) तो उसे शक्ति के अंतिम स्रोत के रूप में सैनिक जातियों (श्रेणी) लुटेरों के गिरोहों (चोरगण) वनवासियों (आटविक) और म्लेच्छ जातियों (जैसे किरात) में से भरती किये गए निर्भीक सैनिकों (प्रवीर पुरुषाणां) की सेना का सहारा लेना चाहिए [VII १४] इनमें भी कौटिल्य ने चोरों या प्रतिरोधकों की अपेक्षा आटविकों को अधिक महत्व दिया है [VII ४]। चोर तथा प्रतिरोधक तो रात को ही अपना काम करते हैं अंधेरी में छिपे रहते

हैं (रात्रि-सत्र-चारा) और बलवान व्यक्तियों को मौका पाकर लूट लेते हैं (प्रकाश कोपकाश्च)। इसके विपरीत आटविक एक जगह बसे हुए लोग (स्वदेशस्थाः) होते हैं उन्हें अपने देश पर गर्व होता है वे खुले आम तथा दिन में अपना काम करते हैं (प्रकाशा भूम्याश्चरन्ति) खुले मैदान में युद्ध करते हैं (प्रकाशयोधिनः) और स्वतंत्र राजाओं की भांति (राजसधर्माण) खुले आम सम्पत्ति लूटते हैं तथा लोगों का मारते हैं (अपहर्तारो हन्तारश्च) वे बहुसंख्यक तथा अपराजेय (विक्रान्ता) होते हैं। कौटिल्य ने राज्य के लिए बाहर से पैदा होने वाले खतरा (बाह्यकोप) के स्रोतों में राष्ट्रमुख्यों (प्रान्तों के गवर्नरों) तथा अन्तपालों के साथ ही आटविकों का भी उल्लेख किया है [IX ३]। इन सैनिकों को सम्पत्ति (कुप्य) के रूप में तथा शत्रु के देश से प्राप्त होने वाले लूट के माल में से सबसे अधिक वेतन दिया जाता था [IX २]।

कौटिल्य का कहना है कि एक प्रकार से वेतनभोगी सैनिक दूसरे सैनिक जातियों में से भरती किए जाने वाले सैनिकों से अच्छे होते हैं। वे हमेशा रणक्षेत्र में उतरने के लिए तत्पर रहते हैं और उन्हें वश में रखना ज्यादा आसान होता है (वश्य)।

पूर्व कौटिल्य ने इस परम्परा को कायम रखा कि सैनिकों की भरती ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र सभी वर्णों के लोगों में से की जा सकती थी। परन्तु कौटिल्य ब्राह्मण सैनिकों को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता था क्योंकि वे शरण में आये हुए शत्रु को क्षमा कर देते थे। क्षत्रिय सैनिक सैन्य-कला में अधिक निपुण होते थे। अन्य वर्णों के सैनिक अपनी बहुसंख्या की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे [IX २]।

अधिकारी : पत्तिक-सेनापति-नायक : रणक्षेत्र में सैन्य-संचालन के लिए अधिकारियों की नियुक्ति एक परम्परागत योजना के अनुसार की जाती थी। १ हाथी तथा १० रथ और उनके साथ ५० घुड़सवार तथा २०० पैदल सिपाहियों की हर सैनिक टुकड़ी का एक सेनानायक होता था जिसे पत्तिक कहते थे। प्रत्येक १० पत्तिकों के ऊपर, अर्थात् १०० हाथियों और उनके साथ ५०० घुड़सवारों तथा २,००० पैदल सिपाहियों के ऊपर, अथवा १०० रथों और ५०० घुड़सवारों तथा २,००० पैदल सिपाहियों के ऊपर जो सेनानायक होता था उसे सेनापति कहते थे। इस प्रकार के १० सेनापतियों के ऊपर नायक नाम का अधिकारी होता था [X ६]। यह स्पष्ट है कि अधिकारियों तथा सैन्य-संचालकों की नियुक्ति दशमलव प्रणाली के अनुसार की जाती थी। पूरी पैदल सेना पत्त्यध्यक्ष नामक एक अधिकारी के नियंत्रण में रहती थी [II ३३]। उसका काम यह था कि वह विभिन्न श्रेणियों के सैनिकों को उनकी क्षमता के अनुसार अलग-अलग स्थानों में तैनात करे। उसे पैदल सेना (पत्ति) को विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में

लड़ने की प्रशिक्षा देनी पड़ती थी जैसे (१) नीची तथा दलदली भूमि पर, (२) ऊँची तथा शुष्क भूमि पर, (३) दिन के समय (प्रकाश) (४) दाँव-पेंच के साथ (कूटयुद्ध) (५) खंदकों में (खनक युद्धं भूमि खात्वा तत्र स्थित्वा क्रियमाणम् युद्धम्) (६) किलों की ऊँची दीवारों पर से (आकाशयुद्धं प्राकारादिकं आरुह्य क्रियमाणं युद्धम्) (७) दिन के समय तथा (८) रात्रि में [उपरोक्त]।

अर्थशास्त्र : [V ३] में विभिन्न अधिकारियों का जो पद-क्रम तथा उनके वेतन बताये गए हैं, उन पर हम यहाँ कुछ विस्तार से विचार करेंगे। सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी सेनापति होता था वह राज्य के उच्चतम पदाधिकारियों में से एक होता था और उसका पद रानी युवराज तथा प्रधान मंत्री के पद के बराबर होता था और उसे उन्हीं के बराबर ४८ पण वेतन मिलता था। उसके नीचे नायक होते थे जिन्हें १२ पण वेतन मिलता था। फिर मुख्य होते थे जिन्हें ८००० पण मिलते थे और उनके बाद अध्यक्ष होते थे जिन्हें ४ ० पण मिलते थे। मुख्य तथा अध्यक्ष जिन पर सेना के विभिन्न अंगों—पैदल घुड़सवार हाथी तथा रथ—का कार्य भार होता था वे कदाचित् प्रशासनाधिकारी होते थे सैन्य-संचालन करने वाले अधिकारी नहीं जैसा कि ऊपर कहा गया है।

हथियार यूनानी वृत्तांत: पैदल सैनिकों के हथियारों का विस्तृत विवरण हमें अनेक स्रोतों से मिलता है। एरियन के वर्णन के अनुसार पैदल सैनिकों के पास एक धनुष होता है जो उनके कद के बराबर ही लम्बा होता है। वे इसे जमीन पर टिकाकर अपने बायें पैर से दबा लेते हैं और प्रत्यंचा को बहुत पीछे खींचकर बाण चलाते हैं जो बाण वे इस्तेमाल करते हैं वे तीन गज से कुछ ही कम लम्बे होते हैं और भारतीय धनुर्धारी के चलाये हुए तीर को कोई भी चीज नहीं रोक सकती—न ढाल न कवच और यदि इससे भी मजबूत कोई सुरक्षा का साधन होता हो तो वह भी नहीं। अपने बायें हाथ में वे बैल के कच्चे चमड़े की ढाल रखते हैं जो इन सैनिकों की चौड़ाई से कुछ ही कम चौड़ी होती है पर लम्बी लगभग उनकी जितनी ही होती है। कुछ सैनिकों के पास धनुष के बजाय भाले होते हैं, पर तलवार सब सैनिकों के पास होती है जिसका फलक चौड़ा होता है पर वह तीन बालिश्त से अधिक लम्बी नहीं होती और जब वे आमने-सामने लड़ते हैं (जिससे वे यथासंभव बचने की कोशिश करते हैं) तो वे भरपूर वार करने के लिए इस तलवार को दोनों हाथों से चलाते हैं।

कौटिल्य का वृत्तांत : कौटिल्य ने उस जमाने में इस्तेमाल होने वाले हथियारों तथा सैनिक यंत्रों का पूरा विवरण दिया है। कौटिल्य ने इनको इनके उपयोग के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बाँट दिया है, चाहे वह उपयोग रणक्षेत्र में हो

या दुर्गों के निर्माण अथवा रक्षा के लिए हो या शत्रु के नगरों तथा उनके शक्तिशाली केंद्रों को नष्ट करने के लिए हो। इनमें से कुछ यंत्र ऐसे होते थे जो एक ही जगह रखे रहते थे (स्थितयन्त्राणि); कुछ यंत्र ऐसे होते हैं जिन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता था (चलयन्त्राणि) जैसे यंत्र, त्रिशूल मुद्गर, गदा आदि। कुछ हथियार ऐसे होते थे जो नुकीले (हलमुखानि) होते थे जैसे शक्ति, प्रास, कुन्त आदि। धनुषों को इस आधार पर अलग अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया था कि वे किस चीज के बने हैं बाँस के या लकड़ी के या सींग के और उनकी प्रत्यंचा किस चीज की है और उनके बाणों की नोक लोहे की हड्डी की या लकड़ी की है—लोहे की नोक काटने के लिए, हड्डी की नोक पकड़ने के लिए तथा लकड़ी की नोक बेधने के लिए होती थी। तीन प्रकार की तलवारों का भी उल्लेख किया गया है—कुछ की नोक टेढ़ी या घुमाव वाली लिये हुए होती थी, कुछ बहुत तेज धार की होती थी और कुछ लम्बी होती थी इनकी मूठ गैंडे या भैंसे के सींग या हाथी के दाँत या लकड़ी की बनी होती थी। कुछ और धारदार हथियार भी होते थे जैसे परशु, कुठार आदि। कुछ यंत्र पत्थर फेंकने के लिए होते थे। पूरे शरीर की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के कवच भी होते थे जैसे लोह-जालक (पूरा कवच जिसके साथ सिर की रक्षा के लिए एक टोपी भी होती थी) लोह-जालिका (जिसमें टोपी नहीं होती थी) लोह-पट्ट (बिना आस्तीनों का कवच) लोह-कवच (जिसमें सीने तथा पीठ की रक्षा के लिए धातु की चादरें लगी होती थीं) सूत्र कंकट (धागे का बुना हुआ वस्त्र) और गैंडे हाथी मगर आदि के खाल के बने हुए विभिन्न प्रकार के कवच फिर शरीर के विभिन्न भागों की रक्षा के लिए अलग-अलग साधन होते थे जैसे सिर की रक्षा के लिए शिरस्त्राण, गले के बचाव के लिए कंठत्राण बाँहों की रक्षा के लिए कूर्पास धड़ पर पहनने के लिए हस्तिकर्ण और कमर के लिए पेटी; ये सब चीजें निपुण शिल्पकार बनाते थे [II, १८]।

मूर्तिकला में सैनिकों का चित्रण : यूनानी अथवा भारतीय साहित्य में प्राचीन भारत के अस्त्रशस्त्रों के जो विवरण मिलते हैं उनकी पुष्टि प्राचीन भारत की उपलब्ध कलाकृतियों से होती है। भरहुत की मूर्तियों में जिनके बारे में आम तौर पर यह माना जाता है कि उनका निर्माण अशोक के समय से शुरू हो जाता है। एक पैदल सैनिक की लगभग पूरे आकार की एक मूर्ति है, जिसमें उसे उसी प्रकार हथियारों से सज्जित दिखाया गया है, जैसा कि मेगास्थनीज ने अपने विवरण में बताया है। परन्तु प्राचीन भारतीय हथियारों का सबसे सही विवरण कनिंघम तथा फर्गुसन के पहली शताब्दी ईसवी के साँची के तथा अन्य स्तूपों की मूर्तियों के वर्णन में मिलता है। कनिंघम ने लिखा है, "इनमें से एक में घेरे-बंदी का चित्रण

किया गया है जिसमें सैनिक कसे हुए कपड़े तथा एक पाजामे जैसी चीज पहने हैं उनके पास हथियार के रूप में तलवारें और धनुष-बाण है। तलवारें छोटी तथा चौड़ी हैं और हूबहू वैसी ही हैं जैसा कि मेगास्थनीज ने अपने वर्णन में किया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उत्कीर्ण चित्रों में लगभग सभी पैदल सैनिकों को धनुष-बाण लिये हुए दिखाया गया है और यह बात भी मेगास्थनीज के कथन से पूरी तरह मेल खाती है। मेगस्थनीज ने कहा है कि उनमें से कुछ धनुष-बाण के बजाय भाले इस्तेमाल करते थे। इस बात की पुष्टि भी पत्थर पर खुदे हुए एक चित्र से हो जाती है जिसमें एक सिपाही का चित्रण इस रूप में किया गया है कि वह ढाल से अपने शरीर की रक्षा किये हुए है और पृथ्वी के समानान्तर एक भाला लिये हुए है जिसे वह फेंकने जा रहा है। पश्चिमी द्वार पर एक भारवाहक के हाथ में भी ऐसा ही भाला दिखाया गया है। पत्थर पर खुदे हुए इन चित्रों में आम तौर पर जो ढाल दिखाई गई है वह लम्बी तथा पतली और ऊपर की तरफ गोल है जैसा कि मेगास्थनीज ने भी अपने वर्णन में किया है। मैगास्थनीज के कथनानुसार घुड़सवारों की ढालें पैदल सैनिकों की ढालों से छोटी होती हैं। पत्थर पर खुदे हुए इन चित्रों में हर जगह इस बात की भी पुष्टि होती है उनमें घुड़सवारों की ढालें हमेशा लगभग दो फुट लम्बी दिखाई गई है।

भेलसा के स्तूपों में इन हथियारों के चित्र मिलते हैं धनुष-बाण खड्ग तलवार, तिकोनी नोकवाला भाला कुठार, फरसा त्रिशूल और पैदल सैनिकों तथा घुड़सवारों की ढालें।

साँची के स्तूप में पत्थर पर खुदे हुए एक और चित्र में राजकुमार सिद्धार्थ से सम्बन्धित एक प्रचलित कथा का चित्रण किया गया है, जिसमें उन्हें लोहे को बेध जाने वाला बाण चलाते हुए दिखाया गया है। इस चित्र के अग्रभाग में तीन योद्धा खड़े हैं, जिनके हाथ में पार्थिया के ढंग के धनुष और रोमन ढंग की छोटी छोटी सीधी तलवारें हैं जिन्हें वे अपने दाहिने कंधों पर रखे हैं अपने तर्कश रखने के लिए वे पैर पर एक-दूसरे को काटती हुई पेटियाँ भी बाँधे हैं। उनके साथ ढोल तथा दुदुभी बजाने वाले हैं।

योरोप में लड़ने वाले भारतीय सैनिक : यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय सेना के शौर्य की धूम बहुत प्राचीन काल से ही भारत की सीमाओं से बाहर भी बहुत दूर-दूर तक फैल चुकी है। बहुत पहले ४८ ई० पू में ही जर्कसीज की सेना में जिसने यूनान पर आक्रमण किया था एक टुकड़ी भारतीय सैनिकों की भी थी। ये सूती वस्त्र पहन कर लड़ते थे (कदाचित यह वही चीज थी जिसे

कौटिल्य ने पूत-कंटक कहा है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं) और उनके धनुष बेंत के होते थे और बेंत के बाणों पर साढ़े की नोक लगी हुई थी।

सैनिक अभ्यास पैदल सैनिकों को नियमित रूप से कवायद करनी पड़ती थी और प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता था। राजा स्वयं प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय सैनिकों का निरीक्षण करता था और उनके सैनिक दाँव-पेंच देखता था (शिल्पदर्शनम् कुर्यात् शिल्पयोग्याः कुर्युः) [V १]।

पैदल सेना के गुण : कौटिल्य ने बताया है कि एक बात जिसमें पैदल सेना सेना के अन्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है वह है कि पैदल सेना किसी भी प्रकार की भूमि पर (सर्वदेश) तथा हर प्रकार के मौसम में (सर्वकाल) शस्त्र धारण करके (शस्त्रवहनम्) सैनिक अभ्यास (व्यायाम) कर सकती है। घोड़े हाथी तथा रथ हर मौसम में या दलदल वाली जमीन पर नहीं लड़ सकते [X,४]

सैनिकों को प्रोत्साहन कौटिल्य ने बताया है कि रणक्षेत्र में सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिए उनको निम्नलिखित प्रेरणादायक शब्दों से सम्बोधित किया जाना चाहिए। राजा को अपने सैनिकों के सम्मुख इस प्रकार भाषण देना चाहिए "मैं भी तुम्हारे ही समान वेतनभोगी सेवक हूँ इस देश की सम्पदा का सुख हम सभी मिल कर भोगेंगे तुम्हें मेरे बताये हुए शत्रु को परास्त करना है (तुल्यवेतनोऽस्मि भवद्भिस्सह भोग्यमिदं राज्यं मयाभिहितः परोऽभिहन्तव्यः) [X १]।

उसके मंत्री तथा पुरोहित को सेना को इन शब्दों द्वारा प्रोत्साहित करना चाहिए 'वेदों में कहा गया है कि उचित विधि के अनुसार यज्ञ करने से यज्ञ करने वाला जिस गति को प्राप्त होता है वही गति वीरों के भी भाग्य में होती है" (वेदेष्वप्यनुश्रूयते— समाप्तदक्षिणानां यज्ञानामवभृथेषु सा ते गतिर्या शूराणामिति' [X,३]।

और इन शब्दों द्वारा 'स्वर्ग जाने की इच्छा रखने वाले ब्राह्मण यज्ञ तथा तपस्या द्वारा जहाँ तक पहुँच पाते हैं धर्मयुद्ध में लड़ते हुए अपने प्राणों की बलि देने वाला शूरवीर तत्काल उससे भी आगे पहुँच जाता है' (यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यान्ति। क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः, प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥)

'इसके विपरीत यदि कोई सैनिक अपने स्वामी से प्राप्त होने वाले भरण-पोषण के बदले में लड़ने से इन्कार करता है, तो वह अवश्य नरक का भागी होगा और उसकी मृत्यु पर विधिवत् उसकी अंत्येष्टि क्रिया भी नहीं की जाएगी (नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्। तत् तस्य मा भूत्नरकं च गच्छेद्, यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत् ॥)

ज्योतिषियों तथा राजा के अन्य अनुचरों को राजा की सेना की व्यूह रचना तथा उसके सैन्यबल की अपराजेयता का गुणगान करके सैनिकों में उत्साह का संचार करना चाहिए और शत्रु को भयभीत भी करना चाहिए (व्यूहसम्पदा कार्तान्तिकादिवर्गश्चास्य सर्वज्ञदैवसंयोगाख्यापनाभ्यां स्वपक्षमुद्धर्षयेत् परपक्षं चोद्वेजयेत्) ।

चारणों तथा राजसभा के कवियों को अपने वर्णनों में यह बताना चाहिए कि शूरवीर स्वर्ग जाते हैं और जो कायर होते हैं वे नरक की अग्नि में जलते हैं। उन्हें सैनिकों के वर्ण संघ कुल कृत्यों तथा चरित्र का भी गुणगान करना चाहिए (सूतमागधाः शूराणां स्वर्गमस्वर्गं भीरूणां जातिसंघकुलकर्मवृत्तस्तवं च योधानाम् वर्णयेयुः) ।

गुप्तचरों बढ़इयों तथा ज्योतिषियों को अपनी सेना की सफलताओं तथा शत्रु की विफलता की घोषणा में विलम्ब नहीं करना चाहिए (सत्रिवर्धकिमौहूर्तिकाः स्वकर्मसिद्धिमसिद्धिं परेषां) ।

पुरस्कार अंत में इस बात का भी उल्लेख किया जाना चाहिए, कि प्रधान सेनापति सैनिकों को पुरस्कार तथा सम्मान प्रदान करता था जिसका निर्णय इस आधार पर किया जाता था कि किसने कितना महत्त्वपूर्ण काम कर दिखाया है या किसने कितनी बड़ी विजय प्राप्त की है। शत्रु राजा का वध करने वाले को १०   पण उसके सेनापति या युवराज को मारनेवाले को ५० ० ० पण वीरों में जो सबसे प्रमुख होता था उसे १   ० पण हाथियों या रथों की सेना के मुख्य को ५,०० पण घुड़सवारों के मुख्य को १ ०० पण और पैदल सेना के मुख्य (पत्ति-मुख्य) को १   पण पुरस्कार दिया जाता था शत्रु-सेना के किसी सैनिक का सिर काटकर लाने वाले को उसके वेतन का दुगुना धन और २ पण पुरस्कार दिया जाता था जो कुछ वह स्वयं हस्तगत कर लेता था वह तो उसका होता ही था" [X, ३]।

घुड़सवार सेना युद्ध-क्षेत्र में घुड़सवार सेना का विशेष काम कौटिल्य ने यह बताया है कि उसे सेना में अनुशासन की निगरानी करनी चाहिए, उसके मोर्चे की लम्बाई को बढ़ाना चाहिए, उसके पार्श्वों की रक्षा करनी चाहिए, सबसे पहले आक्रमण उसी को करना चाहिए, और इसके अतिरिक्त सेना की दिशा को मोड़ने तथा शत्रु का पीछा करने आदि के काम भी उसी के हैं [X,४]।

अश्वाध्यक्ष : चन्द्रगुप्त की सेना में घोड़े इतना आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण अंग थे कि सेना के लिए घोड़े भरती करने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए सरकार का एक अलग विभाग था। अश्वाध्यक्ष को घोड़ों की एक सूची रखनी पड़ती थी उन्हें उनकी नस्ल आयु, रंग तथा आकार आदि के अनुसार अलग-अलग

विधियों में बाँटना पड़ता था उनके लिए अस्तबलों का प्रबन्ध करना पड़ता था उनका आहार नियत करना पड़ता था और उन्हें निकालने तथा प्रशिक्षित करने और पशु-चिकित्सकों द्वारा उनके रोगों की चिकित्सा का प्रबन्ध करना पड़ता था।

घोड़ों की भरती चन्द्रगुप्त की घुड़सवार सेना इतनी बहुसंख्यक थी कि उसके लिए कई जगहों से घोड़े लाने पड़ते थे इन स्थानों के नाम कौटिल्य ने इस प्रकार बताये हैं [II ३०] कम्बोज (अफ़ग़ानिस्तान जिसे युआङ च्वाङ ने काम्बोफ़ कहा है) सिंधु (सिंध) आरट्ट (पंजाब) वनायु (अरब) बाह्लीक (बल्ख) सौवीर (सिंध अथवा सिंधु नदी का डेल्टा) पापेय और तैतल (जिनकी पहचान अभी तक नहीं हो पाई है।) महाभारत में आम तौर पर 'पश्चिमी घोड़ों' को बहुत मूल्यवान बताया गया है पर सबसे अधिक उल्लेख सिंधु तथा कम्बोज के घोड़ों का मिलता है [महाभारत III ७१ ७२]। बाह्लीक के घोड़े भी इतने ही प्रख्यात थे [महाभारत I २२१ ५१ V ८६ ६ आदि]।

घोड़ों के रहने का प्रबन्ध : जैसा कि कौटिल्य ने बताया है घोड़ों की क्षमताओं का अनुमान उनके शरीर के कुछ भागों को नापकर लगाया जाता था। उनके लिए अस्तबल सफाई तथा स्वास्थ्य के नियमों का पूरी तरह ध्यान रखकर बनाए जाते थे। इसके बारे में भी कठोर नियम बना दिए गए थे कि किन परिस्थितियों में घोड़ों को क्या खाने को दिया जाए।

प्रशिक्षण सेना के घोड़ों को रणक्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुसार नियमित रूप से विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था।

पशु चिकित्सक यदि घोड़ों को कोई रोग हो जाए, तो अश्वाध्यक्ष को उसकी सूचना देनी पड़ती थी। पशु-चिकित्सकों को केवल इन रोगों की चिकित्सा ही नहीं करनी पड़ती थी बल्कि इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि पशुओं का शारीरिक विकास सुचारु रूप से हो। चिकित्सा में कोई त्रुटि होने पर दंड दिया जाता था [II ३०]।

अश्व-सेना की साज-सज्जा का यूनानी विवरण : अरियन ने अश्व-सेना की साज-सज्जा का वर्णन इन शब्दों में किया है (इंडिका अध्याय १४) "भारतवासी अपने घोड़ों पर न जीन कसते हैं न उनके मुँह में लगाम लगाते हैं। वे घोड़े के मुँह पर बैल के कच्चे चमड़े का सिला हुआ एक गोल टुकड़ा बाँध देते हैं जिसमें भीतर की ओर लोहे या पीतल के काँटे निकले होते हैं जो बहुत नुकीले नहीं होते। घोड़े के मुँह में लोहे का एक नुकीला सलाई जैसा टुकड़ा पड़ा रहता है जिसमें लगाम के दोनों सिरे बाँध दिए जाते हैं।" परन्तु यह विवरण मेगास्थनीज के उस विवरण का खंडन करता है (मैकक्रिंडिल अंश ५) जिसमें बताया गया है कि भारतवासी घोड़ों को वश में रखने के लिए और उनकी चाल को नियमित

करते तथा उनकी दिशा ठीक रखने के लिए लगाम तथा बाग का इस्तेमाल करते हैं। परन्तु वे न तो मुँह पर काँटेदार चमड़े का टुकड़ा बाँधकर उनकी जीभ को विपाक्त करते हैं न उनके तालू को पीड़ा पहुँचाते हैं। मेगास्थनीज के इस कथन की पुष्टि साँची में बनी हुई मूर्तियों से भी होती है जिनमें दिखाया गया है कि उस समय घोड़ों के मुँह के साज कितने सुन्दर होते थे।

युद्ध के रथ : ये सेना का महत्त्वपूर्ण अंग माने जाते थे। कौटिल्य ने युद्ध में उनके कामों का वर्णन इन शब्दों में किया है [X ४] 'सेना की रक्षा करना शत्रु की सेना के चारों अंगों द्वारा किए जाने वाले आक्रमण को निष्फल बनाना युद्ध के समय शत्रु के मोर्चों पर कब्जा करना तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना मोर्चा कायम करने में सहायता देना यदि कोई व्यूह टूट जाए, तो उसे फिर से स्थापित करना और शत्रु के सुगठित व्यूह को भंग करना अपनी सम्पत्ता तथा युद्धघोष द्वारा शत्रु को भयभीत करना तथा उसके हृदय में आतंक बिठा देना" (स्वबल रक्षा चतुरंगबलप्रतिषेध संग्रामे ग्रहणं मोक्षणं भिन्नसन्धानम् अभिन्नभेदनं त्रासनम् औदार्यम् भीमघोषश्चेति रथकर्माणि)।

रथाध्यक्ष : जैसा कि मेगास्थनीज ने लिखा है युद्ध-प्रशासन में एक अलग विभाग होता था जिसका काम होता था सेना के एक अंग के रूप में रथों को हर समय कार्य-क्षम रखना। इस विभाग के अध्यक्ष को रथाध्यक्ष कहते थे जिसके कामों का वर्णन कौटिल्य ने विस्तारपूर्वक किया है [II ३३]। उसका मुख्य काम यह था कि उस समय जो सात विभिन्न प्रकार के रथ काम में लाये जाते थे उनका प्रामाणिक आकार के अनुसार निर्माण करवाना। युद्ध के रथ (सांग्रामिक अथवा पारपुरभियानिक) दस पुरुष (कदाचित ७½ फुट के बराबर) ऊँचे और १ हाथ अर्थात् नौ फुट चौड़े होते थे। रथ बनाने वालों को पर्याप्त पारिश्रमिक दिया जाता था। इसके बाद अध्यक्ष का दूसरा महत्त्वपूर्ण काम यह था कि वह रथ पर लड़नेवाले सैनिकों को तीर चलाने पत्थर तथा भाले फेंकने रथ चलाने घोड़ों को वश में रखने और आम तौर पर रथ पर से लड़ने का उचित प्रशिक्षण देकर उनकी रण-क्षमता को उचित स्तर पर रखे [II ३३]।

राजा पुरु की पराजय : सिकन्दर की सेना का मुकाबला करते समय राजा पुरु ने मुख्यतः अपने रथों पर भरोसा किया था। कर्टियस द्वारा उनके रथों का निम्नलिखित वर्णन [VIII १४] अत्यन्त रोचक है "प्रत्येक रथ में चार घोड़े जुते होते थे और उन पर ६ आदमी होते थे जिनमें से दो ढाल लिये रहते थे दो रथ के दोनों ओर तीर चलाने के लिए तैनात रहते थे और दो रथ भी चलाते थे और हथियारों से लड़ते भी थे क्योंकि जब आमने-सामने लड़ाई होने लगती थी तब वे घोड़ों की बाग छोड़कर शत्रु पर भाले बरसाने लगते थे।

कौटिल्य ने यह भी कहा है [II, ११] कि रथ पर से लड़ने वाले सैनिकों को तीर चलाने की कला में (इषु) निपुण होना चाहिए और गदा तथा मुद्गर चलाने (अस्त्रप्रहरण) में भी।

आगे चलकर कर्टियस लिखता है परन्तु उस दिन रथ किसी भी काम न आ सके क्योंकि वर्षा होने के कारण ज़मीन पर फिसलन हो गई थी और उस पर घोड़े नहीं चल सकते थे और रथ के पहिये बार-बार कीचड़ में फँस जाते थे और अपने अत्यधिक भार के कारण आगे नहीं बढ़ सकते थे।'

इस प्रकार पुरु-राज की पराजय का कारण यह था कि रणभूमि रथों के चलने के लिए अनुपयुक्त थी कौटिल्य के मतानुसार रथ सबसे उपयोगी उस भूमि पर सिद्ध हो सकते हैं जो ऊँची-नीची न हो और जहाँ कीचड़ न हो और जहाँ रथों को मोड़ने के लिए काफ़ी जगह हो (तोयाश्मयाधप्रफलो निम्नस्थालिनी केदारहीना व्यावर्तनसमर्थेति रथानामतिशयः) [X ४]। वह समय भी रथों के लिए उपयुक्त नहीं था क्योंकि रथ सबसे अच्छी तरह सूखे मौसम में काम कर सकते हैं (अल्पवर्षपङ्क वर्षति मरुमायम्) [IX १]। महाभारत में भी बताया गया है कि रथों के लिए कौन-सा स्थान तथा समय सबसे उपयुक्त होता है (अपंक-गर्त रहिता रथभूमिः प्रशस्यते) [शांतिपर्व XXIV]।

रथों का व्यूह यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि कौटिल्य [X ५] ने लिखा है कि रथों के एक व्यूह में या सेना के इस अंग की इकाई होता था ४५ रथ होते थे जिनमें से प्रत्येक को पाँच घोड़े खींचते थे। इस प्रकार रथों के अतिरिक्त सेना के इस अंग के प्रत्येक विभाग में २२५ घोड़े ६७५ सैनिक और ६७५ अन्य अनुचर (पादगोप) होते थे।

यह भी हिसाब लगाया गया है कि हर घोड़े का मुकाबला करने के लिए (प्रतियुद्ध) तीन पैदल सिपाही और हर रथ का मुकाबला करने के लिए १५ सैनिक होने चाहिए। इसके अतिरिक्त एक हाथी का मुकाबला पाँच घोड़ों से करना चाहिए और घोड़े हाथी तथा रथ की देखभाल के लिए १५ सेवकों की आवश्यकता होती थी [X ५]।

मूर्तिकला में रथों का चित्रण साँची में पत्थर पर खुदी हुई मूर्तियों में प्राचीन भारतीय रथों का चित्रण मिलता है जिसमें दिखाया गया है कि इन रथों में दो पहिये होते थे और हर पहिये में १६ १६ आरे होते थे रथ में बैठने के लिए बक्स जैसा एक स्थान बना होता था जो पीछे से खुलता था इस रथ को दो घोड़े खींचते थे। रथ के बीच में एक लम्बी-सी बल्ली जैसी होती थी जो घोड़ों की गरदन के पास पहुँच कर ऊपर की ओर को थोड़ा-सा घूम जाती थी इसमें दोनों ओर दो छोटे-छोटे लकड़ी के लम्बे टुकड़े और लगे होते थे जो रथ की चौड़ाई

तक ही जाते थे पर इसमें जुआ नहीं होता था। रथ में मुश्किल से दो आदमियों
के एक साथ खड़े होने या बैठने की जगह होती थी। परन्तु इन मूर्तियों में चित्रित
रथ धार्मिक कामों के लिए होते थे। सांची की मूर्तियों में चाबुक भी दिखाई गई
है जो कड़े चमड़े का एक टुकड़ा होता था पर उसमें एक छोटी-सी लकड़ी की
मूठ भी लगी होती थी।

युद्ध के हाथी : हाथियों की सेना का बहुत महत्व था क्योंकि कौटिल्य के कथ
नानुसार राजाओं की विजय और शत्रु की सेना का संहार उन्हीं पर निर्भर रहता
था (हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्) [II २] हस्तिप्रधानो हि परानीकवध
इति [VII २] मेगास्थनीज के इस उल्लेख में भी कि 'हाथी लड़ाई में विजय
अथवा पराजय का निर्णय करते थे' इसी सत्य की प्रतिध्वनि मिलती है।

हाथियों के गुण : कौटिल्य ने हाथियों के विशेष कामों का उल्लेख इन शब्दों
में किया है "सेना के आगे-आगे चलना (पुरोयानम्) ऐसे स्थानों में जाना
जहाँ सड़कें न हो (अकृतमार्ग) या आश्रय लेने का कोई स्थान न हो या जहाँ
नदियों पर घाट न हों सेना के पार्श्व की रक्षा करना नदियां पार करना ऐसे
स्थानों में घुसना जहाँ घनी झाड़ियों अथवा झाड़-झंखाड़ के कारण घुसना सम्भव
न हो शत्रु की सेना के सुगठित मोर्चे (सम्बाध) को चीरकर आगे बढ़ जाना
शत्रु के पड़ाव में आग लगाना और यदि अपने पड़ाव में आग लग जाए तो उसे
बुझाना सेना के अन्य अंगों की सहायता के बिना विजय प्राप्त करना (एकांग-
विजय) अपनी सेना का मोर्चा भंग हो जाने पर उसे फिर स्थापित करना और
शत्रु के मोर्चे को तोड़ डालना (भिन्नसन्धानम् अभिन्नभेदनम्) संकट से रक्षा
करना (व्यसने त्राणम्) शत्रु की सेनाओं को रौंद डालना (अभिघात) शत्रु
की सेना में आतंक पैदा करना (विभीषिका) भय उत्पन्न करना (त्रासनम्)
सेना को सजने में रौबदार बनाना (औदार्यम्-सैन्यमहत्वम्) शत्रु के सैनिकों
को पकड़ना (ग्रहणम्) तथा अपने सैनिकों को छुड़ाना (मोक्षणम्) दुर्ग की
दीवारों (साल) फाटकों (द्वार) तथा उन पर बनी हुई बुर्जियों (अट्टालक) तथा
कक्षा को नष्ट करना और राजकोष के जाना [X, ४]। एक दूसरे प्रकरण
में [II २] कौटिल्य ने यह बताया है कि विशालकाय (अतिप्रमाण शरीराः)
होने के कारण हाथी अन्य विध्वंसात्मक कार्यों के अतिरिक्त शत्रु के मोर्चे को तोड़
सकते हैं (परानीक व्यूहप्रमर्दनम्)। उसके किलों (दुर्ग) तथा सैनिक पड़ावों
(स्कन्धावार) को नष्ट कर सकते हैं।

उपयुक्त समय : हाथियों से काम लेने के लिए गर्मी के मौसम को छोड़कर
वर्ष के और सभी मौसम उपयुक्त हैं क्योंकि गर्मियों में "हाथियों के पसीना बहुत
निकलता है जिससे उनकी खाल को हानि पहुँचती है और उन्हें कुष्ठ-रोग

(कुष्ठिनो) हो जाता है। जब वे पानी में स्नान नहीं कर पाते और उन्हें पीने को बहुत-सा पानी नहीं मिलता तो उनकी अन्दर की गरमी (अंतरवसाराः) उन्हें क्षीण बनाती रहती है और वे अंधे हो जाते हैं (अन्धीभवन्ति) [IX १]। इसलिए हाथियों को ऐसे ही देश में लड़ने के लिए ले जाना चाहिए जहाँ पानी बहुत हो (प्रभूतोदके देश) और जब वर्षा हो रही हो (वर्षति)।

उपयुक्त स्थान : हाथियों से काम लेने के लिए उपयुक्त स्थान कौटिल्य ने ये बताए हैं [X, ४] "ऐसी पहाड़ियाँ जिन पर चढ़ना संभव हो (गम्यशल) नीची ढलानें (निम्नविषमा) और ऐसी ऊँची-नीची भूमि जिस पर ऐसे पेड़ हों जो गिराए जा सकते हों जिस पर ऐसे पौधे हों जो उखाड़े जा सकते हों और जिस पर बहुत कीचड़ न हो और बहुत गड्ढे तथा गड्ढे न हों (पंकभंगुम्यरण-हीन) वह भूमि भी जहाँ बहुत धूल (पांसु) कीचड़ (कर्दम) दलदल और घास-फूस हो तथा जहाँ बड़े-बड़े वृक्षों की डालों से मार्ग न रुकता हो।

हस्त्यध्यक्ष [II ११ १२] सेना के एक अंग के रूप में हाथियों के प्रशिक्षण तथा कार्यक्षमता की देखभाल का काम राज्य प्रशासन की एक विशेष शाखा के हाथ में था जैसा कि मेगास्थनीज ने लिखा है। इस विभाग का प्रधान हस्त्यध्यक्ष नामक एक पदाधिकारी होता था जिसकी सहायता के लिए और बहुत-से छोटे पदाधिकारी होते थे जो राज्य के लिए हाथियों की पर्याप्त सेना तैयार करने के लिए आवश्यक विभिन्न काम करते थे।

हाथियों को प्राप्त करना : सबसे पहला काम तो विभिन्न स्थानों से हाथियों को प्राप्त करने और जंगली हाथियों को विशेष जंगलों तथा सुरक्षित क्षेत्रों में रखने का काम था। हाथी इन जगहों से लाए जाते थे (१) कलिंग (२) अंग (३) प्राच्य (पूर्वी भारत) (४) चेदि (५) करूष (६) दशार्ण (७) अपरान्त (पश्चिमी भारत) (८) सुराष्ट्र तथा (९) पाञ्चनद (पंजाब)।

नागवनाध्यक्ष [II २] हाथियों के जंगल अर्थात् संरक्षित वन नागवनाध्यक्ष नामक एक पदाधिकारी के नियंत्रण में रहते थे जिसके साथ नागवनपाल नामक अनेक सहायक अधिकारी होते थे, जो इन जंगलों में घूमने तथा उनसे निकलने के मार्गों पर कड़ी निगरानी रखते थे।

हाथियों को साधने वाले फिर जंगली हाथियों को पकड़ने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने का काम होता था जिसके लिए अलग से ऐसे लोगों की आवश्यकता होती थी, जिन्हें इस कठिन काम का विशेष ज्ञान तथा अनुभव हो जैसे हाथियों के महावत तथा उनकी सफाई आदि करने वाले (हस्तिपक) सीमा के पहरेदार (सैनिक) जंगल के रखवाले (वन-चर्क) हाथियों के पैरों में फंदा डालने वाले (पाद-पाशिक) और हाथियों को साधने वाले (अनीकस्थ) [II २]।

था लोग हाथियों को साधते थे उन्हें सबसे पहला महत्त्वपूर्ण काम यह करना पड़ता था कि वे उन हाथियों म अंतर कर जो पकड़ने योग्य होते थे और जो रोग अथवा किसी अन्य दोष के कारण पकड़ने के लायक न हों जैसे अल्पायु (विकक) रोग (व्याधित) गर्भावस्था या बहुत छोटे-छोटे दूध-पीते बच्चों का होना (गर्भिणी तथा धेनुका) और दांतों का छोटा होना (मूढ़) या बिल्कुल ही न होना (मत्कुण) [II, ३१]।

हाथियों को पकड़ना : घोड़ा हाथियों को पकड़ने के लिए (हस्तिबन्धकी) हथनियों को इस्तेमाल किया जाता था। हाथियों का पता उनके मल-मूत्र उनके पद-चिह्नों उनके विश्राम करने के स्थानों या चलते समय मार्ग में उनके द्वारा की गई क्षति द्वारा (कूलपातोद्देशेन) लगाया जाता था। मेगास्थनीज ने हाथियों को पकड़ने के तरीके का वर्णन करते हुए बताया है, कि कुछ हथनियां एक घेरे में बंद कर दी जाती थी और उसके चारों ओर एक गहरी खाई खोद दी जाती थी जंगली हाथी एक पुल पर से होकर इस घेरे में पहुँच जाते थे और फिर वह पुल हटा लिया जाता था।

हाथियों के रहन-सहन तथा खान-पान की व्यवस्था तीसरे, हाथियों के रहने की व्यवस्था करने का काम होता था जिसके लिए कुछ विशेष कर्मचारियों की आवश्यकता होती थी जिनमें से मुख्य कर्मचारी ये थे चिकित्सक, हाथियों को साधने वाला (अनीकस्थ) साधारण महावत (आरोहक) या कुशल महावत (आधोरण) सफाई आदि करने वाला (हस्तिपक) सेवक (औपचारिक) खाना पकाने वाला (विधापाचक) घास देने वाला (यावसिक) रखवाला (कुटीरक्षक) और रात की देख भाल करने वाले (औपशायिक) [II ३२]। ये लोग हाथियों के आहार तथा उनकी दैनिक आवश्यकताओं (जैसे स्नान प्रशिक्षण तथा विश्राम) का नियमन करते थे।

सैन्य-प्रशिक्षण चौथे राज्य के हाथियों को विशेष रूप से युद्ध में इस्तेमाल किए जाने वाले हाथियों (सान्नाह्य) को उचित प्रशिक्षण देने का महत्त्वपूर्ण काम था जिसके लिए नियमित रूप से निपुण सहायकों की आवश्यकता रहती थी। उन्हें युद्ध के लिए आवश्यक सभी क्रियाओं (सांग्रामिक) की शिक्षा देनी पड़ती थी जैसे उठना झुकना या कूदना (उपस्थान) मुड़ना (संवर्तन) मारना या पछाड़ना (वधावध) दूसरे हाथियों से लड़ना (हस्तियुद्ध) और किलों तथा शहरों पर आक्रमण करना (नागरायणम्) [II ३१ ?]।

हाथी पर चढ़ने वाले : मेगास्थनीज के अनुसार [अंश XXXV] युद्ध का हाथी "अपनी गर्दन पर या पीठ पर कसे हुए हौदे में तीन सैनिकों को लेकर चलता है, जिनमें से दो दायां तरफ से तीर चलाते हैं और तीसरा पीछे से। हाथी

पर एक चौथा आदमी भी होता है जिसके हाथ में एक अंकुश होता है जिसकी सहायता से वह हाथी को उसी प्रकार वश में रखता है जैसे जहाज का संचालक दिशा बदलने वाले यन्त्र की सहायता से जहाज को सही मार्ग पर रखता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध के लिए अच्छी नस्ल के हाथी तैयार करने में अनेक प्रकार के कर्मचारियों का सहयोग आवश्यक होता था। चंद्रगुप्त के साम्राज्य के सैन्यबल में हाथियों का योगदान कुछ कम नहीं था।

हाथियों का पोषण-स्थल—पूर्वी भारत ऊपर हमने भारत की जिन समकालीन सेनाओं का उल्लेख किया है उनकी तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त की सेना हाथियों की दृष्टि से अन्य सेनाओं के मुकाबले में बहुत आगे बढ़ी हुई थी। प्राचीन भारत के सभी वृत्तान्तों में इस बात का प्रमाण मिलता है कि हाथियों को पकड़ने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने में पूर्वी भारत अर्थात् मगध सबसे आगे बढ़ा हुआ था (रीज डैविड्स बुद्धिस्ट इण्डिया पृष्ठ २६६)। इस प्रसंग में हम यह भी बता दें कि कौटिल्य ने प्राच्य (पूर्व) के बारे में यह कहा है कि वहां से सबसे अच्छे हाथी मिलते थे और महाभारत में भी एक जगह [XII १०१] विभिन्न जातियों के लोगों के रण-कौशल की तुलना करते हुए हाथियों की लड़ाई में प्राच्यों की श्रेष्ठता का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही हम उस कथन की भी तुलना कर सकते हैं, जिसे मेगास्थनीज का बताया जाता है (एशेंट इंडिया पृष्ठ ११८) कि सारे देश में सब बड़े हाथी प्रेसियन हाथी होते थे अर्थात् प्रासियाई देश के अर्थात् पूरब के मागधों के देश के।

नौ-सेना विभाग : नावध्यक्ष हम अब सेना के सभी मुख्य अंगों पर विचार कर चुके हैं और नौ-सेना विभाग का उल्लेख करके हम इस विवरण को समाप्त करेंगे। मेगास्थनीज के अनुसार यह चन्द्रगुप्त के युद्ध-कार्यालय का एक विभाग था। मौर्यों की नौ-सेना के बारे में बहुत कम सामग्री मिलती है। कौटिल्य के अनुसार, नौ-सेना विभाग नावध्यक्ष नामक एक अधिकारी के अधीन था जिसे युद्ध से सम्बन्धित सभी समस्याओं पर विचार करना पड़ता था। युद्ध में जहाजों के प्रयोग का उल्लेख सबसे पहले सिकन्दर के अभियानों के सिलसिले में मिलता है जिसने अपनी नावों के बेड़े की सहायता से सिन्धु नदी तथा झेलम नदी को पार किया था (वी० ए० स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया पृष्ठ ५५)। अरियन ने (मेरी पुस्तक हिस्ट्री आफ इंडियन शिपिंग पृष्ठ १०२) जाथरोई नामक जाति के लोगों द्वारा जहाजी-बाटों का निर्माण करने ३० पतवारों से चलाई जाने वाली नावें तथा माल ढोने वाले जहाज बनाने का उल्लेख किया है। जहाजों के निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था परन्तु जहाज लोगों को किराए पर दिए जाते थे [स्ट्राबो XV ४६]। कौटिल्य ने भी इस बात की पुष्टि की है [II २८]। नौ-

सेना का यह कर्तव्य था कि जो बाहर लूटमार करते हों (हिंसका) या जो किसी शत्रु के देश से आ रहे हों (अमित्रविषयातिगाः) उनका पीछा करके वह उन्हें नष्ट कर दे। नौ-सेना विभाग वास्तव में नदियों पर तथा समुद्र तट पर पहरे का प्रबंध करता था। घाटों पर जितनी भी चुंगी वसूल की जाती थी बंदरगाहों का सारा शुल्क और टट-कर जमा करने का काम भी नौ-सेना विभाग के सुपुर्द था परन्तु उन्हें उन लोगों को निःशुल्क जाने देना पड़ता था जो सेना के लिए कोई चीज (रसद या आज्ञाएं) ले जा रहे हों [II २८]। इस प्रकार नावों की आवश्यकता इतनी ज्यादा लड़ाई के लिए नहीं पड़ती थी जितनी कि जल-मार्ग द्वारा सेना के लिए हथियार तथा सामान ले जाने के लिए।

नीति साम्राज्य के विपुल सैन्य साधनों का उपयोग उस नीति के अनुसार किया जाता था जिसका लक्ष्य दो उद्देश्यों की पूर्ति करना होता था (१) क्षेम और (२) व्यायाम अथवा प्रयास क्षेम का अर्थ था व्यायाम द्वारा प्राप्त होने वाले फलों का सुरक्षा के वातावरण में उपभोग करना [VI २]।

ये दो लक्ष्य ६ सूत्री नीति पर निर्भर थे जिसे षाड्गुण्यम् कहते थे इस नीति के ६ अंग ये थे (१) संधि अथवा पणबंध वचनों अथवा आश्वासनों द्वारा राज्यों के बीच समझौता (२) विग्रह अथवा अपकार, अर्थात् युद्ध (३) आसन अथवा उपेक्षण अर्थात् तटस्थता (४) यान अथवा अभ्युच्चय अर्थात् युद्ध की तैयारियों के लिए सामग्री एकत्रित करने के लिए अभियान (५) संश्रय अथवा परार्पणम् अर्थात् धन या बंदी देकर अधिक शक्तिशाली राजा की शरण लेना (६) द्वैधी भाव अर्थात् एक के साथ शांति और दूसरे के साथ युद्ध करना (VII १)।

इस ६-सूत्री नीति से प्राप्त होने वाले फलों के अनुसार राज्य की दशा निम्नलिखित तीन दशाओं में से कोई भी हो सकती थी क्षयः अर्थात् पतन स्थानम् अर्थात् ज्यों का त्यों रहना और वृद्धि अर्थात् फलना-फूलना।

राज्य की दशा इस पर निर्भर करती थी कि उसकी नीति अच्छी (नय) है या बुरी (अपनय) और इस बात पर भी कि उसका भाग्य (दैव) अच्छा (अय) है या बुरा (अनय)।

आदर्श राजा वही है जो वृद्धि को अर्थात् अपने राज्य का विस्तार बढ़ाने को अपना लक्ष्य बनाए और उसे एक विजेता के रूप में (विजिगिषु) इस लक्ष्य को पूरा करना चाहिए।

उसकी सफलता (सिद्धि) उसकी शक्ति पर निर्भर रहती थी।

शक्ति तीन प्रकार की बताई गई है (१) बुद्धिमत्ता (ज्ञानबलम्) तथा अच्छा परामर्श (मंत्रशक्ति) (२) साधन सामग्री तथा सेना (कोशदण्डबलम् प्रभु-शक्ति) और (३) साहस (विक्रमबलम् उत्साहशक्ति) [VI १]।

इस ६-सूत्री नीति का लागू करने का लक्ष्य वे राज्य होते थे जिनके साथ वह राजा मित्रता अथवा शत्रुता के सम्बन्ध स्थापित करता था (षाड्गुण्यस्य प्रकृति मण्डलं योनिः) [VI २]।

इन वैदेशिक सम्बन्धों में अंतर इस प्रकार किया गया है

पड़ोसी राजा को शत्रु मानना चाहिए। उसका पड़ोसी राजा मित्र है। अन्य शक्तियाँ शत्रु की मित्र होंगी या उस राजा की अर्थात् विजेता की मित्र होंगी या फिर वे शत्रु के मित्रों की मित्र होंगी।

विजेता और उसके शत्रु के बीच में एक मध्यम राजा भी हो सकता है, जो दोनों में से किसी भी पक्ष की सहायता कर सकता है।

और अंत में तटस्थ (उदासीन) राजा होता है।

विजय की कामना यह बताई गई है कि सबसे पहले शत्रु के राज्य पर अधिकार करना चाहिए, फिर मध्यम और उदासीन राजा के राज्य पर [XIII ४]।

यह विजय का पहला तरीका है (एष प्रथमो मार्गः पृथिवीं जेतुम्)।

यदि कोई मध्यम या उदासीन राज्य न हो और विजेता को सीधे-सीधे शत्रु से ही निपटना पड़े तो उसे पहले शत्रु के मन्त्रियों को और फिर उसकी सेना को अपनी ओर मिलाने और उसके बाद उसके राजकोष पर अधिकार करने के लिए अपनी उच्चतर शक्ति का उपयोग करके विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए (अरिप्रकृतीं अमात्यादीन साममेत तत उत्तरतः प्रकृती: कोशदण्डादिका)। यह विजय प्राप्त करने का दूसरा तरीका है।

यदि विजय प्राप्त करने के लिए राज्यों का कोई मण्डल न हो तो उसे अपने शत्रु द्वारा अपने मित्र पर या अपने मित्र द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए उसे उन दोनों के बीच युद्ध करा देना चाहिए, ताकि वे दोनों कमजोर हो जाएँ और वे दोनों पर विजय प्राप्त कर सके। यह विजय प्राप्त करने का तीसरा तरीका है।

या फिर वह अपने मित्र की सहायता से अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है, और इस प्रकार अपनी शक्ति को दुगुना करके वह दूसरे राजा पर विजय प्राप्त कर सकता है और जब शक्ति तिगुनी हो जाए, तो वह तीसरे राजा पर विजय प्राप्त कर सकता है। यह विजय प्राप्त करने का चौथा तरीका है।

उसे धर्म के अनुसार शासन करके विजेता (जित्वा च पृथिवीम्) जैसे आचरण का परिचय देना चाहिए (XIII ४)।

उसे 'स्वयं अपने गुणों द्वारा पराजित राजा के दोषों को ढक लेना चाहिए और अच्छे प्रशासन द्वारा रियायतें (अनुग्रह) करके छूट (परिहार) देकर,

दान तथा मान देकर अपने गुणों में वृद्धि करनी चाहिए और इस प्रकार अपनी नई प्रजा के सुख तथा कल्याण में योग देना चाहिए (प्रकृतिप्रियहितानि अनुवर्तेत)। विजेता को इस बात का भी परामर्श दिया गया है कि उस विजित लोगों के रीति-रिवाज (शील) उनका पहनावा (वेष) भाषा तथा कानून (आचार) अंगीकार करना चाहिए। उसे उनके धर्म सामाजिक संस्थाओं तथा उत्सवों का सम्मान करना चाहिए। उसके गुप्तचर (सत्रिणः) विभिन्न स्थानों (देश) गांवों (ग्राम) जातियों तथा संघों के लोगों के नेताओं को इस बात की सूचना देंगे कि शत्रु ने देश को क्या हानि (अपकार) पहुँचाई है, और स्वयं वह राजा कितना शक्तिशाली है उसके हृदय में प्रजा के लिए कितना प्रेम है और वह उनके कल्याण के लिए क्या उपाय कर रहा है। अपनी नई प्रजा के देवताओं का सम्मान करना तथा उनके विद्वानों (विद्याशूर) वक्ताओं (वाक्यशूर) तथा धर्मात्माओं (धर्मशूर) को भूमि तथा अन्य वस्तुएँ दान देकर तथा उनके कर माफ करके उन्हें पुरस्कृत करना विजेता राजा का कर्तव्य है। उसे अपनी विजय के उपलक्ष में सब बंदियों को मुक्त कर देना चाहिए (सर्वबंधनमोक्षणम्) और अनाथों निराश्रितों तथा रोगियों के भरण-पोषण की व्यवस्था की घोषणा करनी चाहिए। उसे चातुर्मास्य (जुलाई से सितम्बर तक) के दौरान में आधे महीने के लिए, पर्वमासी के समय चार दिन के लिए, और राजा के जन्मदिवस के नक्षत्र में और देश-विजय के नक्षत्र में एक-एक दिन के लिए (टीकाकार ने राज-नक्षत्र तथा देश-नक्षत्र शब्दों की व्याख्या इसी प्रकार की है) पशु-वध निषिद्ध कर देना चाहिए। अन्तिम बात यह कि नए देश में उत्पात तथा असंतोष के सभी स्रोतों का दमन करके उसे अपनी सुरक्षा तथा अपनी विजय को सुनिश्चित बनाने के लिए सभी आवश्यक उपाय करने चाहिएँ [XIII 5]।

चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे सम्राट् के लिए साम्राज्य-निर्माण के इससे अच्छे सूत्रों तथा सिद्धान्तों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके विस्तृत साम्राज्य में विभिन्न सामाजिक पद्धतियों तथा धर्मों को मानने वाला अनेक लोक-समुदाय वास करते थे। उसमें उत्तरी-पश्चिमी सिरे पर विदेशी अर्थात् यवन जाति के लोग रहते थे और साम्राज्य के उस भाग में भी स्वयं भारतवर्ष में अनेक जातियाँ रहती थीं जो सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में थीं—आदिवासियों वन-वासियों (अटविक) और यायावर जातियों से लेकर उन सुसंस्कृत वर्गों (आर्यों) तक जो वर्णाश्रम-धर्म की पद्धति के अनुसार चले-चढ़े थे और समाज सोपान के शिखर पर थे। दिग्विजयी सम्राट् के लिए कौटिल्य ने संश्लेषण तथा विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को पूरी तरह समझने का जो व्यापक सिद्धान्त बनाया था वही अपने विस्तृत रूप में इतने समन्वयी तथा इतने विशाल सामाजिक तथा

सांस्कृतिक वैविध्य को इस प्रकार स्थान दे सकता था कि उनके भेदों को मिटाकर उन्हें एक समष्टि का रूप दे सके और उन्हें एक ही राजनीतिक पद्धति अथवा साम्राज्य के विभिन्न अंगों के रूप में संगठित कर सके। इस प्रकार कौटिल्य तथा चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य-सम्बन्धी बुद्धिसंगत सिद्धान्तों तथा इस क्षेत्र में अपने व्यवहार के कारण भारत के सर्वप्रथम साम्राज्य-निर्माता थे। उन्होंने अपने साम्राज्य की स्थापना उसके सभी लोक-समुदायों के लिए पूर्ण सांस्कृतिक स्वतंत्रता उनकी भिन्न-भिन्न भाषाओं रीति-रिवाजों तथा उनके धर्म के प्रति सम्मान और उनके सामाजिक धार्मिक तथा भाषा-सम्बन्धी उन सभी अधिकारों की रक्षा के आधार पर की जिनके कारण लोक-समुदाय की एकता स्थापित होती है।

अध्याय ११

सामाजिक परिस्थितियाँ

समाज-व्यवस्था : वर्ण समाज उस कट्टर ब्राह्मण-पद्धति पर आधारित था जिसने इसे चार मुख्य वर्णों में विभाजित कर दिया था जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन चार वर्णों के अतिरिक्त कई निम्न वर्ण (अवर-वर्ण) भी थे [VI १ VII २]।

संकर वर्ण देश में अनेकानेक संकर वर्णों (अन्तराल) के लोग भी थे जो भिन्न वर्णों के लोगों के बीच विवाह से उत्पन्न संतान थे। कौटिल्य ने भिन्न वर्णों के बीच इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न होने वाली संतान का वर्णन इस प्रकार किया है [III ७] (१) अनुलोम विवाह से उत्पन्न होनेवाली संतान अम्बष्ठ निषाद, या पारशव (ब्राह्मण पिता की संतान) उग्र (क्षत्रिय पिता की संतान) शूद्र (वैश्य पिता की संतान) (२) प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होनेवाली संतान आयोगव क्षत्त तथा चण्डाल (शूद्र पिता की संतान) मागध तथा वैदेहक (वैश्य पिता की संतान) और सूत (क्षत्रिय पिता की संतान)।

इन संकर वर्णों के बीच परस्पर विवाह से उत्पन्न होनेवाली संतान का वर्णन इस प्रकार किया गया है उग्र पिता तथा निषाद माता की संतान कुक्कुटक निषाद पिता तथा उग्र माता की संतान पुक्कस अम्बष्ठ पिता तथा वैदेहक माता की संतान वैण वैदेहक पिता तथा अम्बष्ठ माता की संतान कुशीलव उग्र पिता तथा क्षत्त माता की संतान श्वपाक कहलाती थी।

ब्राह्मणों का उत्थान यह बात स्मरण रखने की है कि जैसा कि एफ० डब्ल्यू० टामस ने कहा है [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४८४] मौर्य साम्राज्य की उत्पत्ति एक ब्राह्मण से तथा एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई और कौटिल्य के नेतृत्व में उस साम्राज्य ने समाज का नियमन वर्णाश्रमधर्म के नियमों के अनुसार किया। इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस समाज के शिखर पर ब्राह्मण का स्थान था जो पुरोहित तथा राजगुरु के रूप में राजनीति तथा प्रशासन पर बहुत बड़ी हद तक प्रभाव डालता था और परिषद् का सदस्य होने के नाते विधान-निर्माण पर भी प्रभाव डालता था। कानून ने उसकी इस सर्वोपरि सामाजिक स्थिति को स्वीकार करते हुए उसे समस्त करों से मुक्त कर दिया गया था उसकी सम्पत्ति जब्त नहीं की जा सकती थी उसे कोई शारीरिक दंड अथवा मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता था उसे अधिकतम दंड यह दिया जा सकता था कि उसे कलंकित करके देश निकाला दे दिया जाए [VI ८]। परंतु इस सारे सामाजिक सम्मान का कारण यह था कि वह सही माने में समाज का अंग होता ही नहीं था वह संसार में रहते हुए भी उससे परे था। उसका वास्तविक कार्य अध्ययन तथा अध्यापन था और उसका उचित निवास-स्थान वन की कुटिया में था जहाँ वह अपना समय धर्म-चिंतन में व्यतीत करता था और परलोक की चिंता में ही लीन रहता था [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४८४]।

परंतु अब जैन-मत तथा बौद्ध-मत जैसे सम्प्रदायों के विकास के कारण और कई दूसरे सम्प्रदायों के विकास के कारण जिनका उल्लेख उस समय के साहित्य में मिलता है (देखिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की दूसरी पुस्तक हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ २२) और जो प्रचलित धर्म में विश्वास नहीं रखते थे और धर्म-परिवर्तन कराते थे इस समाज-व्यवस्था के लिए खतरा पैदा हो गया था। ये सम्प्रदाय प्रव्रजितों के संघ बनाकर उसकी बुनियादों को हिला देने की धमकी दे रहे थे। इस बात से हम भली भाँति समझ सकते हैं कि ब्राह्मण-पद्धति का व्याख्याता होने के नाते कौटिल्य इस बात के पक्ष में क्यों नहीं था कि कोई वैधानिक अधिकारियों की अनुमति प्राप्त किए बिना (भिक्षा० आपृच्छ्य धर्मस्थान्) [II १] और पुत्र तथा पत्नी के लिए कोई उचित व्यवस्था किए बिना (पुत्रदारं अप्रतिविधाय) [II, १] इस संसार से और गृहस्थ जीवन के दायित्वों से नाता तोड़ ले। कौटिल्य ने तो इस बात की भी मनाही कर दी थी कि गाँव में कोई भी इस प्रकार के अप्रमाणित संन्यासी को शरण न दे क्योंकि उसे डर था कि इससे ग्राम्य-समाज में उथल-पुथल पैदा हो सकती है (न जनपदं उपनिवेशेत) [II १]।

"इस प्रकार हम मौर्य युग में केन्द्रीयकरण की अवस्था का सूत्रपात देखते हैं जिसमें केवल कुछ बहुत बड़े-बड़े सम्प्रदाय ही एक सस्थापित ब्राह्मण कट्टरपंथ के सामने टिके रह सकते थे। और यह बात एक महान् साम्राज्य का स्वाभाविक परिणाम थी" [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४८४]।

यूनानी वृत्तांतों में हिन्दू समाज का वर्णन : वर्ण तथा व्यवसाय के बीच गड़बड़ : यूनानी वृत्तांतों में हिन्दू समाज के जो उल्लेख हैं उन से पता चलता है कि वे लोग उस व्यवस्था को पूरी तरह समझ नहीं पाए थे जो अपने ढंग की अनोखी व्यवस्था थी और विदेशियों के लिए एक अपरिचित चीज थी। इस लिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मेगास्थनीज और उसके बाद के लेखकों ने वर्णों तथा उनसे सम्बन्धित व्यवसायों के अंतर को ठीक से न समझ सकने के कारण सात 'भारतीय वर्णों' का वर्णन किया है। रेप्सन ने ठीक ही कहा है [कैम्ब्रिज हिस्ट्री पृष्ठ ४ ९] "परन्तु ये सात वर्ण उन विभिन्न गतिविधियों को प्रतिबिम्बित करते हैं जो पाटलिपुत्र में रहनेवाला कोई यूनानी ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में अपने चारों ओर देखता था।

मेगास्थनीज की दृष्टि में ब्राह्मण : परन्तु यूनानी वृत्तान्तों में से वर्णों के विवरण को विभिन्न वर्णों के लोगों के व्यवसायों या एक ही वर्ण के लोगों के विभिन्न व्यवसायों के उन विवरणों से अलग करना संभव है, जिनके साथ उन्हें मिला दिया गया है।

एक वर्ण के रूप में ब्राह्मणों के बारे में मेगास्थनीज ने निम्नलिखित बातें कही हैं

यह कहता है कि ब्राह्मण ऐसे "दार्शनिक होते थे जिन्हें समाज में सर्वोच्च पद प्राप्त था पर जो संख्या की दृष्टि से सब से छोटा वर्ग था (अंश XXX)। परन्तु इस विषय में मेगास्थनीज ने जो कुछ लिखा है उसका अधिक विस्तृत विवरण हमें स्ट्राबो के यहाँ मिलता है "दार्शनिक दो प्रकार के होते हैं। 'ब्रैकमेन' (Brachmans) (१) ब्रैकमेन (Brachman) और (२) सरमेन (Sarmanes)। ब्रैकमेन सबसे अधिक सम्मान के पात्र हैं, क्योंकि वे एक अधिक सुसंगत बद्धिवद्ध पद्धति का पालन करते हैं।

छात्रवृत्ति छात्रों के रूप में वे "नगर के सामने एक छोटे से घिरे हुए स्थान में किसी कुंज में रहते हैं। वे सरल जीवन व्यतीत करते हैं और घास फूस अथवा मृगछाला की शय्या पर विश्राम करते हैं। वे मांस नहीं खाते और संभोग के सुख से दूर रहते हैं और अपना सारा समय गंभीर उपदेश सुनने में व्यतीत करते हैं।"

गृहस्थावस्था "इस प्रकार सैंतीस वर्ष तक जीवन व्यतीत करने के बाद प्रत्येक छात्र अपने घर लौट जाता है और शेष जीवन सुख तथा सुरक्षा के वातावरण में व्यतीत करता है।

'तब वे बढ़िया मलमल के वस्त्र धारण करते हैं और अपनी उंगलियों पर तथा कानों में सोने के छोटे-मोटे आभूषण भी धारण करते हैं। वे मांस खाते हैं पर परिश्रम करने वाले पशुओं का नहीं। वे बहुत चटपटा तथा मसालेदार भोजन ग्रहण नहीं करते।

यह जीवन के प्रथम आश्रम अर्थात ब्रह्मचारी के जीवन का और उसके बाद गृहस्थ के जीवन का वर्णन है। इसमें केवल एक त्रुटि यह है कि विद्योपार्जन का काल ३७ वर्ष का बताया गया है, जो एक अपवाद है मनु ने विद्योपार्जन की अधिकतम अवधि छैंतीस वर्ष बतायी थी [III १]। यहाँ पर मेगास्थनीज ने हिंदू पद्धति के अनुसार जीवन के चार आश्रमों में विभाजन के बारे में भी अपनी अनभिज्ञता का परिचय दिया है।

मेगास्थनीज ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि उस समय के ब्राह्मण भिन्न-भिन्न व्यवसायों में काम करते थे।

व्यवसाय : 'जो लोग कोई यज्ञ कराना चाहते हैं और कोई संस्कार सम्पन्न कराना चाहते हैं' उनके लिए वे पुरोहित के रूप में काम करते हैं।

"राजा लोग उन्हें बड़े-बड़े शास्त्रार्थ सम्मेलनों के लिए सार्वजनिक रूप से भी बुलाते हैं जिसमें नए वर्ष के आरम्भ में सभी दार्शनिक एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और यदि किसी दार्शनिक ने कोई उपयोगी बात लिखी होती है या फसल में तथा पशुओं की नस्ल में सुधार करने का या सार्वजनिक हित का कोई उपाय मालूम किया होता है, तो वह सबके सामने उसकी घोषणा करता है।"

डियोडोरस ने मेगास्थनीज की रचनाओं का जो बृहद् संग्रह तैयार किया है, उसमें उसने इस बात को कुछ भिन्न रूप में अंकित किया है।

वह कहता है, (पुरोहित के रूप में) "अपनी सेवाओं के बदले उन्हें बहुमूल्य उपहार तथा विशेषाधिकार मिलते हैं।

"ये लोग सभी भारतवासियों का बहुत हित करते हैं क्योंकि जब वे नववर्ष के आरंभ में एक स्थान पर एकत्रित होते हैं तो वे एकत्रित जन-समुदाय को पहले से अनावृष्टि तथा वर्षा की हानिकारक हवाओं तथा रोगों की सूचना देते हैं और श्रोताओं को ऐसी बातें भी बतलाते हैं जिनसे वे लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार राजा तथा प्रजा पहले से ही भविष्य का ज्ञान प्राप्त करते और पहले

से ही भावी विपत्ति का सामना करने के लिए उचित व्यवस्था कर लेते हैं और हमेशा पहले से ही आवश्यकता पड़ने पर काम आने वाली चीजों का प्रबंध करके रखते हैं।

इसी विषय पर अरियन ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं "सोफिस्टों की संख्या उतनी नहीं है जितनी अन्य दार्शनिकों की। पर उन्हें आदर तथा सम्मान का सर्वोच्च पद प्राप्त है क्योंकि उन्हें किसी भी प्रकार का कोई शारीरिक श्रम करने या अपने श्रम के फल में से सामूहिक निधि में कोई योगदान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती न ही किसी कर्तव्य का पालन करने पर वे सर्वथा बाध्य होते हैं। उनका केवल एक कर्तव्य होता है—राज्य की ओर से देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ कराना।

'सरमेन' (श्रमण) अब हम दार्शनिकों की उस दूसरी श्रेणी पर विचार करेंगे जिन्हें मेगस्थनीज ने सरमेन कहा है। स्ट्राबो ने लिखा है 'जहाँ तक 'सरमेनों' का सवाल है उनमें से जो सब से अधिक सम्मान के पात्र होते हैं, वे 'हायलोबियोई' अर्थात् 'वन में रहने वाले' (वानप्रस्थ अथवा वानर्षिकाः) कहलाते हैं। वे पेड़ों की पत्तियाँ तथा जंगली फल खाकर वन में जीवन व्यतीत करते हैं और पेड़ों की छाल के वस्त्र पहनते हैं। वे संभोग तथा मदिरापान से दूर रहते हैं।" क्लीमेंस के कथनानुसार, 'वे न तो नगरों में रहते हैं, न रहने के लिए घर ही बनाते हैं। वे वृक्षों की छाल के वस्त्र पहनते हैं और कन्दमूल आदि खाते हैं। वे न विवाह करते हैं न संतान उत्पन्न करते हैं।" यह विवरण उन ब्रह्मचारियों के विवरण से मेल खाता है जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और नैष्ठिक-ब्रह्मचारी कहलाते थे।

यूनानियों ने जिस 'सरमेन' शब्द का प्रयोग किया है, वह संस्कृत के श्रमण शब्द का पर्याय है उस समय प्रत्येक सन्यासी को चाहे वह बौद्ध हो या अ-बौद्ध श्रमण कहते थे यद्यपि अशोक के शासनकाल में यह शब्द केवल बौद्ध भिक्षुओं के लिए उपयुक्त होने लगा था।

जैसा कि वेंकाम ने लिखा है, कुछ लोगों ने यह विचार प्रकट किया है, कि मेगस्थनीज द्वारा सरमेन का उल्लेख पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं में बौद्धों का सर्वप्रथम उल्लेख है। परन्तु इस विवरण में कोई ऐसी बात नहीं मिलती जो केवल बौद्धों पर चरितार्थ होती हो और बौद्धेतर सम्प्रदायों के लिए भी भारतीय साहित्य में श्रमण शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव जिन लोगों के बारे में मेगास्थनीज ने इस शब्द का प्रयोग होते सुना था यदि वे बौद्ध थे

तो हम यही कह सकते हैं कि उसे उन लोगों के बारे में अपनी कम जानकारी थी कि वह उनका वर्णन केवल ऐसी विशेषताओं के आधार पर कर पाया जो विभिन्न प्रकार के हिन्दू साधुओं में समान रूप से पाई जाती थीं। उसका वर्णन बौद्ध सन्यासियों की अपेक्षा ब्राह्मण सन्यासियों पर अधिक चरितार्थ होता है" [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I,४२०]।

इन श्रमणों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे जीवन के तीसरे तथा चौथे आश्रम के ब्राह्मण थे जिन्हें परिव्राजक तथा सन्यासी कहा जाता था।

गौतम ने अपने धर्म-सूत्र में तीसरे आश्रम में जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति को भिक्षु कहा है और उन्होंने उसकी विशेषताएं ये बताई हैं (१) अकिंचन, जिसके पास किसी भी वस्तु का कोई भंडार न हो और (२) ऊर्ध्वरेता, जो काम-वासना से सर्वथा मुक्त हो (जैसा कि मेगास्थनीज ने भी कहा है)। चौथे आश्रम में जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति को उन्होंने वैखानस कहा है जिसे (जैसा कि मेगास्थनीज ने भी कहा है) जंगल में (वनों) रहना चाहिए, कंदमूल तथा फल खाने चाहिए और वल्कल वृक्षों की छाल अथवा पशुओं की खाल के वस्त्र धारण करने चाहिये (चीराजिन) [III तथा X]।

बौधायन तथा आपस्तम्ब ने चौथे आश्रम में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है और सन्यासी शब्द का भी।

उनके व्यवसाय : यूनानी लेखकों ने इन श्रमणों के कार्य-कलाप का भी वर्णन किया है।

"जो राजा उन से विभिन्न घटनाओं के कारणों के विषय में अपने संदेश वाहकों द्वारा उनका परामर्श मांगते हैं उन्हें वे अपने विचारों से अवगत कराते हैं उन्हीं के द्वारा राजा देवताओं की आराधना तथा उपासना करते हैं।

"उनमें से कुछ चिकित्सक भी होते हैं, जो मानव-प्रकृति का अध्ययन करते हैं। वे औषधियों का प्रयोग न करके आहार के नियमन द्वारा रोग को दूर करते हैं। औषधियों में भी वे पी जानेवाली औषधियों की अपेक्षा बाहर लगाई जाने वाली औषधियों को अधिक महत्व देते हैं। सबसे अधिक महत्व मलहम तथा लेप को दिया जाता है। अन्य सभी औषधियों को वे प्रकृत्या हानिकर मानते हैं।

"ब्राह्मणों की तरह ही वे भी कठिन तपस्या द्वारा सहनशीलता प्राप्त करते हैं इस उद्देश्य से वे सक्रिय परिश्रम भी करते हैं और पीड़ा भी सहन करते हैं, वे दिन भर एक ही आसन से निश्चल बैठे रहते हैं।

जैसा कि एर्कास्टन ने बताया है "इन चिकित्सकों की जीवनचर्या चौथे आश्रम (संन्यास) का जीवन व्यतीत करनेवाले ब्राह्मणों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

और मैक्क्रिंडिल ने भी ठीक ही कहा है कि 'सचमुच बहुत ही दिलचस्प बात है कि यद्यपि बौद्ध धर्म का अस्तित्व सिकंदर के आक्रमण से दो शताब्दी पहले से था पर यूनानी लेखकों ने कभी उस अलग एक धर्म के रूप में नहीं देखा। इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि इस धर्म के अनुयायियों का रंग रूप तथा उनका आचार-व्यवहार दूसरों से इतना अलग नहीं था कि कोई विदेशी उन्हें आम लोगों से अलग पहचान सकता।

स्ट्राबो ने उनकी जीवनचर्या के विषय में यह भी लिखा है कि 'वे खुले स्थानों में नहीं रहते, वे चावल तथा ऐसे भोजन पर निर्भर रहते हैं, जो उन्हें भिक्षा में आसानी से मिल जाए, या फिर जिनके घरों में वे अतिथि होते हैं वे जो कुछ खिला दें वही वे खा लेते हैं।

उनके बारे में यह भी कहा गया है कि वे 'भेषजशास्त्र का ज्ञान' भी प्राप्त करते हैं।

इनमें से कुछ श्रमणों के बारे में यह भी कहा गया है कि वे "भविष्य बिचारते हैं, झाड़-फूंक करते हैं और मृतात्माओं से सबंधित संस्कार सम्पन्न कराने में निपुण होते हैं। वे गांवों तथा नगरों में दोनों ही जगह घूम-फिरकर भिक्षा मांगते हैं।

इनमें से कुछ "अधिक सुसंस्कृत तथा परिमार्जित होते हैं और लोगों में ऐसे अंध-विश्वासों का प्रचार करते हैं जिन्हें वे जीवन की शुचिता तथा पवित्रता के लिए हितकर समझते हैं।

दार्शनिक स्त्रियां : "इनमें से कुछ के साथ स्त्रियां भी दार्शनिकों का जीवन व्यतीत करती हैं पर वे संभोग नहीं करतीं। इस प्रसंग में हम औपनिषदिक ऋषि याज्ञवल्क्य का उल्लेख कर सकते हैं जिनकी पत्नी मैत्रेयी अपना घर-बार छोड़कर अपने पति के साथ सर्वोच्च दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वन में चली गई थी।

'प्रामनाई' (Pramnai) अर्थात् प्रामाणिक स्ट्राबो ने दार्शनिकों की एक तीसरी श्रेणी का भी उल्लेख किया है जिन्हें उसने प्रामनाई कहा है। "वे ऐसे दार्शनिक होते हैं जो 'ब्रैक्मेन' के विरोधी होते हैं और जिन्हें शास्त्रार्थ से प्रेम होता है तथा जो शास्त्रार्थ की अपनी क्षमता पर गर्व भी करते हैं। वे शरीर-क्रिया तथा ज्योतिष का अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणों को मूर्ख तथा पाखंडी

बता कर उनका उपहास करते हैं। इनमें से कुछ पर्वतीय 'ग्रामनाई' कहलाते हैं। कुछ 'जिमनटाई' कहलाते हैं और कुछ नगर के 'ग्रामनाई' अथवा गाँव के 'ग्राम नाई' कहलाते हैं।

"जो पर्वतीय होते हैं वे मृगछाला धारण करते हैं और जड़ी-बूटियों के थैले लेकर चलते हैं और जन्त्र-मन्त्र झाड़-फूक तथा गंडे-ताबीज द्वारा रोगों को अच्छा करने का दावा करते हैं।

"जैसा कि उनके नाम से ही विदित है 'जिमनेटाई' नंगे रहते हैं और साधारणतया वे खुले आकाश के नीचे सतीस वर्ष तक तपस्या करते हैं जैसा कि मैं पहले भी बता चुका हूँ।

"उनके साथ स्त्रियाँ भी रहती हैं पर वे सम्भोग नहीं करती।

"नगरों के 'ग्रामनाई' उपनगरों में रहते हैं और मलमल के वस्त्र पहनते हैं गाँवों के 'ग्रामनाई' मृगछाला अथवा कौपीन पहनते हैं।

सोफिस्ट अरियन सभी दार्शनिकों को सोफिस्ट कहता है [इंडिका, XI XII]। उनके बारे में उसने निम्नलिखित बातें लिखी हैं

"उनके मतानुसार भारतवासियों में भविष्य बताने का ज्ञान सीमित लोगों के पास है और सोफिस्टों के अतिरिक्त और किसी को इस कला का अभ्यास करने का अधिकार नहीं है। पर वे अलग-अलग व्यक्तियों का भविष्य नहीं विचारते।

"ये संत नग्न रहते हैं शीतकाल में धूप का आनन्द लेने के लिए खुले आकाश के नीचे रहते हैं और गर्मियों में जब सूर्य का ताप बहुत बढ़ जाता है तब वे घास के हरे भरे मैदानों तथा बड़े-बड़े वृक्षों की छाया में नीची भूमि पर रहते हैं।

"वे विभिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फल तथा वृक्षों की छाल खाते हैं—वृक्षों की यह छाल खजूर से कम मीठी या पौष्टिक नहीं होती।"

अरियन ने इस अनोखी बात का भी उल्लेख किया है (XII) कि 'सोफिस्ट किसी भी वर्ण के हो सकते थे क्योंकि सोफिस्ट का जीवन सरल नहीं होता था बल्कि सबसे कठिन होता था।" इससे यह पता चलता है कि किसी भी वर्ण का आदमी संन्यासी का जीवन अंगीकार कर सकता था। संसार का तथा समस्त सामाजिक बंधनों का परित्याग करके संन्यासी वर्ण के नियमों के क्षेत्र से बाहर हो जाता था। इसे हिंदू धर्म की उदारता का भी पता चलता है, जिसके अंतर्गत आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में वर्ण का कोई भेदभाव नहीं रखा जाता।

बौद्ध मत में हम निम्नलिखित वक्तव्य के लिए सिकंदरिया के क्लीमेंस के आभारी हैं

'भारतवासियों में ऐसे दार्शनिक भी हैं, जो बौत्ता (Boutta) के सिद्धांतों को मानते हैं और वे उनकी असाधारण शुचिता के कारण देवता के रूप में उनका सम्मान करते हैं।" जैसा कि कोलब्रुक ने बताया है यहाँ पर बुद्ध के अनुयायियों और ब्राह्मण तथा सरमेन के बीच स्पष्ट रूप से अंतर किया गया है" (मैकक्रिंडल द्वारा उद्धृत)।

भारत के उन सर्वोच्च बौद्धिक तथा सुसंस्कृत वर्गों के ये विभिन्न विवरण जिन्हें यूनानियों ने दार्शनिक सोफिस्ट ब्रैकमेन श्रामनाई, जिमनेटाई और बौत्ता (बुद्ध) के अनुयायी आदि विभिन्न नाम दे रक्खे थे ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर बौद्ध, जैन आदि संन्यासियों के विभिन्न वर्गों के विवरण माने जा सकते हैं।

बौद्ध-पूर्व सन्यासी ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी से बल्कि कहना चाहिए ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी में जैन-मत तथा बौद्ध-मत का उदय होने के समय से भारत सन्यासियों की विभिन्न विचारधाराओं तथा सम्प्रदायों के कारण उल्लेखनीय रहा है। इनके पूर्वज वैदिक काल के घूमने-फिरने वाले सन्यासी थे जो चरक कहलाते थे। उनके बाद परिव्राजक हुए और फिर बौद्धों से पहले के आजीविक (जो नंगे रहते थे) निर्ग्रंथ (जो बहुत थोड़े वस्त्र धारण करते थे) तथा जटिलक आदि सम्प्रदाय हुए। ग्रामजाल सुत्त दि सुत्त (बुद्ध-प्रवचन) में [II १६५] इन विभिन्न सम्प्रदायों के सन्यासियों को समण-ब्राह्मण 'धार्मिक जीवन के नेता' (वत्तिनो) कहा गया है अशोक के शिलालेखों में समण-ब्राह्मण का प्रयोग बार-बार किया गया है। अंगुत्तर निकाय में [\ I १५] परिव्राजकों के दो वर्गों का उल्लेख है, जिन्हें (१) ब्राह्मण और (२) अञ्ञतित्थिय अर्थात् अन्य बौद्धेतर सन्यासी कहा गया है। ब्राह्मण परिव्राजकों को वावदूक, (सत्त निपात १/२) वितण्ड तथा लोकायत कहा गया है (चुल्लवग्ग V १ २)। प्रवास (पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा सम्पादित संस्करण पृष्ठ ११६७) में बहुत अच्छे ढंग से इसे सार-रूप में इस प्रकार कहा गया है "संबहुला नानातित्थिया समण-ब्राह्मणा परिब्बाजका नाना-दिट्ठिका नाना विदिट्ठ-निस्सयनिस्सिता अर्थात् श्रमणों तथा ब्राह्मणों के अनेक सम्प्रदाय थे ये सभी परिव्राजक थे पर सब विभिन्न दृष्टियों दर्शनों शाखाओं और समष्टों के अनुयायी थे।"

प्रामाणिक : जिन दार्शनिकों को स्त्राबो ने 'मेगास्थनीज के अतिरिक्त

अन्य किसी स्रोत के आधार पर" प्रामनाई कहा है उनके बारे में बेवाल ने ठीक ही कहा है 'इसमें जिस मात्रा की ओर संकेत किया गया है य अवश्य ही प्रामाणिक है जो विभिन्न दर्शन-पद्धतियों के अनुयायी हैं जिनमें से प्रत्येक पद्धति का इस बात के बारे में अपना अलग मत है कि प्रमाण अर्थात् सही ज्ञान प्राप्त करने का साधन' क्या है ? ये सभी दार्शनिक बिना किसी अपवाद के कट्टर ब्राह्मण होते हैं, पर वे वैदिक संस्कारों में विश्वास रखनेवाले ब्राह्मणों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४२१]।

सामान्य चित्र रहन-सहन तथा वेश-भूषा सभी यूनानी वृत्तांतों को एक साथ मिलाकर देखने पर हमें यह पता चलता है कि ब्राह्मणों के बारे में यह बताया गया है कि वे (१) पहाड़ों पर, (२) जंगलों में (३) मैदानों में (४) नगरों में तथा (५) गाँवों में रहते थे। कुछ नंगे रहते थे और कुछ जो पर्वतों पर रहते थे मृगछाला पहनते थे। देहातों में रहनेवाले ब्राह्मण भी मृगछाला पहनते थे। नगरों में रहनेवाले ब्राह्मण बढ़िया मलमल के वस्त्र धारण करते थे सोने की अँगूठियाँ तथा कुंडल पहनते थे "अपने कंधों पर वे मृगछाला या दुपट्टे डालते थे दाढ़ी और जटाएं रखते थे जिन्हें वे बट लेते थे और ऊपर से पगड़ी बाँध लेते थे' [कैम्ब्रिज हिस्ट्री, I ४२२]। जो जंगलों में रहते थे वे वृक्षों की छाल के वस्त्र पहनते थे। छात्रावस्था में व घास-फूस की अथवा पशुओं की खाल की शय्या पर विश्राम करते थे और पशुओं की खाल के वस्त्र भी पहनते थे।

आहार : विद्यार्थी माँस नहीं खाते थे।

वनों में रहनेवाले संन्यासी पत्तियाँ तथा फल और वृक्षों की पौष्टिक छाल खाकर अपना पेट भरते थे।

गृहस्थ ब्राह्मण मांस खाते थे पर परिश्रम करनेवाले पशुओं जैसे गाय-भैंस आदि का मांस वे नहीं खाते थे। वे गरम तथा मसालेदार आहार से बचते थे। वे चावल तथा जौ का भोजन करते थे।

व्यवसाय : पौरोहित्य कुछ लोग भिक्षा माँगकर अपना भोजन जुटाते थे। वे वेतन लेकर किसी की सेवा नहीं करते थे।

वे पुरोहित का काम करते थे और इसके बदले में उन्हें उपहार मिलते थे। यही उनकी जीविका का स्रोत था।

ध्यान : उनका मुख्य काम ध्यान लगाना तथा चिंतन करना है, जो वे दिन भर एक ही आसन में निश्चल बैठे हुए करते रहते थे।

सिकन्दरिया के क्लीमेंस के लिए हम निम्नलिखित वक्तव्य

बौद्ध मत में हम निम्नलिखित वक्तव्य के लिए सिकन्दरिया के क्लीमेंस के आभारी हैं

"भारतवासियों में ऐसे दार्शनिक भी हैं, जो बौत्ता (Boutta) के सिद्धांतों को मानते हैं और वे उनकी असाधारण शुचिता के कारण देवता के रूप में उनका सम्मान करते हैं। जैसा कि कोलब्रुक ने बताया है "यहाँ पर बुद्ध के अनुयायियों और ब्रैकमेन तथा सरमेन के बीच स्पष्ट रूप से अंतर किया गया है" (मैकक्रिंडिल द्वारा उद्धृत)।

भारत के उन सर्वोच्च बौद्धिक तथा सुसंस्कृत वर्गों के ये विभिन्न विवरण जिन्हें यूनानियों ने दार्शनिक सोफिस्ट ब्रैकमेन ब्रामनाई, जिमनेटाई और बौत्ता (बुद्ध) के अनुयायी आदि विभिन्न नाम दे रखे थे ब्राह्मण तथा श्रमणों- तर बौद्ध जैन आदि संन्यासियों के विभिन्न वर्गों के विवरण माने जा सकते

बौद्ध-पूर्व संन्यासी ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी से बल्कि कहना चाहिए ईसा [पाँचवीं शताब्दी में जैन-मत तथा बौद्ध-मत का उदय होने के समय से भारत संन्यासियों की विभिन्न विचारधाराओं तथा सम्प्रदायों के कारण उल्लेखनीय रहा है। इनके पूर्वज वैदिक काल के घूमने-फिरने वाले संन्यासी थे जो बाद में माजीविक कहलाते थे। उनके बाद परिव्राजक हुए और फिर बौद्धों से पहले के आजीविक (जो नंगे रहते थे) निर्ग्रंथ (जो बहुत थोड़े वस्त्र धारण करते थे) तथा कतिलक आदि सम्प्रदाय हुए। डायलाग्स आफ दि बुद्ध (बुद्ध प्रवचन) में [II १६५] इन विभिन्न सम्प्रदायों के संन्यासियों को समण-ब्राह्मण 'धार्मिक जीवन के नेता' (पथिकों) कहा गया है अशोक के शिलालेखों में समण-ब्राह्मण का प्रयोग बार-बार किया गया है। अंगुत्तर निकाय में [\ I ३५] परिव्राजकों के दो वर्गों का उल्लेख है जिन्हें (१) ब्राह्मण और (२) अञ्ञतित्थिय अर्थात् अन्य बौद्धेतर संन्यासी कहा गया है। ब्राह्मण परिव्राजकों को वाचशील, (सुत्त निपात १८२) विनय तथा ओल्डनबर्ग कहा गया है (चुल्लवग्ग V ३ २)। उदान (पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा सम्पादित संस्करण पृष्ठ ६६ ६७) में बहुत अच्छे ढंग से इस सार-रूप में इस प्रकार कहा गया है "सम्बहुला नानातित्थिया समण-ब्राह्मणा परिब्बाजका नाना-दिट्ठिका नाना दिट्ठि-निस्सयनिस्सिता अर्थात् वे सभी परिव्राजक थे समणों तथा ब्राह्मणों के अनेक सम्प्रदाय के अनुयायी पर सब विभिन्न दृष्टियों दर्शनों धाराओं और संगठनों के अनुयायी थे।"

मामाणिक : जिन दार्शनिकों का स्ट्राबो ने "प्रमाणनीय के अतिरिक्त

अन्य किसी स्रोत के आधार पर' प्रामाणिक कहा है उसके बारे में मेगास्थनीज ने ठीक ही कहा है, 'इसमें जिस भाषा की ओर संकेत किया गया है वे अवश्य ही प्रामाणिक हैं, जो विभिन्न दर्शन-पद्धतियों के अनुयायी हैं जिनमें से प्रत्येक पद्धति का इस बात के बारे में अपना अलग मत है कि प्रमाण अर्थात् सही ज्ञान प्राप्त करने का साधन' क्या है? ये सभी दार्शनिक बिना किसी अपवाद के कट्टर ब्राह्मण होते हैं पर वे वैदिक संस्कारों में विश्वास रखनेवाले ब्राह्मणों का तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४२१]।

सामान्य चित्र रहन-सहन तथा वेश-भूषा सभी यूनानी वृत्तान्तों को एक साथ मिलाकर देखने पर हमें यह पता चलता है कि ब्राह्मणों के बारे में यह बताया गया है कि वे (१) पहाड़ों पर, (२) जंगलों में (३) मैदानों में (४) नगरों में तथा (५) गाँवों में रहते थे। कुछ नंगे रहते थे और कुछ जो पर्वतों पर रहते थे मृगछाला पहनते थे। देहातों में रहनेवाले ब्राह्मण भी मृगछाला पहनते थे। नगरों में रहनेवाले ब्राह्मण बढ़िया मलमल के वस्त्र धारण करते थे सोने की अँगूठियाँ तथा कुण्डल पहनते थे "अपने केशों पर वे मुण्डासा या दुपट्टे डालते थे दाढ़ी और जटाएं रखते थे जिन्हें वे बट लेते थे और ऊपर से पगड़ी बाँध लेते थे" [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४२२]। जो जंगलों में रहते थे वे वृक्षों की छाल के वस्त्र पहनते थे। बाल्यावस्था में वे घास-फूस की अथवा चमड़ों की खाल की शय्या पर विश्राम करते थे और चमड़ों की खाल के वस्त्र भी पहनते थे।

आहार विद्यार्थी मांस नहीं खाते थे।

वनों में रहनेवाले संन्यासी पत्तियाँ तथा कन्द और वृक्षों की पौष्टिक छाल खाकर अपना पेट भरते थे।

गृहस्थ ब्राह्मण मांस खाते थे पर परिश्रम करनेवाले पशुओं जैसे गाय भैंस आदि का मांस वे नहीं खाते थे। वे गरम तथा मसालेदार आहार से बचते थे। वे चावल तथा जौ का भोजन करते थे।

व्यवसाय पौरोहित्य कुछ लोग भिक्षा माँगकर अपना भोजन जुटाते थे। वे वेतन लेकर किसी की सेवा नहीं करते थे।

वे पुरोहित का काम करते थे और इसके बदले में उन्हें उपहार मिलते थे। यही उनकी जीविका का स्रोत था।

ध्यान उनका मुख्य काम ध्यान लगाना तथा चिंतन करना है, जो वे दिन भर एक ही आसन में निश्चल बैठे हुए करते रहते थे।

भविष्य-कथन : वे भविष्य ज्ञान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते थे और मौसम, अनावृष्टि तथा तूफान आदि के बारे में यहाँ तक कि महामारियों के बारे में भी पहले से जानकारी प्राप्त करने के लिए राज्य उनकी इस शक्ति का उपयोग करता था।

पर वे किसी व्यक्ति का निजी भविष्य नहीं विचारते थे।

राजा उनसे सलाह लेते थे।

दार्शनिक सम्मेलन : राजा प्रतिवर्ष दार्शनिकों के सम्मेलनों का आयोजन करते थे इन सम्मेलनों में वे धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में अपने अन्वेषणों की घोषणा करते थे। यूनानियों का कहना है कि वे कृषि तथा पशुपालन के बारे में अपने सुझाव देते थे और राजनीति तथा देश की अन्य सभी समस्याओं पर सलाह देते थे। उपनिषदों में विद्वानों के इस प्रकार के सम्मेलनों का उल्लेख मिलता है इन्हीं सम्मेलनों के फलस्वरूप स्वयं उपनिषदों की उत्पत्ति हुई थी। इनमें सबसे प्रख्यात सम्मेलन वह था जिसका आयोजन विदेह के राजा जनक ने किया था जिसमें भाग लेने वालों में सबसे प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य थे।

चिकित्सा-व्यवसाय : अन्त में यूनानियों ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि इनमें से कुछ सन्यासी चिकित्सा-विज्ञान के विशेषज्ञ होते थे और रोगियों की चिकित्सा भी करते थे पर वे रोग को दूर करने के लिए औषधि न देकर आहार को नियमित करने का ही उपाय बताते थे। उन्होंने बहुमूल्य मरहमों तथा लेपों का आविष्कार किया था। वे मन्त्र-तन्त्र तथा गंडे-ताबीज द्वारा भी रोगी की चिकित्सा करते थे। वे शारीरिक भैषज शास्त्र तथा गर्भ-विज्ञान के विशेषज्ञ होते थे।

वे शराब तथा नारी से दूर रहते थे।

सन्यासिनियाँ : हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि "ब्राह्मण अपनी पत्नियों को अपने दर्शन के रहस्यों से परिचित नहीं कराते क्योंकि यदि पत्नी उच्छृंखल स्वभाव की हुई, तो इस बात का भय रहता था कि वह नीचों से रहस्य नीच लोगों को न बता दे और यदि वह सच्चरित्र हुई तो वह अपने पति को छोड़कर चली जा सकती थी क्योंकि जिस किसी ने भी सुख-तथा दुःख जीवन तथा मृत्यु को तिरस्कार की दृष्टि से देखना सीख लिया हो वह कभी भी दूसरे के नियन्त्रण में रहना पसन्द नहीं करेगा।"

परंतु यह बात गृहस्थों के जीवन पर लागू होती है। क्योंकि हमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि "कुछ श्रमण (जो जंगलों में रहते थे) स्त्रियों को

भी अपने दार्शनिक जीवन में भाग लेने की अनुमति दे देते थे पर उन्हें पुरुषों की तरह संभोग का परित्याग करना पड़ता था जैसा कि हम पहले बता चुके हैं।

ब्राह्मणों की आध्यात्मिकता मैगास्थनीज के इस कथन में एक वर्ग के रूप में ब्राह्मणों की विशिष्टता का चित्र मिलता है 'ब्राह्मण जिन विषयों पर बात करते हैं उनमें सबसे मुख्य मृत्यु का विषय है क्योंकि उनका मत है कि वर्तमान जीवन उस काल के समान है जो मनुष्य अपनी माँ के गर्भ में व्यतीत करता है और जो लोग दर्शन को भली भाँति समझ लेते हैं उनके लिए मृत्यु एक वास्तविक तथा सुखी जीवन में जन्म लेने के समान होती है। इस कारण वे अपने आपको मृत्यु के लिए तैयार करने के लिए कठोर संयम का पालन करते हैं।

यह ब्राह्मण-जीवन-पद्धति तथा आदर्शों का बहुत उचित मूल्यांकन है। इसमें जिस 'कठोर संयम' का उल्लेख किया गया है वह उस संयम की ओर संकेत है जिसका पालन मनुष्य अपने जीवन के चारों आश्रमों में करता है जो प्रत्यक्ष रूप से मृत्यु की तैयारी ही होते हैं।

यूनानियों द्वारा देखे गये संन्यासी सिकंदर के आक्रमण के समय यूनानियों ने पहली बार तक्षशिला में भारतीय संन्यासी देखे। चूँकि वे स्वयं सिकंदर के पास आने के इच्छुक नहीं थे इसलिए सिकंदर ने ओनेसिक्रिटस को उनके पास भेजा जिसने बताया है, कि उसने नगर से लगभग १० मील दूर १५ संन्यासी देखे जो धूप में नंगे बैठे हुए ध्यानमग्न थे। जब उनसे कहा गया कि यवन राजा उनका ज्ञान सीखना चाहता है तो उनमें से एक ने साफ़-साफ़ उत्तर दिया कि "योरपीय वेष भूषा में अपनी वीरता का प्रदर्शन करनेवाला—घुड़सवारों वाला लबादा चौड़ी कमर का टोप और लम्बे जूते जो मकदूनिया-निवासी पहनते थे—पहने हुए कोई व्यक्ति उनका ज्ञान नहीं सीख सकता। यह ज्ञान सीखने के लिए उसे बिल्कुल नग्न होकर उनके पास तपते हुए पत्थरों पर बैठने का अभ्यास करना होगा' [कैंम्ब्रिज हिस्ट्री I ३५८]।

अरिस्टोबुलस ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि उसने तक्षशिला में इस प्रकार के दो संन्यासी देखे एक का सिर घटा हुआ था और दूसरे के सिर पर जटाएँ थीं दोनों के साथ उनकी शिष्यों की मंडली भी थी। जब वे बाजार में जाते थे तो लोग उनसे परामर्श करने के लिए उन्हें घेर लेते थे [कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४२]।

इन संन्यासियों के गुरु को यूनानी डंडेमिस (अथवा मैंडेनिस) कहते थे जो

एक अविम ब्राह्मणवादी था जिसने मृत्युदंड का भय दिखाए जाने पर भी सिकंदर से मिलना स्वीकार नहीं किया और इन उदात्त शब्दों में अपना उत्तर भिजवा दिया "मैं केवल भगवान के प्रति श्रद्धा रखता हूँ। सिकंदर भगवान नहीं है। क्योंकि वह मृत्यु का भागी है। मैं उससे न डरता हूँ और न ही उससे मुझे कुछ पाने की इच्छा है। सिकंदर जो कुछ दे सकता है वह सर्वथा व्यर्थ है। मैं जिन चीजों को मूल्यवान समझता हूँ वे ये पत्तियाँ हैं जो मेरा आश्रय है ये फूलों से लदे हुए पौधे हैं जो मुझे स्वादिष्ट भोजन प्रदान करते हैं। चूंकि मेरे पास ऐसा कुछ नहीं है जिसकी मैं रक्षा करूँ इसलिए मैं निश्चिंत होकर सोता हूँ जबकि यदि मेरे पास सोना होता जिसकी मुझे रक्षा करनी पड़ती तो मेरी नींद उड़ जाती। ब्राह्मण न सोने से प्रेम करते हैं और नहीं वे मृत्यु से डरते हैं। मृत्यु का अर्थ केवल यही है कि मनुष्य अपने बेमेल साथी से अर्थात् अपने शरीर के बंधन से मुक्त हो जाता है।"

ये शब्द वास्तव में जीवन के उस दर्शन का प्रतिबिम्बित करते हैं जिसका पालन आज तक सभी युगों में भारत के सन्यासियों ने किया है वे मनुष्य के धार्मिक जीवन तथा आध्यात्मिकता की आधारशिला के रूप में चित्तवृत्तिनिरोध में अर्थात् 'पदार्थ के वस्तु जगत से मस्तिष्क को अलग कर लेने में विश्वास करते आए हैं।

क्षत्रिय : मेगास्थनीज ने भारतवासियों को सात श्रेणियों में विभाजित किया है। इनमें पाँचवाँ स्थान क्षत्रियों का है। एरियन के शब्दों में "यह योद्धाओं का वर्ग है जिनका संख्या की दृष्टि से कृषकों के बाद दूसरा स्थान है, पर जो पूर्ण स्वतंत्रता तथा आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें केवल सैनिक कार्य करने पड़ते हैं। उनके हथियार दूसरे लोग बनाते हैं, उन्हें घोड़े भी दूसरे लोगों से मिल जाते हैं सेना के शिविर में उनकी सेवा करने के लिए भी दूसरे लोग होते हैं जो उनके घोड़ों की देखभाल करते हैं, उनके हथियार साफ करते हैं, उनके हाथी चलाते हैं, उनके रथ तैयार करते हैं और उनके रथों पर सारथी का काम करते हैं। जब तक आवश्यकता होती है, वे युद्ध करते हैं और जब शांति स्थापित हो जाती है वे भोग-विलास में लिप्त हो जाते हैं। उन्हें राज्य की ओर से जो वेतन मिलता है वह इतना काफी होता है कि उसमें वे बड़ी आसानी से अपने अतिरिक्त दूसरों का भी भरण-पोषण कर सकते हैं।"

वैश्य तथा शूद्र : मेगास्थनीज की सूची में दूसरे तीसरे तथा चौथे वर्ग वाले वैश्य और शूद्र हैं। "दूसरा वर्ग कृषकों का है जनसंख्या का अधिकांश भाग इसी वर्ग के लोगों

का है और स्वभाव में ये लोग सबसे मृदु तथा सुशील होते हैं। ये सैनिक सेवा के दायित्व से मुक्त होते हैं और निर्विघ्न होकर खेती करते हैं। ये शहरों में कभी नहीं जाते न वहाँ की चहल-पहल में भाग लेने के लिए और न किसी अन्य काम से बल्कि अपने बाल-बच्चों सहित गाँवों में ही रहते हैं। भूमि जोतनेवाले इन लोगों के काम हैं हल चलाना अनाज उगाना पेड़ों की देखभाल करना या फसल काटना।

इसके बाद "वे व्यापारी होते हैं जो चीजें बेचते हैं और वे शिल्पकार जो शारीरिक श्रम करते हैं। इनमें से कुछ युद्ध के हथियार बनाते हैं। कुछ जहाज बनाते हैं और कुछ नदियों में नावें चलाने के लिए मल्लाहों के रूप में नौकर रखे जाते हैं। उन्हें राजा की ओर से मजदूरी तथा खाने-पीने की सामग्री मिलती है और वे केवल राजा के लिए ही काम करते हैं। वे कृषकों तथा अन्य व्यवसायों के लोगों के लिए उपयोगी औजार भी बनाते हैं।

फिर आते हैं "शिकारी तथा चरवाहे जो न शहरों में बसते हैं न गाँवों में बल्कि तम्बुओं में रहते हैं और यायावरी जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। केवल इन्हीं को शिकार करने और पशु पालने तथा भारवाहक पशु बेचने या किराए पर उन्हें दूसरों को देने की अनुमति होती है। शिकार करके और पशुओं को पकड़कर ये गाँवों को जंगली पशुओं तथा पक्षियों तथा उन हानिकारक जीव जन्तुओं से मुक्त कर देते हैं जो वहाँ बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं वे गाँवों को उन जंगली पशु-पक्षियों से मुक्त कर देते हैं, जो कृषकों द्वारा खेतों में बोये गए बीज खा जाते हैं। इन सेवाओं के बदले उन्हें राजा की ओर से अन्न के रूप में पारिश्रमिक मिलता है।

व्यवसाय मेगास्थनीज ने अपनी सूची में छठें तथा सातवें स्थान पर जिन वर्गों का उल्लेख किया है वे वास्तव में वर्ग हैं नहीं। उस ने वर्ग और शिल्प अथवा व्यवसाय को एक में मिला दिया है। इन दो वर्गों में वास्तव में विभिन्न श्रेणियों के राज-कर्मचारी आते हैं।

सूचना देनेवाले : छठी कोटि में वे लोग आते हैं, जिन्हें 'ओवरसियर' अर्थात् सूचना देने वाला कहा गया है जिनके कामों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

परामर्शदाता सातवीं कोटि में वे लोग आते हैं, जिन्हें परामर्शदाता तथा असेसर कहा गया है जो "सार्वजनिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं और शासन के सर्वोच्च पदाधिकारी—न्यायाधीश राजा के मंत्री सेनापति मुख्य कोषाधीश—इसी वर्ग के लोग होते हैं।

एरियन के कथनानुसार "इस सातवीं कोटि में राज्य के मंत्रिगण आते हैं जो राजा को या स्वशासित नगरों को सार्वजनिक समस्याओं का हल करने के बारे में परामर्श देते हैं और राष्ट्र-मुख्यों प्रान्तपालों उप-राष्ट्रमुख्यों राजकोष के अध्यक्षों सेना के नेतानायकों नौ-सेना के सेनापतियों कृषि की देखभाल करने वाले नियन्त्रकों तथा आयुक्तों को चुनने का अधिकार उन्हीं का होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मेगास्थनीज ने जिन लोगों की गणना चरवाहों तथा शिकारियों में की है उनका उल्लेख अर्थशास्त्र में गोपालकों लुब्धकों तथा मायाविकों और कृषि पशुओं तथा चरागाहों के अध्यक्षों के अधीन काम करनेवाले अन्य कर्मचारियों के रूप में किया गया है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

'हथियार बनानेवालों' के बारे में यह कहा गया है कि वे आयुधागाराध्यक्ष के विभाग में काम करते थे और 'जहाज' बनानेवालों को नावध्यक्ष के अधीन बताया गया है।

अन्य शिल्पकारों का उल्लेख कौटिल्य ने विभिन्न विभागों के अन्तर्गत किया है।

हम यह बात पहले ही बता चुके हैं, कि मेगास्थनीज ने जिन पदाधिकारियों को ओवरसीयर तथा परामर्शदाता कहा है, उनका उल्लेख कौटिल्य ने युक्त-उपयुक्तों, अमात्यों तथा विभिन्न दूसरे अध्यक्षों के रूप में किया है।

वर्ण तथा व्यवसाय जहाँ पर मेगास्थनीज ने यह लिखा है कि "कोई सैनिक कृषक नहीं बन सकता था या कोई शिल्पकार दार्शनिक नहीं बन सकता था या यह कि 'किसी को अपने वर्ण से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं थी या कोई अपने व्यवसाय अथवा शिल्प के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यवसाय अथवा शिल्प नहीं अंगीकार कर सकता था" या "कोई अपना पेशा या व्यवसाय किसी दूसरे के पेशे या व्यवसाय से बदल नहीं सकता था" या (कोई एक से अधिक कारोबार नहीं कर सकता था वहाँ स्पष्टतः उसने वर्ण तथा व्यवसाय के अंतर को ध्यान में नहीं रखा है। कोई भी 'शिल्पकार' जो शूद्र वर्ण का होता था 'दार्शनिक' अथवा ब्राह्मण नहीं बन सकता था इसी प्रकार सैनिक या क्षत्रिय वर्ण के होने से कृषक नहीं बन सकते थे जो वैश्य होते थे। मेगास्थनीज ने आगे चलकर लिखा है [अंश XXXIII] "केवल दार्शनिक को इस मामले में छूट दे दी गई है जिसे अपने सद्गुणों के कारण यह विशेषाधिकार प्राप्त है।" यह संकेत हिन्दुओं के उस नियम की ओर है जिसके द्वारा ब्राह्मणों को इस बात की अनुमति है, कि वे आपद्-धर्म के रूप में अर्थात् संकट के समय मजबूर होकर

जीविकोपार्जन के लिए किसी निम्न वर्ग का व्यवसाय अंगीकार कर लें क्योंकि आपत्ति-काल में कोई नियम लागू नहीं होता ।

आचार-व्यवहार तथा रीति रिवाज — वेश भूषा — मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र में यह बात लखी कि वस्त्रों के मामले में भारतवासी आमतौर पर अपने जीवन की सरलता के बावजूद इस बात को पसंद करते थे कि उनके वस्त्र में नाना प्रकार के तथा चटकीले रंग हों । वे सोने तथा हीरे जवाहरात के आभूषणों तथा बेलबूटेदार मलमल का प्रयोग खूब करते थे और उनके पीछे सेवक छत्र लेकर चलते थे ।

नियार्कस ने सिंधु नदी के किनारे रहने वाले लोगों के वस्त्रों का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे चमकदार सूती वस्त्र धारण करते थे — 'एक पिंडली तक लम्बा कुर्ता तथा दो अन्य वस्त्र होते थे जिनमें से एक को वे कंधे पर डाल लेते थे और दूसरे को सिर पर बांध लेते थे । वे हाथी-दांत के कुंडल तथा चमड़े के सफ़ेद जूते पहनते थे जिन पर बेल-बूटे बने होते थे और जिनकी एड़ियां ऊंची होती थीं ताकि उन्हें पहननेवाले का कद कुछ अधिक लम्बा मालूम हो ।

खान-पान — यूनानियों को इस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ कि भारतवासियों के आहार में मदिरा का कोई स्थान न था । "उनका मुख्य आहार भात था । हर आदमी अकेले ही भोजन करता था । न तो सब लोग साथ बैठकर खाते थे न भोजन करने का कोई निश्चित समय ही था । रात्रि के भोजन के समय सोने की थाली में एक मेज पर भोजन परोस दिया जाता था — सबसे पहले उसमें भात रखा जाता था और ऊपर से मसालेदार मांस ।

विवाह — मेगास्थनीज के कथनानुसार भारतवासियों में कई पत्नियां रखने की प्रथा मौजूद थी । उसने इस बात का उल्लेख किया है कि पुरुष बैलों की एक जोड़ी के बदले में कन्या को खरीद सकता था । यह संकेत मनु द्वारा प्रतिष्ठित आर्ष विवाह की ओर है जिसमें कन्या के पिता को प्रथा के अनुसार (धर्मतः) बैलों अथवा गायों की एक जोड़ी (गोमिथुन) पाने का अधिकार था (मनुस्मृति III २९) । नियार्कस के अनुसार, कुछ भारतीय जातियों में यह प्रथा थी कि शारीरिक बल के प्रदर्शन की किसी प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करनेवाले को पुरस्कार के रूप में कन्या दी जाती थी । यह कदाचित् स्वयंवर की प्रथा की ओर संकेत है ।

सती — यूनानियों ने भारत में सती की प्रथा भी देखी थी । आनेसिक्रिटस

ने कठोई अथवा कठ जाति के लोगों में यह प्रथा देखी थी। डियोडोरस का कहना है कि कठ जाति के लोगों में यह प्रथा थी कि विधवा स्त्री को उसके मृत पति के साथ ही जला दिया जाता था (मैक्क्रिण्डल की इनवेजन आफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर, पृष्ठ २७९)। अरिस्टोबुलस ने वर्णन किया है कि ३१६ ई० पू० में एक भारतीय सेनानायक ईरान में यूमेनीस की सेना में लड़ने गया था और अपनी दो पत्नियों को साथ ले गया था। दुर्भाग्यवश वह रण में खेत रहा जिस पर उसकी दोनों पत्नियाँ सती होने के लिए आपस में लड़ने लगीं। चूंकि बड़ी पत्नी के गर्भ में बच्चा था इसलिए दूसरी पत्नी चिता पर चढ़ गई और अपने पति की बगल में लेट गई। जब अग्नि की ज्वालाओं ने उसे अपनी लपेट में ले लिया तब भी उसके होठों से दर्द की कोई आवाज नहीं निकली।

अंत्येष्टि-क्रिया: यूनानियों को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि अन्त्येष्टि क्रिया के समय भारतवासियों में कोई धूमधाम नहीं होती और न कोई भव्य स्मारक ही बनवाए जाते हैं। भारतवासियों का यह विचार था कि मृतात्मा के गुण गौरव से तथा शव-यात्रा के समय गाए जाने वाले गीतों की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी होते हैं (कैम्ब्रिज हिस्ट्री I ४१२ १६)।

दास-प्रथा: अरियन का यह कथन कि "सभी भारतवासी स्वतंत्र हैं, और उनमें से कोई भी दास नहीं है" मेगास्थनीज के मत पर आधारित है। वास्तव में भारत में व्याप्त तथाकथित दास-प्रथा उस दास प्रथा की तुलना में जिससे यूनानी परिचित थे इतनी क्षीण तथा सीमित थी कि मेगास्थनीज उसके अस्तित्व को देख ही न सका। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में यह आदेश भी दिया गया है कि किसी भी आर्य को दास नहीं बनाया जाना चाहिए। (III १३)

कौटिल्य ने शूद्र को भी जन्मना आर्य (आर्यप्राण) बताया है। कौटिल्य ने इस संभावना को स्वीकार किया है, कि कोई व्यक्ति विपत्ति-काल में अपने बाल बच्चों के भरण-पोषण के लिए अपने आप को दास के रूप में बेच सकता है (आत्मविक्रयिता) या युद्ध में बन्दी हो जाने के कारण दास हो सकता है। परंतु हिन्दू विधि-शास्त्र के अंतर्गत इस प्रकार के हर दास के लिए यह मार्ग सदैव खुला रहता था कि वह अपने स्वामी की सेवा से होनेवाली कमाई के अतिरिक्त और कहीं से कमाई करके अपनी स्वतंत्रता खरीद ले। इसके अतिरिक्त यह भी कानून था कि उसके सगे-संबंधी उसके स्वामी को धन देकर उसे दासता से मुक्त करा लें और उन्हें ऐसा करना चाहिए। दास को उत्तराधिकार में अपने पिता की सम्पत्ति मिल सकती थी। यदि किसी दास स्त्री के साथ उसका मालिक संभोग

के सम्बन्ध स्थापित कर के तो वह तथा उसके बच्चे अपने आप स्वतंत्र हो जाते थे (स्वामिन· स्वस्या दास्यां जात समातृक मदास विद्यात्) (III १३)।

यम अर्थशास्त्र में बताया गया है कि उस समय इन देवी-देवताओं की उपासना आम तौर पर होती थी (१) अपराजिता (दुर्गा) (२) अप्रतिहत (विष्णु) (३) जयत (सुब्रह्मण्य) (४) वैजयंत (इंद्र) (५) शिव (६) वैश्रवण (७) अश्विन (८) श्री (९) मदिरा (II ४) (१०) अन्विति (११) अनुमति (१२) सरस्वती, (१३) सविता (१४) अग्नि (१५) सोम (XIV १) (१६) कृष्ण और (१७) पौलामी (XIV ३)।

मंत्र तथा जादू-टोना आदि उस समय के प्रचलित धर्म के अंग थे। पुण्य मत्रों के उच्चारण अथवा जादू-टोने (औपनिषदकम्) द्वारा पाप की शक्तियों को दूर करने की चेष्टा की जाती थी ताकि ब्राह्मण धर्मी समाज विधर्मियों के आक्रमण से सुरक्षित रह सके (चातुर्वर्ण्यरक्षार्थम्)। ऐसे मंत्रों का भी उल्लेख मिलता है, जिनके उच्चारण से चमत्कार कर के (अद्भुतोत्पत्ति) शत्रु को आतंकित कर दिया जाता था। यह भी कहा गया है कि राजा को मत्रों औषधियों तथा जादू-टोने की सहायता से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और शत्रु की प्रजा को हानि पहुंचानी चाहिए।" इन मंत्रों द्वारा निम्न कोटि के देवी-देवताओं का आह्वान किया जाता था जैसे बलि-वैरोचन शम्बर, देवल नारद मन प्रमिला आदि (XIV १)।

ब्राह्मण यज्ञों पर आधारित वैदिक धर्म का पालन करते थे जिनके लिए दुर्गों के साथ वातावरण में विशेष यज्ञशालाओं का प्रबंध था (II १)। राज प्रासाद में यज्ञ के लिए अलग एक स्थान होता था (इज्यास्थानम्)। नाना प्रकार के सन्यासी देश-विदेश में घूमते थे जिन्हें सहृतापसप्रव्रजित कहते थे। तपस्वी तपोवनों में रहते थे (IV ४ II १)।

अवैदिक सम्प्रदायों में शाक्य तथा आजीविक सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है (III २)। उन्हें आश्रय देना वर्जित था।

इन बातों से यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य को बाद के शास्त्रोक्त देवी देवताओं तथा धार्मिक संस्कारों की अपेक्षा वैदिक धर्म यज्ञ देवी-देवताओं तथा अथर्व वैदिक कर्मों तथा जादू-टोनों का अधिक ज्ञान था।

अध्याय १२

आर्थिक परिस्थितियाँ

आर्थिक जीवन : राज्य द्वारा नियन्त्रण पिछले विवरण से स्पष्ट हो चुका होगा कि देश के आर्थिक जीवन का बहुत बड़ा भाग राज्य के नियंत्रण में था। राज्य द्वारा जितने श्रमिकों को काम दिया जाता था उतना अन्य किसी द्वारा नहीं। देश की कृषि, उद्योग तथा व्यापार पर राज्य का नियंत्रण था।

कृषि जैसा कि हम देख चुके हैं राजा की निजी जमीन के रूप में देश की कृषि का बहुत बड़ा भाग सीधे-सीधे राज्य के हाथों में था। यदि कर के रूप में उत्पादन का एक निश्चित अंश मिलता रहे तो खेती के काम में प्रत्यक्ष रूप से राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता था परन्तु देश में कृषि-उत्पादन को संगठित करना तथा उसे बढ़ाना राज्य का काम था। इसके लिए राज्य नई बस्तियाँ बसाने की योजनाएँ बनाता था। यदि कहीं आबादी बहुत घनी होती थी तो वहाँ के कुछ लोगों को नए तथा वीरान इलाकों में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। विदेशवासियों को देश में आकर बसने में भी राज्य सहायता देता था। (भूतपूर्वं अभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्)।

गाँव गाँव के जितने इलाके में घर (वास्तु) बने होते थे उसके अलावा प्रत्येक गाँव के कृषि-जीवन की पूरी व्यवस्था इन स्थानों में होती थी (१) केदार अर्थात् जिन खेतों में फसल बोयी जाती हो (२) पुष्प-वाट अर्थात्

फुलवाड़ियाँ (३) फल-बाग फलों के बाग (४) षण्ड अर्थात् केले तथा गन्ने आदि के खेत और (५) मूल-बाप, अर्थात् जड़ों जैसे मदरक हल्दी आदि के खेत (मर्द्रकहरिद्रादि)। इस प्रकार गाँव में अनाज फल-फूल सब्जियाँ मसाले ईख तथा केला सभी चीजों की खेती होती थी (II ६)।

गाँव का कुछ जितना लोकरूप सरकारी कागजों में दर्ज होता था उसमें से सीमा-रेखाओं (सीमावरोधेन) द्वारा घिरी हुई जगह को निकालने के बाद शेष भाग में ये चीजें होती थीं (१) खेती वाली (कृष्ट) भूमि (२) वह बंजर जमीन जिस पर खेती न होती हो (अकृष्ट) (३) ऊँची तथा नीची जमीन (स्थल) (४) केदार, (५) आराम (बगीचे उपवन), (६) षण्ड (कदल्यादि खेतम केला जैसे फलों के बाग) (७) वाट (इक्ष्वादिभूमिः, गन्ने के खेत) (८) वन (जहाँ से गाँव के लिए ईंधन तथा अन्य आवश्यक चीजें मिलती थीं, (९) वास्तु (जितनी भूमि पर घर बने होते थे) (१०) चैत्य (पवित्र वृक्ष), (११) देवगृह (मंदिर) (१२) सेतुबंध (तटबन्ध) (१३) श्मशान (१४) सत्र (भिक्षा-गृह) (१५) प्रपा (पीने के पानी का स्थान) (१६) पुण्यस्थान (१७) विवीत (गाँव के पशुओं के लिए चरने का स्थान) और (१८) पथि जितनी भूमि पर सड़कें बनी हों) (II ३५)।

तत्कालीन पालि ग्रंथों में भी ग्राम-नियोजन का वर्णन बहुत कुछ इसी ढंग पर किया गया है। सबसे पहले तो गाँव की खेती की जमीन होती थी जिसके बाद गाँव के मवेशियों के लिए (जातक कथाएँ, III १४९ IV ३२६) या बकरियों के लिए (III ४ १) चाहे वे राजा की हों (I २४) या प्रजा की (I १९४ १८८) एक पंचायती चरागाह (I १८८) होती थी। गाँव की तरफ से एक चरवाहा नियुक्त कर दिया जाता था जिसका काम होता था कि वह रात को सब जानवरों को या तो बाड़े में बंद कर दे या उन्हें गिन-गिनकर उनके मालिकों को वापस कर दे (I १८८ III १४९)। उसे गोपालक (V ३५०) कहते थे। पशुओं को रोज नई जगह पर चरने के लिए ले जाया जाता था (संयुत्तर निकाय I २)

चरागाहों के पार गाँव की सीमा के निकट बगीचे होते थे, जैसे राजगृह में वेलुवन साकेत में अञ्जनवन या श्रावस्ती में जेतवन।

फिर उसके बाद वे जंगल आते थे जिन्हें साफ नहीं किया गया था जिनसे गाँव वाले ईंधन तथा अपनी आवश्यकता की अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ प्राप्त कर सकते थे (जातक I ३१७ V १)। इस प्रकार के कुछ वनों के उदाहरण हैं कौशल का अंधवन मगध का सीतावन या शाक्य देश का प्राचीन वंसदाव जिनके बारे में यह कहा गया है कि उनमें वन्य पशु तथा चोर-डाकू रहते थे जो

उधर से आने-जानेवाले साथों (काफ़िलों) को लूट लेते थे (I १९) (मेरी पुस्तक हिन्दू सभ्यता पृष्ठ २९७-९८)।

आर्थिक दृष्टि से गाँवों को इन श्रेणियों में विभाजित किया गया है (१) परिहारक राजा की कृपादृष्टि के कारण दान के रूप में जिसका राजस्व माफ़ कर दिया गया हो (२) आयुधीय जो गाँव सैनिक सेवा के रूप में राजस्व देता हो (३) धान्य-प्रतिकर जो अन्न के रूप में भू राजस्व देता हो (४) पशु-प्रतिकर अर्थात् पशुओं के रूप में (जैसे दूध देनेवाली गायों बोझ ढोनेवाले बैलों या ऊन के लिए भेड़ों तथा बकरियों के रूप में) (५) हिरण्यप्रतिकर अर्थात् सोने चाँदी या ताँबे के रूप में (६) कुप्यप्रतिकर अर्थात् वन की पैदावार के रूप में और (७) विष्टि-प्रतिकर अर्थात् श्रम के रूप में राजस्व देने वाले गाँव (II ३५)।

गाँवों की फ़सलों में विभिन्न प्रकार के चावलों कोदो (कोद्रव) तिल मिर्च तथा केसर (प्रियागु) मूंग (मुद्ग) उड़द (माष) मसूर, कुलत्थ आदि दालों यव गेहूं (गोधूम) कलाय अलसी (अतसी) सरसों (सर्षप) शाक मूल आदि सब्जियों और केला मधु ककड़ी कूष्माण्ड खजूर (मृद्वीका) आदि फलों तथा गन्ने का उल्लेख किया गया है (II २४)।

सरकारी कृषि-क्षेत्र : ये आदर्श कृषि-क्षेत्र देश की कृषि में सुधार करने के लिए बहुत उपयोगी थे। विभिन्न प्रकार की फ़सलें बोने के लिए बीज यहीं तैयार किए जाते थे। सरकार के स्वयं अपने फूलों फलों तथा सब्जियों के बाग थे और कपास (कार्पास) तथा जूट (क्षौम) जैसी वाणिज्योपयोगी फसलों की खेती भी सरकार की तरफ से की जाती थी (II २४)

खेत-मजदूर भूमिहीन खेत-मजदूर (विष्टि) होते थे। इन्हें मुफ्त भोजन तथा थोड़ा-सा नकद वेतन भी मिलता था। ये घरेलू नौकरों के रूप में काम करते थे। साधारण मजदूर (कर्मकर) भी होते थे जो मजदूरी लेकर काम करते थे। कुछ लोग ऐसे भी होते थे जो अपने आपको दासों के रूप में बेच देते थे। अन्त में किसान आते थे अर्थात् वे किसान जिनके पास अपनी जमीन होती थी या राज्य की पैदावार का कुछ हिस्सा लगान के रूप में देकर खेती करते थे। राज्य इनसे अपने हिस्से या भू-राजस्व के रूप में पैदावार का छठा भाग ले लेता था।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उस समय के बौद्ध साहित्य में इस बात को आदर्श माना गया है कि जमींदार को स्वयं अपनी भूमि पर खेती करनी चाहिए और किसी भी दशा में उसमें अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहिए। बौद्ध साहित्य में खेत-मजदूरों अथवा मजदूरी करने वालों को समाज पर एक कलंक बताया गया है और उन्हें दासों से भी नीचा स्थान दिया गया है (दीघ निकाय

I ५१ अंगुत्तर निकाय I १४५,२०६ मिलिन्द पञ्ह १८७,३३१) जातक कथाओं में (उदाहरण के लिए I ३३९) में उसकी निंदा की गई है कि हृष्ट पुष्ट किसान अपने घरों पर अपने खलिहानों का स्वामी छोड़कर राज-परिवार से सम्बन्धित पूँजीपतियों की जागीरों पर मजदूरों के रूप में काम करें और भूमिहीन खेत-मजदूरों की संख्या में वृद्धि करें। इसे सामाजिक पतन का चिह्न माना गया है।

पशुधन गाँव के पशुधन में गायें भैंसें बकरियाँ भेड़ें गधे ऊँट सुअर तथा कुत्ते (XIV १ में सूनखा शब्द का प्रयोग किया गया है) (V २)। होते थे।

राज्य की ओर से पशुपालन-क्षेत्रों पशुप्रजनन क्षेत्रों तथा दुग्धशालाओं की व्यवस्था थी जिनमें आवश्यक कर्मचारी जैसे गोपालक (चरवाहा) पिण्डारक (भैंस चरानेवाला) दोहक (दूध दुहनेवाला) मन्थक (दूध मथनेवाला) नियुक्त किये जाते थे। इनके अतिरिक्त शिकारी (लुब्धक) तथा शिकारी कुत्तों के रखवाले (श्वगणिन (II २९ II ३४)) होते थे जो चरागाहों को जंगली जानवरों से सुरक्षित रखते थे।

पशुपालन क्षेत्रों में बछड़े बछिया बैल बोझ ढोनेवाले बैल साँड तथा भैंसे पाले जाते थे। इनमें जंगली मवेशियों को पालतू भी बनाया जाता था।

कुक्कुट-पालन भी होता था (V २)।

सिंचाई सिंचाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था। सिंचाई के अलग-अलग साधनों के अनुसार जो जल-कर वसूल किया जाता था वह राज्य की आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था। जल-द्वारों की सहायता से राज्य पानी के वितरण पर नियंत्रण रखता था। तालाब तथा नहरें खुदवाकर जल के नये स्रोतों का निर्माण करने की जिम्मेदारी भी राज्य पर ही थी।

उस समय के पालि ग्रंथों में (विशेष रूप से जातक-कथाओं में) इस बात का उल्लेख मिलता है कि गाँव की खेती की जमीन अलग-अलग भागों के बीच बँटी हुई थी और सब के सब सहकारी सिंचाई के लिए खोदी गई नहरों द्वारा एक दूसरे से अलग कर दिए गए थे (V ४१२ IV १६७ I ४१२ (फासबाल द्वारा सम्पादित संस्करण)]। मगध के खेतों की तुलना जो इस प्रकार सिंचाई की नालियों द्वारा आयताकार अथवा टेढ़े-मेढ़े खेतों में बाँट दिए गए थे बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के वस्त्रों से की है जो फटे-पुराने कपड़ों के छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़कर बनाए जाते थे ((विनय० II २ ७-९)।

गाँवों में सार्वजनिक निर्माण-कार्य हर गाँव में पर्याप्त समाजोपयोगी स्थान तथा सामाजिक संस्थाएँ होती थीं। उनमें आराम (विश्रामगृह) प्रपा (तालाब)

सत्र (भिक्षा-गृह) पुण्यस्थान चैत्य (पूजा-वृक्ष) देवगृह (मंदिर) और *संगीत* नृत्य तथा नाटक (प्रेक्षा) के लिए सार्वजनिक मनोरंजन-भवन तथा सार्वजनिक भोजन-कक्ष (प्रवहण) (III १०) होते थे। कुछ इमारतें गाँव की शोभा बढ़ाने के लिए भी होती थी (ग्रामशोभाः)। जैसा कि हम देख चुके हैं, ये सार्वजनिक निर्माण गाँववालों के संयुक्त प्रयास (सम्भूय) द्वारा तथा उनके बीच सहकारिता के सामूहिक समझौते (समय) द्वारा होते थे (III १ II १)। जो कोई भी इस प्रकार तय किए गए सामुदायिक कार्यों में योग नहीं देता था उसे दंड मिलता था (III १०)।

ग्राम-सेवा गाँव की तरफ से वेतन देकर कुछ कर्मचारी रखे जाते थे। इन्हें ग्रामभृतक कहते थे। इनमें इस प्रकार के लोग होते थे जैसे बढ़ई (वर्द्धक) लोहार (कर्मार, अयस्कार) कुम्हार, नाई (नापित) जो अनिवार्य रूप से हर गाँव में होता था (V १ V २) और धोबी (II, १)। हर गाँव में जमीन खोदनेवाले (खनक) तथा रस्सी बटने वाले (रज्जुवर्त्तक) होते थे। गाँवों के निम्नलिखित पदाधिकारियों को जमीन दी जाती थी पर वे इस जमीन को किसी दूसरे को नहीं दे सकते थे (१) अध्यक्ष (जैसे सुवर्णाध्यक्ष) (२) संख्यायक (गाँव का मुनीम) (३) गोप (४) स्थानिक (५) अनीकस्थ (हाथियों को साधने वाला) (६) चिकित्सक (७) अश्वदमक (घोड़ों को साधनेवाला) (८) जंघाकारिक (हरकारा) (II १)।

गाँवों के मनोरंजन नगरों तथा गाँवों में दोनों ही जगह कुछ अन्य कर्मचारी भी होते थे जो प्रतिदिन के सार्वजनिक मनोरंजन का प्रबंध करते थे। विभिन्न कोटियों के इन कलाकारों में निम्नलिखित होते थे (१) नट (अभिनेता) (२) नर्तक (३) गायक (४) वादक वीणा वंशु, मृदंग आदि बाजे बजाने वाले (५) वाग्जीवन (अलंकृत भाषा में जोशीले भाषण देने वाला या कविताएँ पढ़ने वाला) (६) कुशीलव (नृत्य-विशेषज्ञ) (७) प्लवक (नट) (८) सौभिक (जादूगर) (९) चारण (भाट) (१) पाठक (कविताओं का पाठ करने वाला) (११) गंध वंधूहर (गन्धी) (१२) माल्यसम्पादक (माली) (१३) संवाहक (मालिश करनेवाला) (१४) चित्रकार, (१५) वैशिक (प्रेम-कला का शिक्षक) और (१६) प्रश्नि-शास्त्रविद् (विचारों को पढ़नेवाला) (II २७)। इन सब लोगों को सरकार की ओर से वेतन मिलता था।

ग्राम-कल्याण गाँव तथा उसके कल्याण के सम्बन्ध में राज्य के कर्तव्य संक्षेप में इस प्रकार थे (१) भू-सम्पत्ति की सीमाएँ निर्धारित करना (सेतु) (२) अगम्य स्थानों में जाने के लिए मार्ग बनवाना (पथिसंक्रमाः) (३) गाँव की सुरक्षा (ग्राम-शोभाः) तथा रक्षा के लिए आवश्यक निर्माण-कार्य करना (III

१०)। गाँव की रक्षा का काम गाँव की पुलिस के हाथ में था जिसके लिए निम्न लिखित वर्गों में से लोग भर्ती किए जाते थे (१) वागुरिक (जानवर पकड़ने वाले) (२) शबर (भील) (३) पुलिन्द (किरात) (४) चण्डाल और (५) अरण्यचर (वनवासी) (II १)। गाँवों के चारों ओर पत्थर तथा लकड़ी के खंभों की एक चहारदीवारी (उपशालम्) बनवाकर भी गाँव की रक्षा करने की व्यवस्था की (III १०)।

जातक-कथाओं में यह भी बताया गया है कि गाँव के चारों ओर एक दीवार होती थी जिसमें फाटक लगे होते थे (ग्रामद्वार) (I २३९ II ७६ १३५ III ९)।

गाँव के खेतों (ग्राम-क्षेत्र) के चारों ओर बाड़े खींचकर (I २१५) जाल बिछाकर (I, १५४ १५८) तथा खेतों के रखवालों की सहायता से (II ११० IV २७७) हानिकारक कीट-पतंगों तथा पशु-पक्षियों से उनकी रक्षा की जाती थी। कौटिल्य ने इन सब उपायों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इस प्रकार गाँवों का जीवन निजी सम्पत्ति जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा सचार के साधनों तथा सार्वजनिक निर्माण-कार्यों पर आधारित था।

बंजर भूमि : वन-क्षेत्र खेती की जमीन का प्रबन्ध तो इस प्रकार कर दिया जाता था पर इसके साथ ही गाँव के बाहर बंजर भूमि (अकृष्या भूमि) के विस्तृत क्षेत्रों में भी गाँव के पशुओं के लिए चरागाह (विवीत) बनाकर तथा विभिन्न प्रकार के वन लगाकर उनका पूरा-पूरा उपयोग किया जाता था। खेतों के बाद पहले ये चरागाहें होती थीं फिर ब्राह्मणों के लिए वेदों का अध्ययन करने तथा सोम यज्ञ करने के लिए वन में एकान्त स्थान (ब्रह्म सोमारण्य) और तप- स्वियों के तपस्या करने के लिए तपोवन होते थे।

इसके बाद जंगलों का क्रम प्रारंभ होता था। सबसे पहले वह सुरक्षित जंगल होता था जो केवल राजा के शिकार खेलने के लिए (विहार) होता था फिर साधारण वन आते थे।

उनमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के आधार पर उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में बाँट दिया गया था जैसे दारु (इमारती लकड़ी) वेणु (बाँस) वल्ली (बेंत) वल्क (छाल) रज्जु (रस्सी बनाने के काम आनेवाले रेशे) पत्र (लिखने की सामग्री जैसे ताड़-पत्र या भोजपत्र ताल-भूर्ज-पत्र) पुष्प (रंगने के लिए फूल जैसे किंशुक कुसुम्भ या कुंकुम) औषध (जड़ी-बूटियाँ) विष (II १७) ईंधन तथा पशुओं का चारा (काष्ठ-यवस) हाथियों और इमारती लकड़ी के जंगलों का विशेष ध्यान रखा जाता था। युद्ध के लिए हाथी बहुत जरूरी होते थे और शहरों तथा किलों के निर्माण की सामग्री के लिए इमारती लकड़ी के जंगलों का

पर्याप्त महत्व था। हाथियों के जंगलों की निगरानी नागवनाध्यक्ष नामक वन अधिकारी करता था (II २)।

जंगलों से चीता सर, बाघ हाथी भैंसा याक मगर कछुआ साँप तथा पक्षियों आदि के चमड़े वाले दाँत हड्डियाँ दाँत सींग खुर तथा दुमें आदि चीजें मिलती थीं जिनका आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त महत्व था।

वन-कर्मचारी जंगलों की निगरानी का काम वन-संरक्षक का होता था जिसे वनपाल कहते थे। इस विभाग में वृक्ष-मर्मज्ञ भी होते थे जो वृक्षों के पुष्पों तथा उनके हर भाग के आर्थिक महत्व की विशेष जानकारी रखते थे। (II १७)।

इस विभाग में ऐसे शिल्पकार (द्रव्यवन-कर्मान्ताः) होते थे जो गाँवों के कारखानों में जंगल की लकड़ियों से हल मूसल औजार हथियार, गाड़ियाँ आदि अनेक उपयोगी वस्तुएँ बनाते थे।

उद्योग राज्य द्वारा नियंत्रण अनेक ऐसे उद्योगों पर, जिनमें पहले बहुत योग करने का काम आवश्यक होता था और जिन पर कर बहुत आता था राज्य का एकाधिकार था।

खानें सम्पदा की मुख्य स्रोत (आकर प्रभाव कोशः) हैं। राज्य के लिए इनका अत्यधिक महत्व है। इसलिए खनिज उद्योग का राष्ट्रीकरण कर लिया गया था।

सोना चाँदी हीरा विभिन्न प्रकार के रत्नों के अतिरिक्त ताँबा सीसा (सीस) टीन (त्रपु) लोहा (तीक्ष्ण या अयस) और गेरू (शिलाधातु) जैसे निम्न कोटि के खनिज सरकार खुद निकलवाती थी।

राज्य की ओर से मुक्ता (मोती) शुक्ति (सीप) शंख तथा प्रवाल (मूँगा) आदि की खोज समुद्रों में भी की जाती थी।

राज्य की ओर से रत्न-क्षेत्रों में भी काम होता था (जिनसे पारे जैसे रस निकाले जाते थे)।

मिट्टी से भी धातुएँ निकाली जाती थीं।

नमक के उत्पादन पर भी राज्य का एकाधिकार था। नमक बनाने के लिए कुछ लोगों को नमक-क्षेत्र के पट्टे कर दिये जाते थे।

मोती शंख मूँगे तथा हीरे-जवाहरात के सरकारी व्यापार की देखभाल करने के लिए खन्याध्यक्ष नामक एक विशेष पदाधिकारी होता था।

एक और विशेष पदाधिकारी होता था जिसे सौवर्णिक कहते थे। जो अक्षशाला नामक राजकीय कारखाने में तैयार होने वाले सोने तथा चाँदी के सामानों की देखभाल करता था (II १३)।

कपास, तेल शकर, तथा दूध-मक्खन आदि के सरकारी उद्योग भी थे (II ६)।

मदिरा बनाने तथा उस के बेचने का सारा काम राज्य ने अपने हाथों में रखा था।

आयुध और नावें तथा जहाज बनाने के उद्योग पर भी राज्य का ही एकाधिकार था।

सिक्के ढालने का अधिकार केवल राज्य को था। राज्य के पदाधिकारी सर्वसाधारण से सोना या चाँदी लेकर उसके सिक्के ढाल देते थे और इसके लिए वे कुछ ढलाई वसूल कर लेते थे। टकसाल के प्रधान अधिकारी को लक्षणाध्यक्ष कहते थे।

बन्दीगृहों में भी कारखाने होते थे जिनमें बंदियों से काम लिया जाता था। राजकीय कताईघर कताई तथा बुनाई दोनों ही का कारखाना होता था जिसमें कपास रेशम तथा जूट का सूत कपड़ा कवच (वर्म) रस्सियाँ कम्बल (आस्तरण) तथा परदे (प्रावरण) तैयार किये जाते थे। इसमें निराश्रित औरतों को काम दिया जाता था। परदेवाली औरतों को कारखाने की औरतों के हाथ सूत कातने का काम भिजवा दिया जाता था।

राजकीय कारखानों में बाकी सब श्रमिक ठेके पर रखे जाते थे। मजदूरी रोकना अपराध था जिसके लिए दंड की व्यवस्था थी।

राजकीय खेतों जंगलों तथा खानों की पैदावार राज्य के गोदामों (कोष्ठागार) में जमा की जाती थीं। इसका उपयोग करने के लिए राज्य को अपने कारखाने चलाने पड़ते थे। ये सब चीजें जमा करने की जरूरत इसलिए भी पड़ती थी क्योंकि राज्य को राजस्व नकद (हिरण्य) नहीं बल्कि वस्तुओं के रूप में मिलता था इसलिए सारे देश में इस प्रकार के कोष्ठागारों की व्यवस्था आवश्यक थी जहाँ ये चीजें रखी जा सकें। इस प्रकार पहले गोदामों की स्थापना हुई, फिर कारखाने बने।

निजी उद्योग देश के सारे उद्योग राज्य के हाथों में नहीं थे। बहुत बड़ा क्षेत्र निजी कारोबार करनेवाले उद्योगपतियों के हाथ में था।

स्वाभाविक रूप से कौटिल्य ने राज्य द्वारा चलाए जाने वाले उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया है पर अन्य ग्रंथों में उद्योगों में निजी कारोबार की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों में सबसे महत्त्वपूर्ण जातक कथाएँ हैं। ईसा पूर्व तीसरी तथा दूसरी शताब्दियों में भरहुत तथा साँची की मूर्तियों में शिल्पकारों ने इन्हीं कथाओं के विषयों का चित्रण किया है। रीज डेविड के शब्दों में इन जातक कथाओं में प्राचीन इतिहास सुरक्षित है। इनमें उस समय के अठारह मुख्य दस्तकारियों का उल्लेख किया गया है, जैसे लकड़ी का काम करनेवाले लोहे

तथा अन्य धातुओं का काम करनेवाले, चमड़ा कमाने वाले, चित्रकार, पत्थर का काम करने वाले, हाथी-दाँत का काम करने वाले, बुनकर, हलवाई, जौहरी, बहुमूल्य धातुओं का काम करने वाले, कुम्हार, धनुष-बाण बनाने वाले। इन हस्तशिल्पों का संगठन श्रेणियों के रूप में किया गया था। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रमुख अर्थात् मुखिया और एक ज्येष्ठक होता था। हमें श्रेणियों के ऐसे संघों का भी उल्लेख मिलता है जिन सब का एक ही मुखिया होता था जिसे भाण्डागारिक कहते थे। उद्योगों की तरह व्यापार का संगठन भी व्यापारियों की श्रेणियों के रूप में किया गया था जिसके प्रधान को सेट्ठि कहते थे। श्रावस्ती का अनाथपिण्डिक महासेट्ठि था। वह एक ऐसे वाणिज्य संघ का प्रधान था जिसके आधीन ५० सेट्ठि अर्थात् उस संघ में सम्मिलित श्रेणियों के प्रधान थे। सार्थों के रास्ते में लुट जाने का खतरा रहता था इसलिए व्यापारी इनका संगठन सहकारिता के आधार पर करते थे। विभिन्न व्यापारी अपनी गाड़ियाँ, अपने माल तथा अपने आदमियों को एक में मिलाकर एक समवाय यानी कम्पनी बना लेते थे जिसका एक नायक होता था जिसे सार्थवाह कहते थे। वह यह बताता था कि कहाँ पड़ाव डालना चाहिए, कहाँ जानवरों को पानी पिलाना चाहिए, किस मार्ग से चलना चाहिए, कहाँ पर नदी को पार किया जा सकता है और कहाँ खतरा है। सार्थ के कुछ और अधिकारी भी होते थे जिन्हें थलनिय्यामक कहते थे जो थल पर मार्ग-दर्शन करते थे। वे पथ प्रदर्शकों के रूप में काम करते थे और यात्रा के दौरान में अनावृष्टि, अकाल, जंगली जानवरों, डाकुओं तथा पिशाचों से यात्रियों की रक्षा करते थे। इसी प्रकार हमें समुद्री व्यापार करनेवाले कई सौदागरों के मिलकर एक जहाज ले जाने या व्यापारियों के बीच माल के भाड़े के सम्बन्ध में संयुक्त रूप से कोई कदम उठाने के उल्लेख भी मिलते हैं। लोग साझे में भी व्यापार करते थे। जैसे काबुल को चिड़ियों के निर्यात का व्यापार या 'उत्तर' से बनारस में घोड़ों के आयात का व्यापार, कई स्थान ऐसे भी थे जो किसी विशेष उद्योग के केन्द्र बन गए थे। हम कुम्हारों, बढ़इयों, लुहारों यहाँ तक कि जानवर पकड़ने वालों के गाँवों के उल्लेख पढ़ने को मिलते हैं। शहरों में हाथी-दाँत का काम करनेवालों की सड़कें (वीथी), रंगरेजों की सड़कें, बजाजों की सड़कें या बुनकरों की बस्तियाँ (ठाम) होती थीं। कुछ हीन-शिल्प अर्थात् तुच्छ पेशे भी थे जिनमें अपनी जीविका कमानेवाले लोग अधम रखे जाते थे जैसे शिकारी तथा जानवर पकड़नेवाले, मछुए, कसाई, चमड़ा कमानेवाले या सँपेरे, नट, नर्तक, गायक, मूँज की चीज़ें बुननेवाले या रथ बनानेवाले जो अधिकांशतः आदिवासी होते थे (हिन्दू सभ्यता पृष्ठ १०१, १०७, १०८)।

(हिन्दी संस्करण से)

व्यापार : व्यापार के सम्बन्ध में राज्य के ऊपर एक विशेष उत्तरदायित्व था। उसकी आय इस पर निर्भर थी। ऊपर बताई गई परिस्थितियों के कारण उसके कारखानों में निरन्तर बहुत बड़ी मात्रा में जो विविध प्रकार का माल एकत्रित होता रहता था उसे बेचकर लाभ कमाया जाता था। इस प्रकार राज्य देश में सब से बड़ा व्यापारी था और उसे स्वयं अपने हितों की रक्षा के लिए देश के पूरे व्यापार पर नियंत्रण रखना पड़ता था।

व्यापार का नियमन राज्य द्वारा कीमतों के नियंत्रण पर आधारित था। नियमन की यह व्यवस्था कुछ अनिवार्य उपबंधों पर आधारित थी।

कोई माल अपने उत्पादन के स्थान पर, खेतों में या कारखाने में नहीं बेचा जा सकता था। उन्हें नियत मंडियों (पण्यशाला) में ले जाना पड़ता था जहाँ व्यापारी को यह बताना पड़ता था कि कितना माल है, वह किस कोटि का है और उसके माल की कीमत क्या है। इस माल की जाँच करके उसे बहीखातों में चढ़ा लिया जाता था।

हर व्यापारी को अपना माल बेचने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। बाहर से आनेवाले व्यापारी को इसके अतिरिक्त पासपोर्ट भी लेना पड़ता था।

वाणिज्य का अध्यक्ष (पण्याध्यक्ष) शुल्कशाला में दर्ज किए हुए मूल्य के अनुसार माल की थोक कीमतें तै कर देता था। फुटकर कीमतें तै करते समय वह कम लाभ की गुंजाइश रखता था।

चोरी से माल ले जाने या माल में किसी प्रकार की मिलावट करने पर कठोर दंड दिया जाता था।

सट्टेबाजी और कीमतें बढ़ाने-घटाने के लिए सारा माल दबा लेने की इजाजत नहीं थी।

मजदूरी बढ़वाने के लिए मजदूरों की हड़तालें अवैध थीं।

मनचाहित कीमतों तथा व्यापार में धोखेबाजी से जन-साधारण ग्राहकों तथा उपभोक्ताओं की रक्षा करने के सम्बन्ध में राज्य को बहुत बड़े तथा कष्टसाध्य उत्तरदायित्व को निभाना पड़ता था। यह पता लगाने के लिए कि किसी व्यापारी ने अपने माल के बारे में कोई झूठ बात तो नहीं लिखवायी है, उसे व्यापार-मार्गों पर बहुत बड़ी संख्या में अपने गुप्तचर या मंडियों के निरीक्षक नियुक्त करने पड़ते थे और अन्य व्यापारियों को इस बात की सूचना देनी पड़ती थी (II २१)।

कीमतों पर राज्य के नियंत्रण के अतिरिक्त माप-तोल पर भी राज्य का नियंत्रण था। सरकारी मापदंड सार्वजनिक उपयोग के मापदंड से थोड़ा-सा कम होता था जिस अन्तर के कारण राज्य को बैठे-बिठाए कुछ आय हो जाती थी जो ५

प्रतिशत व्याजी के बराबर होती थी। यह उसी प्रकार की आय थी जैसी सिक्कों की ढलाई से होती थी।

आयात तथा निर्यात-कर चुंगी तथा उत्पादन-कर के रूप में व्यापार पर प्रति मद टैक्स लगाया जाता था। कर चुकाने के लिए व्यापारियों को अनेक मंजिलों पर रुकना पड़ता था। विदेशों से आनेवाले व्यापारियों से सीमांत-कर, मार्ग-कर (वर्तनी) तथा महसूल और नगर के फाटक पर चुंगी वसूल करके उनका शुभारम्भ शुल्क कम कर लिया जाता था। नगर के द्वार पर शुल्कशाला के पदाधिकारी कड़ा पहरा रखते थे और इस उद्देश्य से शुल्कशाला में एक और कानून से मना सिक्कों की घोषित करने वाले व्यापारियों को खड़ी बनाकर रखने के लिए भी एक स्थान होता था।

परन्तु जहाँ व्यापार पर इस प्रकार टैक्स लगाया जाता था वहाँ उसे उस पुराने जमाने में जब हर जगह जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा का कोई आश्वासन नहीं था संरक्षण के आश्वासन के रूप में सुविधाएँ भी दी जाती थीं। यात्रा के पूरे मार्ग में माल के यातायात की रक्षा की जाती थी। यदि यातायात के दौरान में कोई क्षति होती थी तो उस स्थान के सरकारी पदाधिकारी को जहाँ से गुजरते समय क्षति हुई हो उसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। गाँव में यह जिम्मेदारी उस गाँव के मुखिया (ग्रामस्वामी या ग्राममुख्य) पर होती थी गाँव के बाहर विवीताध्यक्ष की और उसके क्षेत्र के बाहर जिम्मेदारी सरकारी पुलिस की होती थी जिसे चोर-रज्जुक कहते थे उसके बाद सीमा-स्वामी अर्थात् सीमांत प्रदेश का प्रधान होता था।

उस जमाने में सारे देश में फैले हुए लुटेरों के गिरोहों (चोर-गण) से व्यापार की रक्षा करनी होती थी। उत्पाती म्लेच्छ जातियाँ (जैसे किरात) और वन में रहनेवाले जंगली लोग (आटविक) सब लूटमार पर उतारू रहते थे (VII,१०)।

गाँव की पुलिस का उल्लेख हम पहले कर आए हैं। परन्तु हर गाँव की चोरों (तस्कर) से रखवाली करने के लिए शिकारी और कुत्ते पालनेवाले (लुब्धक-श्वगणिन) होते थे जिनका उल्लेख भी पहले किया जा चुका है। उनका चोरों से रखवाली करने का तरीका यह होता था कि वे किसी ऊँची जगह पहाड़ी या पेड़ से जहाँ उन्हें कोई देख न सके शंख या ढोल बजाकर ग्रामवासियों को चेतावनी देते थे या तेजी से भागकर उन्हें सूचना देते थे (II ३४)।

व्यापार मार्ग व्यापार अपने मार्गों पर निर्भर था। जैसे विस्तृत देश के लिए मार्गों की व्यवस्था एक बहुत कठिन समस्या थी।

ग्रैंड-ट्रंक रोड यूनानियों ने उत्तर-पश्चिमी सीमांत से पाटलिपुत्र तक जाने वाले राजपथ का उल्लेख किया है यही उस जमाने की ग्रैंड ट्रंक रोड थी जो

१० ००० स्टेडिया अर्थात् १ १०० मील लम्बी थी (स्ट्राबो XV १ २)। हम यह भी देख चुके हैं कि मगास्थनीज ने भी उन सरकारी पदाधिकारियों का उल्लेख किया था जो सड़कों का प्रबंध देखते थे और थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मोड़ों तथा दूरियों की सूचना देनेवाली तख्तियाँ लगाई जाती थीं।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मेगास्थनीज ने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से पाटलिपुत्र जानेवाले राजपथ के बारे में यह लिखा है कि यह सड़क पहले से मौजूद थी।

भारत में प्रवेश करने पर सीमान्त से पाटलिपुत्र तक जानेवाले इस राजपथ को देखकर, जिस पर जनता व्यय के पालन के लिए उसने स्वयं यात्रा की होगी मेगास्थनीज आश्चर्यचकित रह गया था। कहा जाता है कि यह सड़क आठ भागों में बनाई गई थी इन भागों मार्गों की लम्बाई हाइफैसिस (व्यास) नदी की सिकन्दर के बाएटा तथा डायागनेटस नामक सर्वेक्षण अधिकारियों ने नापी थी और कहा जाता है कि व्यास से गंगा तक की लम्बाई, सेल्यूकस निकेटर के आदेश पर मेगास्थनीज तथा अन्य यूनानी यात्रियों ने नापी थी। इन आठ मार्गों का विवरण इस प्रकार दिया गया है (१) प्यूकेलाओटिस (संस्कृत में पुष्करावती गंधार की राजधानी आधुनिक चारसद्दा) से तक्षशिला तक। (२) तक्षशिला से सिन्धु नदी को पार करके हाइडेस्पीज (झेलम) तक। (३) वहाँ से हाइफैसिस (व्यास) के किनारे उस स्थान तक जहाँ सिकंदर ने अपनी वेदियाँ बनवाई थीं। (४) व्यास से हेसिड्रस (सतलुज) तक। (५) सतलुज से इयोमेनीज (यमुना) तक। (६) यमुना से हस्तिनापुर होती हुई गंगा तक। (७) गंगा से रोडोफा नामक स्थान तक (कहा जाता है कि यह वही स्थान था जहाँ आजकल अनूप शहर के निकट डभाई नामक स्थान है)। (८) रोडोफा से कलिनिपैक्सा (कदाचित् कान्यकुब्ज अर्थात् कन्नौज) तक। (९) कन्नौज से प्रयाग में गंगा तथा यमुना के संगम तक। (१०) प्रयाग से पाटलिपुत्र तक। (११) पाटलिपुत्र से गंगा के मुहाने पर कदाचित् ताम्रलिप्ति तक। इस सड़क के किनारे हर मील पर एक पत्थर लगा हुआ था जिस पर इस सड़क की शाखाओं तथा विभिन्न स्थानों की दूरी अंकित थी। इस मार्ग की जिम्मेदारी सार्वजनिक निर्माण विभाग के पदाधिकारियों पर थी जो इसकी देखभाल करते थे इसकी मरम्मत करवाते थे और हर दस स्टेडिया की दूरी पर पत्थर तथा दिशासूचक तख्तियाँ लगवाते थे (प्लिनी नेचरल हिस्ट्री VI २१)।

बौद्ध ग्रंथों में मार्गों का वर्णन प्राचीनकालीन बौद्ध साहित्य में यातायात के मार्गों के विषय पर काफी प्रकाश डाला गया है।

अन्तर्देशीय मार्ग : देश के भीतर व्यापार गाड़ियों द्वारा तथा सार्थ के रूप में

होता था। हमें इस बात का उल्लेख पढ़ने को मिलता है, कि अनाथपिण्डिक के सार्थ सावत्थी (श्रावस्ती) से दक्षिण-पूर्व की ओर राजगह (राजगृह) तक जाते और वहाँ से वापस लौटते थे (लगभग ३०० मील) (जातक कथाएँ I ९२ ३४८)। ये सार्थ 'सीमा' तक कदाचित् गंधार की ओर भी जाते थे। (जातक-कथाएँ I ३७७ तथा उसके बाद के पृष्ठ)। नदियों को पार करने की सुविधा की दृष्टि से कदाचित् यह मार्ग कुसीनारा तक पर्वतों की तलहटी में होकर जाता होगा कुसीनारा और राजगह के बीच रास्ते में बारह जगह ठहरने के स्थान (ग्राम अर्थात् नगर) थे जिनमें वेसालि (वैशाली) नामक नगर भी था इस प्रकार धर्मोपदेश के लिए महात्मा बुद्ध की अंतिम यात्रा के लिखित मार्ग-विवरण के अनुसार केवल एक जगह पटना में गंगा नदी पार करनी पड़ती थी (दीघनिकाय II सुत्तंत XXXI ८१ तथा उसके बाद के पृष्ठ)।

एक दूसरा महत्वपूर्ण मार्ग सावत्थी से दक्षिण-पश्चिम की ओर पतिट्ठान (प्रतिष्ठान = पैठन) तक जाता था जिस पर रास्ते में छ पड़ाव पड़ते थे (सुत्त-निपात १ ११ १३) और कई बार नदियाँ पार करनी पड़ती थी। हमें इन ग्रंथों में इस बात का उल्लेख भी मिलता है कि गंगा नदी में सार्थ सहजाति तक (विनय सुत्त, III ४०१) और यमुना नदी में कोसम्बी तक (विनय सुत्त III ३८२) जाती थी। उस जमाने में पुल नहीं होते थे केवल ऐसे स्थान होते थे जहाँ नदियों को पैदल पार किया जा सकता था या फिर नदियों को पार करने के लिए घाट होते थे (जातक कथाएँ, III २२८)। मनु ने नाविकों के भाड़े का उल्लेख किया है (III ४ ४) तथा उसके बाद के पृष्ठ। पुल (सेतु) नहीं होता था बल्कि केवल नदी के किनारे बना हुआ तटबंध होता था।

एक तीसरा मार्ग पश्चिम की ओर सिंध तक जहाँ घोड़े और गधे बहुतायत से पाए जाते थे (जातक कथाएँ II १२८ १७८ १८१ II ११ २८७) और सोवीर तक (विमान वत्थु (टीका) ३३६) और उसके बंदरगाहों तक जाता था जिसकी राजधानी रोरुव (जातक कथाएँ III ४७०) अथवा रोरुक (दीघ निकाय, II २३५ दिव्यावदान ५४४) थी। हमें थल-मार्गों से 'पूर्व तथा पश्चिम" जाने वाले सार्थों (जातक-कथाएँ I ९८ तथा उसके बाद के पृष्ठ) तथा रेगिस्तानों के पार जाने वाले सार्थों का उल्लेख भी मिलता है। इन रेगिस्तानों को (राज पूताना के रेगिस्तान) को पार करने में कई दिन लग जाते थे ये काफिले रात्रि के समय नक्षत्रों से दिशा का पता लगाते हुए थल-मार्गदर्शक (थलनिय्यामक) (जातक-कथाएँ, १ १०७) के मार्गदर्शन में यात्रा करते थे।

पश्चिमी बंदरगाहों के पार व्यापारी "थल से ओझल" होकर महासागर पार बावेरु (बाबिल) से व्यापार करते थे।

अंत में उत्तर-पश्चिम में वह वृहद् व्यापारिक थल-मार्ग था जो तक्षशिला और गंगा की घाटी के साकेत श्रावस्ती बनारस तथा राजगृह आदि नगरों से होता हुआ भारत और मध्य तथा पश्चिमी एशिया के बीच सम्पर्क स्थापित करता था (विनय II १७४ महावग्ग VIII I ६)। चूँकि यह मार्ग बहुत चालू था इसलिए इस पर यात्रा करने में कोई खतरा नहीं था। इस बात के उल्लेख भी हैं कि अनेक विद्यार्थी बिना किसी को साथ लिए और निहत्थे विद्योपार्जन के लिए (तक्षतक्कसिला (तक्षशिला) की यात्रा करते थे (जातक कथाएं, II २७७)।

समुद्री व्यापार उस समय में समुद्रों के रास्ते विदेशों के साथ का व्यापार होता था उसके भी कुछ प्रमाण मिलते हैं पर ये प्रमाण बहुत ही थोड़े हैं। उदाहरण के लिए इस बात के उल्लेख मिलते हैं कि राजकुमार महाजनक समुद्र के रास्ते चम्पा से सुवण्णभूमि तक (जातक-कथाएं,VI ३४) और महिन्द पाटलिपुत्र से ताम्रलिप्ति और वहाँ से लंका गया था [विनय सुत्त III ३८८ समन्तपासादिक]। *एक जगह इस बात का भी वर्णन मिलता है कि राजस्व अदा न करनेवाले बढ़इयों का एक पूरा गाँव रात्रि के समय एक "विसाल नावपोत' में बैठकर बनारस से गंगा के रास्ते समुद्र की ओर भाग निकला था* (जातक कथाएं,IV १५९)। एक योग्य पोत-संचालक जहाज पर सुरक्षित रूप से "समुद्र पार से भारत आनेवाले यात्रियों को नदी के रास्ते बनारस तक" ले आता था (जातक-कथाएं,II ११२)। इस बात का भी उल्लेख है कि व्यापारी भारत के समुद्रतट के किनारे-किनारे भरुकच्छ (भड़ौच) से सुवण्णभूमि तक चले जाते थे (जातक-कथाएं,III १८८)। रास्ते में वे लंका के एक बन्दरगाह पर ठहरते भी थे (जातक कथाएं,II १२७)। जब कोई नया जहाज आता था तो उस पर लदे हुए माल से आकृष्ट होकर सैकड़ों व्यापारी उसे खरीदने के लिए वहाँ जमा हो जाते थे (जातक कथाएं I, १२२)। उस समय के जहाज इतने बड़े होते थे कि उनमें सैकड़ों यात्री बैठ सकते थे। तूफान में फँसकर डूब जाने वाले जहाज पर बैठे हुए ५० व्यापारियों (जातक-कथाएँ V १२८ I ७५) और सुप्पारक के सुरक्षित संचालन में यात्रा करने वाले ७ ० व्यापारियों (जातक-कथाएं,IV ११८) (हिंदू सभ्यता पृष्ठ ३ २ १०४) के उल्लेख पढ़ने को मिलते हैं।

संस्कृत ग्रंथ पालि ग्रंथों में एक व्यापारिक थल-मार्ग के अस्तित्व का जो प्रमाण मिलता है उसकी पुष्टि पाणिनि द्वारा उत्तरपथ (V १ ७७) के उल्लेख से होती है। पाणिनि ने उत्तरपथ से होकर जानेवाले (उत्तरपथेन गच्छति) यात्रियों और इस मार्ग द्वारा लाये माल (उत्तरपथेन आहृतम्) का उल्लेख किया है।

स्त्राबो के अनुसार, सिकंदर के जमाने में औक्सस (आमू) नदी में नावें बड़ी आसानी से चल सकती थीं और इस प्रकार पश्चिम की ओर जाते समय भारत

ानेवाला माल इस नदी के रास्ते कैस्पियन सागर तक पहुँचाया जाता था। जैसा कि वार्मिगटन ने बताया है (कामर्स बिटवीन रोमन एम्पायर ऐण्ड इंडिया २१) पश्चिम से भारत तक जाने के तीन प्राकृतिक मार्ग थे (१) जहाँ अफगानिस्तान के पहाड़ काबुल नदी के उद्गम के ठीक उत्तर में बहुत कम चौड़े जाते हैं और आमू तथा सिंधु नदी की घाटियों के बीच में केवल हिंदुकुश समाप्त रह जाती है (२) पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में ५ मील दूर ी पर अफगानिस्तान के पर्वतों का क्रम समाप्त हो जाता है और हरात से ार तथा काबुल तक ४ ० मील में फैले हुए पठार पर होकर हेलमंद नदी के ारे-किनारे एक सुगम मार्ग खुल जाता है और एक दूसरा मार्ग बोलन अथवा दर्रे से होता हुआ कंधार से दक्षिण-पूर्व से सिंधु नदी के निचले मैदानों तक) मकरान के रेगिस्तानों में होकर या बलोचिस्तान के समुद्र के किनारे-किनारे ता था।

पाणिनि ने जिस उत्तरपथ का उल्लेख किया है वह इनमें से पहला या दूसरा र्ग रहा होगा। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन प्रदेशों पर चन्द्रगुप्त र्य की विजय के फलस्वरूप उसके साम्राज्य की सीमाएँ लगभग फ़ारस तक च गई थी इसलिए इन मार्गों से होकर पश्चिम के साथ भारत का व्यापार श्य बढ़ा होगा। भारत में यह व्यापारिक थल-मार्ग (उत्तरपथ) उसके उन रों से होकर गुजरता होगा तथा उनके बीच सम्पर्क स्थापित करता होगा नका उल्लेख पाणिनि तथा पतञ्जलि ने किया है जैसे बाल्हीक कापिशी ष्कलावती गान्धारी तक्षशिला शाकल हस्तिनापुर, कौशाम्बी काशी पाट पुत्र आदि नगर।

पतञ्जलि ने (पाणिनि की टीका में II,२,१८ तथा III १ १११) कौशाम्बी था वाराणसी के पास जाने वाले यात्रियों के प्रसंग में निर-कौशाम्बि : था निर-वाराणसि की समस्या का उल्लेख किया है इसमें यह संकेत मिलता उस समय ग्रैंड ट्रंक रोड कौशाम्बी तथा वाराणसी नामक नगरों से होकर ुजरती थी। पाणिनि के एक नियम (III १ १११) के प्रसंग में पतञ्जलि ने ह दृष्टांत दिया है कि साकेत तथा पाटलिपुत्र नामक नगर एक ही मार्ग पर स्थित थे और इस प्रकार हम ग्रैंड ट्रंक रोड की लम्बाई का हिसाब लगा सकते जो साकेत तथा कौशाम्बी और वाराणसी तथा पाटलिपुत्र नामक नगरों को ोड़ती थी। आश्चर्य की बात है कि काशिका में यात्रा के आरंभ-बिंदु के रूप में ौशाम्बी का उल्लेख किया गया है जबकि पतञ्जलि ने साकेत को आरंभ-बिंदु ाना है यद्यपि दोनों ही ग्रंथों में यात्रा का अंतिम लक्ष्य पाटलिपुत्र को बताया या है। 'इन दो व्याकरणाचार्यों में यह मतभेद किसी वैयक्तिक अथवा मनोवृत्ता-

सम्बन्धी कारण से भी हो सकता है। कदाचित् दोनों ही अपने जन्मस्थान को भौगोलिक केन्द्र समझते हों (इंडियन कल्चर में मेरी टिप्पणी II २)।

अर्थशास्त्र में मार्गों का वर्णन अर्थशास्त्र में भी इसी उपयुक्त साक्षी को दोहराया गया है।

कौटिल्य के अनुसार (VII १२) व्यापार-मार्ग (वणिक्पथ) लाभ की दृष्टि से स्थापित किये जाने चाहिए।

जलमार्ग एक मत यह है कि व्यापारी के मार्गों में जल-मार्ग को प्रधानता दी जानी चाहिए, क्योंकि जलमार्ग अधिक लाभदायक होता है। इस मत का आधार इस बात पर है कि जलमार्ग द्वारा माल ले जाने में खर्च कम आता है और मेहनत भी कम लगती है (अल्पव्यय-व्यायामः प्रभूतपण्योदयश्च)।

कौटिल्य ने इस मत का समर्थन नहीं किया है। कौटिल्य के मतानुसार, संकट के समय जल-मार्ग पर किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुंचाई जा सकती (सङ्कटगति विपदि सर्वतो-निरुद्धगमन)। इन मार्गों को सभी ऋतुओं में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता (असर्वकालिकः) ('जैसे वर्षा ऋतु में') उनमें खतरा ज्यादा रहता है और इस खतरे से बचने का कोई उपाय भी नहीं किया जा सकता।

कौटिल्य ने जल-मार्गों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है (१) समुद्र तट के किनारे के जलमार्ग (कूलपथ) और (२) महासागर के बीच से होकर जाने वाले जल-मार्ग (विदेशों के लिए) (संयानपथ)। इन दोनों में कौटिल्य ने पहली श्रेणी के मार्गों को प्रधानता दी है, क्योंकि अधिक बंदरगाहों तक उनकी पहुंच होने के कारण (पण्य-पट्टन-बाहुल्यात्) वे अधिक काम के स्रोत होते हैं।

तीसरा जल-मार्ग नदियों का है। इसके भी कुछ ऐसे गुण हैं जो अन्य जल-मार्गों में नहीं पाए जाते। इसका क्रम नहीं टूटता और इससे यात्रा करने में बहुत अधिक खतरा भी नहीं रहता।

सड़कें : जहाँ तक थल-मार्गों का संबंध है उन्हें मोटे-मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है (१) हैमवत या उत्तरापथ उत्तरी हिम प्रदेशों को जानेवाली सड़क (२) दक्षिणापथ।

उत्तरापथ एक मत हैमवत मार्ग को बेहतर समझता है क्योंकि उसके रास्ते अधिक लाभदायक वस्तुओं (सारवत्तरा:)—जैसे घोड़े हाथी कस्तूरी (गंध कस्तूरी) हाथी-दांत खालें सोना तथा चाँदी—के स्रोतों तक पहुंचा जा सकता है।

दक्षिणापथ परन्तु उत्तरवासी होते हुए भी कौटिल्य ने दक्षिण का पक्ष लिया है। कौटिल्य का कहना है कि यद्यपि दक्षिणी मार्ग इन देशों को मुहैया-

जाता जहाँ से कम्बल खालें या घोड़े आदि पशु आते हैं, पर इस भाग के रास्ते हमें शंख हीरे, मणि मुक्ता तथा स्वर्ण जैसी अधिक बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिणी भाग कई खनिज-क्षेत्रों (बहु-खनिः) और बहुमूल्य पदार्थ (सारपण्यः) उत्पन्न करनेवाले प्रदेशों से होकर गुजरता है और उस पर यात्रा करने में किसी खतरे या कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता (प्रसिद्धगतिः अल्पव्ययायामः)।

इसी व्यापार की दृष्टि से कौटिल्य राज्य से यह भी चाहता था कि वह देश में गाड़ियों के आने-जाने के लिए सड़कें (वणिक्पथ) बनवाए, जिनके रास्ते हमेशा बहुत-सा माल एक जगह से दूसरी जगह लाया तथा ले जाया जा सकता है (विपुलारंभत्वात्)। कौटिल्य ने गधों तथा ऊँटों जैसे भारवाहक पशुओं के लिए भी मार्ग बनवाने का परामर्श दिया है (VII १२)।

मार्गों की विभिन्न श्रेणियाँ : कौटिल्य ने देश के विभिन्न प्रकार के मार्गों का उल्लेख किया है (II ४) जैसे

(१) राज-मार्ग अर्थात् राजपथ बड़ी सड़क

(२) विभिन्न प्रशासन केन्द्रों तक जानेवाली प्रांतीय सड़कें जैसे स्थानीय-पथ

(३) द्रोणमुख-पथ

(४) राष्ट्र-पथ देहातों को जानेवाले मार्ग या

(५) विवीत-पथ देहातों में चरागाहों को जानेवाले मार्ग और मार्गों की अन्य श्रेणियाँ जैसे

(६) संयानीय-पथ जो उन शहरों को जाते थे जहाँ हाट लगते थे (संयानीयं क्रय-विक्रय व्यवहार-स्थानं नगरम् तत्पथः)

(७) व्यूहपथ सेना के लिए मार्ग

(८) सेतुपथ सिंचाई वाले खेतों को जानेवाले मार्ग

(९) वनपथ जंगल को जानेवाले मार्ग

(१) हस्तिपथ हाथियों के लिए मार्ग

(११) क्षेत्रपथ खेतों को जानेवाले मार्ग

(१२) रथपथ रथों के लिए मार्ग

(१३) पशुपथ मवेशियों के लिए पगडंडियाँ

(१४) क्षुद्रपशुपथ भेड़ आदि छोटे पशुओं के लिए पगडंडियाँ और अंत में

(१५) मनुष्यपथ मनुष्यों के चलने के लिए मार्ग।

व्यापार-सामग्री : इन विभिन्न मार्गों के रास्ते देश के सभी भागों से जहाँ जो भी चीज पैदा होती थी खानों तथा वनों जैसे दुर्गम स्थानों से नाना प्रकार की चीजें बिकने के लिए बाजारों में आती थीं।

मोती : विभिन्न प्रकार के मोतियों के नाम उन स्थानों के नाम पर रखे गए थे जहाँ वे पाए जाते थे। इतने प्रकार के मोती होते थे (१) ताम्रपर्णिक जो पाण्ड्य देश के उस स्थान से निकाले जाते थे जहाँ ताम्रपर्णी नदी समुद्र में गिरती है (समुद्र सगम प्रदेश समुत्पन्नम्) (२) पाण्ड्यकवाटक जो पाण्ड्य देश के मलयकोटि नामक पर्वत पर पाए जाते थे (३) पाशिक्य जो पाटलिपुत्र के निकट पाशिका नदी से निकाले जाते थे (४) कौलेय जो सिंहलद्वीप (लंका) के मयूर नामक गांव की कूला नदी में से निकाले जाते थे (५) चौर्णेय जो केरल देश में मुरचि नामक नगर (पट्टन) की चूर्णी नदी में से निकाले जाते थे (६) महेन्द्र जो महेन्द्र पर्वत पर पाए जाते थे (७) कार्दमिक जो पारसीक अर्थात् फारस की कर्दमा नदी में से निकाले जाते थे, (८) स्रौतसीय जो बर्बर-देश के समुद्रतट पर श्रीतसी नदी में से निकाले जाते थे (९) ह्रादीय जो समुद्रतट पर स्थित बर्बर देश की श्रीघण्ट नामक झील में से निकाले जाते थे और (१०) हैमवत जो हिमालय पर पाए जाते थे।

मणियाँ मणियाँ कोटि तथा माला नामक पर्वतों और लंका की रोहण नामक पहाड़ी पर पाई जाती थीं (पार-समुद्रकः पारसमुद्रः सिंहलरोहणादि तज्ज)।

हीरे-जवाहरात : हीरे सभाराष्ट्र में जो उस समय में विदर्भ देश का नाम था मध्यम-राष्ट्र जो आजकल कोसल देश है काश्मीर-राष्ट्र में श्रीकटन नामक पहाड़ी पर उत्तरापथ पर मणिमन्तक नामक पहाड़ी पर और कलिंग देश की इन्द्रवानक नामक पहाड़ी पर पाए जाते थे।

मूंगा : मूंगा अल्कंद नामक स्थान से जो बर्बर देश की एक बंदरगाह था और यवन-द्वीप में समुद्र के किनारे स्थित विवर्ण नामक स्थान से लाया जाता था।

सुगंधित लकड़ी : चन्दन अगर (अगरु) तथा कालेयक जैसी सुगंधित लकड़ियों का भी व्यापार होता था। इनमें से अधिकांश कामरूप अर्थात् आसाम में पैदा होती थी।

खालें विभिन्न प्रकार की खालों का व्यापार भी बहुत बड़े पैमाने पर होता था जो कान्तनाव तथा प्रेय जैसे स्थानों से आती थीं ये हिमालय (उत्तर पर्वत) पर स्थित प्रदेश थे। बिसी तथा महाबिसी जाति की खालें हिमालय के आरोह अस्मात गाँवों (द्वादशग्रामीये) से आती थीं जहाँ म्लेच्छ रहते थे। हिमालय के आरोह नामक एक दूसरे प्रदेश से विभिन्न प्रकार की खालें आती थीं।

हिमालय के बाह्लव नामक एक दूसरे प्रदेश से अन्य प्रकार की —— —— थीं।

और फिर जल में रहनेवाले पशुओं की खालों का भी व्यापार होता था।

कम्बल : ऊनी कम्बलों का व्यापार काफी बड़े पैमाने पर होता था। नैपाल का उल्लेख उन स्थानों में किया गया है जहाँ से अच्छे कम्बल आते थे। वहाँ से आठ टुकड़ों को आपस में जोड़कर बनाए गए काले रंग के कम्बल आते थे जिन्हें भिंगिसि कहते थे और इन पर वर्षा का कोई असर नहीं होता था (वर्षावारणम्)। वहाँ से अपसारक नामक कम्बल भी आते थे।

रेशम : बंग से दुकूल (सफेद रेशमी कपड़ा) आता था। उत्तरी बंगाल में पत्र नामक स्थान से पौण्ड्रक नामक रेशमी कपड़ा आता था और आसाम का सुवर्णकुड्य नामक स्थान भी अपने रेशम के लिए प्रसिद्ध था।

क्षौम : क्षौम अर्थात् लिनन काशी देश से तथा पुण्ड्र से आता था। रेशेदार वस्त्र (पत्रोर्णा) मगध तथा सुवर्णकुड्य में बनाए जाते थे।

कौशेय (जो कोशकार देश में बनता था) और चीनपट्ट (चीनभूमिजाः) भी इसी प्रकार के कपड़े थे। बी० आर० आर० दीक्षितार का मत है कि चीन शब्द का सम्बन्ध शीन से है जो गिलगित में रहनेवाली एक जाति का नाम था जो रेशम तैयार करने के लिए प्रसिद्ध थी (मौर्यन पालिटी पृष्ठ ७)।

सूती कपड़ा : सबसे अच्छा सूती कपड़ा इन स्थानों में बनता था : पाण्ड्य देश की राजधानी मधुरा, अपरान्त (कोंकण), कलिंग, काशी, बंग, वत्स, कुतप देश की राजधानी माहिष्मती।

नगरों का जीवन : ग्राम्य जीवन की भांति नगरों के जीवन में भी नगरवासियों को नाना प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं। इनकी व्यवस्था विभिन्न प्रकार की अनेक संस्थाएँ करती थीं। हर शहर में यात्रियों के लिए धर्मशालाएं (धर्मावसथ), कलाकारों (शिल्पी) तथा दस्तकारों के काम करने के लिए कारखानें, दूकानें, शराब बेंचनेवाले (शौण्डिकाः), भोजनालय जहाँ पका हुआ मांस (पक्वमांस), चावल (ओदन) तथा टिकियाँ (आपूप) मिलती थीं और मदिरालय (पानशाला) होते थे। नाना प्रकार के सार्वजनिक मनोरंजन की व्यवस्था रहती थी जैसे—नाटक (प्रेक्षा), गान तथा वाद्य, संगीत, अभिनय, नृत्य, बाजीगरी (कुशीलव), जादू (कुहक), कहानी सुनाने, वक्तृता, नटों के करतब, चित्रकला आदि के प्रदर्शन। इन सब कार्यक्रमों में राज्य की ओर से चलाई जानेवाली कला पाठशालाओं में प्रशिक्षण पाए हुए विभिन्न वर्गों के कलाकार भाग लेते थे (II ११ II २७ IV ४)।

नगर की विद्या तथा संस्कृति का प्रतिनिधित्व वे लोग करते थे जो अपने ज्ञान, अपनी वक्तृता की क्षमता और अपनी आध्यात्मिकता के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके होते थे (विद्या-वाक्य-धर्म-शूर) (XIII ५)। इन सबका संरक्षण-

पोषण के लिए राज्य की ओर से अनुदान तथा सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया किया जाता था। हम पहले ही बता चुके हैं कि धर्म तथा विद्या की सेवा करने वाले लोगों को राज्य की ओर से हमेशा के लिए कर-मुक्त भूमि दान के रूप में दी जाती थी (अदण्ड-कराणि ब्रह्मदेयानि) इनमें से लाभ पाने वाले (१) ऋत्विक (२) आचार्य ( ) पुरोहित और (४) श्रोत्रिय (II १) नगर के संगीत व अध्यापकों (आचार्याः गन्धर्वाचार्याः) और विद्वानों (विद्यावन्त) को सम्मान के रूप में राज्य की ओर से वेतन (पूजावेतनानि) मिलता था इनकी सेवाएँ हर समय सर्व-साधारण को उपलब्ध रहती थीं (सर्वोपस्थायिन)। यह वेतन योग्यता के अनुसार (यथार्ह) दिया जाता था (\ १)।

सिक्के मौर्य साम्राज्य का आधार धन-धन था।

साहित्यिक रचनाओं में जितने प्राचीन समय से सिक्कों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है उतने पुराने सिक्के अभी तक नहीं मिले हैं।

वेदों में सिक्के के लिए निष्क शब्द का प्रयोग किया गया है (ऋग्वेद I १२६ २)।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस बात का उल्लेख किया गया है कि याज्ञवल्क्य को १ • गायों की सींगों में ५-५ सोने के पाद लटकाकर, अर्थात् सब मिला कर १०• पाद दान में दिए गए थे। कदाचित् अष्टाप्रुत (काठक संहिता अध्याय XI १) या शतपथ जैसे शब्दों में जिसका अर्थ १ कृष्णला के बराबर भार" बताया गया है (शतपथ ब्राह्मण V ५,५,१६) सोने के वजन तथा कदाचित स्वर्ण-मुद्रा का संकेत मिलता है। शतमान ब्राह्मण में (XII २,३ २) इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि यज्ञ की दक्षिणा हिरण्य (सोने) के रूप में दी जाती थी या तो सुवर्ण के रूप में या शतमान के रूप में।

हमें इस बात के भी उल्लेख मिलते हैं कि सोना (हिरण्य) सिन्धु जैसी नदियों में से (ऋग्वेद X ७५,८) या पृथ्वी के गर्भ से (अथर्ववेद XII १ ६ २६ ४४) या कच्ची धातु को गलाकर (शतपथ ब्राह्मण VI १ ३ ५) या स्वर्ण मिश्रित बालू को धोकर (शतपथ ब्राह्मण II १ १ ५) निकाला जाता था।

पाणिनि ने (लगभग ५ ई पू) अपने व्याकरण में इस बात की पुष्टि की है कि सिक्कों के लिए वेदों में प्रयुक्त इन शब्दों में से कुछ शब्द बाद तक भी इस्तेमाल किए जाते रहे। पाणिनि ने निष्क शतमान तथा सुवर्ण नामक सोने के सिक्कों का उल्लेख किया है। जब निष्क के हिसाब से चीजों का मूल्य बताया होता था तो उन्हें नैष्किक द्विनैष्किक आदि कहा जाता था (V १ २ ३)। जिस आदमी के पास १ निष्क होते थे उसे नैष्क-शातिक और जिसके पास हजार होते थे उसे नैष्क-साहस्रिक कहते थे (V २,११९)।

जो चीज १ शतमान की खरीदी जाती थी उसे शातमानम् (V १ २७) कहते थे।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है, कि बनारस के श्री दुर्गा प्रसाद ने इस बात का निश्चित रूप से पता लगाया कि तक्षशिला की खुदाई में पाई गई सबसे पुरानी सतहों में चाँदी के जो २९ सिक्के पाए गए थे उनमें से प्रत्येक का भार १   रत्ती (= १८ ग्रेन) था। श्री दुर्गा प्रसाद ने चाँदी की आहत मुद्राओं का विशेष रूप से अध्ययन किया था और उस समय तक जो सिक्के पाए गए थे उनमें से हजारों उनके हाथ से गुजरे थे। उनकी इस खोज को दृष्टि में रखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि ये सिक्के फ़ारस के दोहरे सिगलोई नामक सिक्के थे जिनका उल्लेख आगे चलकर किया गया है क्योंकि फ़ारस के सिगलोई सिक्कों का भार ८६.४५ ग्रेन से अधिक नहीं होता था और दोहरे सिक्के का भार ७२.९ ग्रेन होता था। इसलिए हम यह मानने पर विवश हैं कि ये यहीं के सिक्के थे जिन्हें हमारे ग्रन्थ में शतमान का नाम ठीक ही दिया गया है। यह बात भी मान लेना उचित होगा कि ये सिक्के दशमलव प्रणाली के अनुसार बनाए जाते थे। शतमान के और छोटे भाग होते थे जिन्हें पाद कहते थे खुदाई में जो चौकोर-से चौड़-चौड़े टुकड़े पाए गए हैं जिन पर ४ चिह्न अंकित हैं और जिनमें से प्रत्येक का भार २५ रत्ती अर्थात् शतमान के भार का १।४ है, वे कदाचित् पाद नामक सिक्के ही होंगे।

पाणिनि ने ऐसी वस्तुओं का भी उल्लेख किया है जिनका मूल्य सुवर्ण नामक सिक्कों में आँका जाता था (IV ३ १५३ VI २,५५)।

पाणिनि ने शाण नामक ताँबे के सिक्के का भी उल्लेख किया था (V १ ३५)।

चरक-संहिता (कल्प-स्थान XII २८९) में १ शाण को ४ माषे के बराबर बताया गया है।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कौटिल्य ने १ सुवर्ण को १६ माष के बराबर और सुवर्ण के एक पाद को ४ शाण अर्थात् १ शाण के बराबर माना है (II १४)।

कार्षापण से जो प्राचीन भारत का प्रतिष्ठित सिक्का था पाणिनि भली भाँति परिचित थे   उन्होंने कार्षापण के हिसाब से चीजों के क्रय-विक्रय का उल्लेख किया है (V १ २१ २७ २९ ३४)।

पाणिनि कार्षापण के १।२ (अर्ध) तथा १।४ (पाद) मूल्य के सिक्कों से भी परिचित थे (V १ ४८ ३४)।

प्रामाणिक मुद्रा के रूप में कार्षापण चाँदी का बना होता था। कौटिल्य

में इसी अर्थ में पण शब्द का प्रयोग किया है।

पाणिनि माष नामक एक छोटे सिक्के से भी परिचित थे (V २ ३४)। कौटिल्य ने माष को कार्षापण के सोलहवें भाग के बराबर माना है और यह भी कहा है कि यह तांबे का सिक्का होता था (II १९)। यदि यह चान्दी का बनाया जाता तो बहुत छोटा होता हालांकि तक्षशिला जैसे कुछ स्थानों में चांदी के माष भी पाए गए हैं। इसलिए तांबे के सिक्के के रूप में उसके और छोटे भाग भी होते थे १।२ माषक १ काकणि = १।४ माष और १।२ काकणि = १।८ माष। काकणि तथा अर्धकाकणि का उल्लेख कात्यायन (V १ ३३ पर वार्तिक) तथा पतञ्जलि ने भी किया है।

उस कार्षापण के लिए, जिसके बीस भाग होते थे पाणिनि ने विंशतिक शब्द का भी प्रयोग किया है। कौटिल्य द्वारा उल्लिखित १६ भागों वाले कार्षापण के साथ ही देश के कुछ भागों में यह सिक्का भी चलता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्री दुर्गा प्रसाद को ४० तथा ६० रत्ती के सिक्के भी मिले थे जो २० तथा ३० माष के बराबर हुए, क्योंकि १ माष दो रत्ती चांदी के बराबर होता है। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि ये वही सिक्के थे जिन्हें पाणिनि ने अपने समय की प्रचलित शब्दावली में विंशतिक तथा त्रिंशतिक कहा है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि विनयपिटक (अट्ठकथा II पराजिक) से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि "उस (बिम्बिसार या अजातशत्रु के) समय में राजगृह में बीस माषक का कार्षापण चलता था' (वीसतिमासको कहापणो) जिसका पाद पांच माषक होता था। बुद्धघोष ने अपनी समन्तपासादिका में इस सिक्के को नीलकहापण कहा है और साथ ही यह भी कहा है, कि साम्राज्य की राजधानी में जो सिक्का चलता था वही उसके सभी प्रान्तों में भी (सब्बजन पदेपु) चलन लगता था। यह भी कहा गया है कि यह सिक्का प्राचीन प्राविधिक मुद्रा-शास्त्र (पुराण-शास्त्र) में दिए गए विवरण के अनुकूल बनाया गया था (बुद्धिस्टिक स्टडीज में श्री० डी चटर्जी का लेख पृष्ठ ३८४ ३८६)।

पतञ्जलि ने (पाणिनि की व्याख्या १ २ ६४) इस बात का उल्लेख किया है कि १६ माष का कार्षापण २ माष के कार्षापण से जिससे वह स्पष्टतः भली भांति परिचित थे अधिक पुराना (पुराकल्प) था। कौटिल्य इस पुराने कार्षापण से अपने समय की मुद्रा के मानदंड के रूप में परिचित था पर उसने धरण नामक चांदी के एक और सिक्के का भी उल्लेख किया है जिसके २० भाग होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानीय रूप से देश के विभिन्न भागों में दोनों ही प्रकार के कार्षापण चलते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि

ऊपर जिन बौद्ध ग्रन्थों का हवाला दिया गया है उनमें २ माष के सिक्के को १६ माष के सिक्के की अपेक्षा अधिक पुराना बताया गया है।

भारत के विभिन्न भागों में चांदी के कार्षापण के हजारों सिक्के पाए गए हैं उनमें से प्रत्येक का औसत वजन ३२ रक्तिका (=५६ ग्रेन) है। यह कौटिल्य, मनु (VIII १३५) या याज्ञवल्क्य (I ३६४) द्वारा बताए गए मानदंड के अनुरूप है। सारसंग्रहीमणि में भी यही मानदंड बताया गया है जिसमें 'पद्मटंक' नामक सिक्के (=४२ ग्रेन) का भार पुराण (पुराने) कार्षापण के ३/४ के बराबर बताया गया है (बुद्धिस्टिक स्टडीज में सी. डी. चटर्जी का लेख पृष्ठ ३८४-८६)।

पाणिनि ने रूप्य (V २ १२०) शब्द का प्रयोग किया है और उससे बनने वाले रूप्य शब्द का अर्थ 'सुंदर' अथवा 'मुहर लगा हुआ' (आहत) बताया है। बाद में अर्थ में यह शब्द सिक्के के लिए इस्तेमाल होता है। अर्थशास्त्र में रूप शब्द का प्रयोग केवल सिक्के के अर्थ में किया गया है और उसमें रूपदर्शक अर्थात् "सिक्कों की जाँच करनेवाले" एक पदाधिकारी का उल्लेख भी किया गया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि पतञ्जलि ने पाणिनि के एक सूत्र (I ४५२) के वार्तिक पर टीका करते हुए रूपतर्क का उल्लेख किया है जो कार्षापणों की जाँच करता है (दर्शयति)। यह बात भी बतलाने लायक है कि कौटिल्य ने चांदी तथा तांबे के सिक्कों के लिए रूप्यारूप तथा ताम्ररूप शब्दों का प्रयोग किया है।

अब हम अब तक पाए गए प्राचीन भारतीय सिक्कों पर विचार करेंगे।

सबसे पुराने सिक्के उत्तर-पश्चिम में भारत के उन हिस्सों में पाए गए हैं जो ईसा-पूर्व छठी तथा पांचवीं शताब्दियों में एकेमेनियन-पर्शियन (Achaemenian Persian) साम्राज्य के भाग थे। इनमें से कुछ सिक्के तक्षशिला की खुदाई के समय एक पुरानी परत में डियाडोटस (२५० ई. पू.) के एक सिक्के के साथ पाए गए थे और एक दूसरी परत में सिकंदर महान के सिक्कों के साथ जो देखने में ऐसे लगते थे मानो "अभी टकसाल से बनकर आए हों" और चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व के एकेमेनिड सिगलोस के साथ भी ये सिक्के पाए गए थे। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं इनका औसत भार १०० रत्ती (=१८० ग्रेन है)। सिक्कों का भार १४५ ग्रेन होना था क्योंकि ऐटिक १७५ मानदंड के बराबर था।

ये सिक्के "मोटे तथा चांदी की कुछ वक्राकार छड़ों के रूप में हैं जिन पर चक्र या सूरज की शक्ल के चिह्न बने हैं जो छ बाहों वाले उस प्रतीक-चिन्ह से बहुत मिलते जुलते हैं जो बाद की चांदी की बहुत मुद्राओं पर बना होता

था । ये सब सिक्के एक ही प्रकार के हैं (एलन कैटेलाग आफ दि क्वायन्स आफ एंशेन्ट इंडिया XI, XVII) ।

कदाचित् तक्षशिला के राजा अम्भि ने इन्हीं सिक्कों के रूप में सिकन्दर को वह उपहार दिया था जिसे यूनानी लेखकों ने ८० टैलेन्ट चाँदी के भिन्न लिखा है (कर्टियस VIII १२४२) ।

दुर्गा प्रसाद के मतानुसार (जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल मुद्रा-शास्त्र परिशिष्ट, XLVII पृष्ठ ७१) प्राक् मौर्यकाल में पुराने सिक्के १०० रत्ती के मानदंड के आधार पर बनाए जाते थे, जबकि बाद में मौर्यकाल के सिक्के ३२ रत्ती के मानदंड के आधार पर बनाए जाते थे । इससे विनयपिटक में उल्लिखित इस तथ्य की पुष्टि होती है कि २० मषक का पुराना कार्षापण वजन में हल्का होता था ।

इसके बाद गोलकपुर में जहाँ पर प्राचीन पाटलिपुत्र नगर बसा हुआ था सिक्कों का एक ढेर पाया गया । ये चाँदी की प्राचीनतम ज्ञात आहत मुद्राएँ हैं । इन्हें मौर्यकाल से पहले की कदाचित् नन्दवंश की मुद्राएँ बताया जाता है । इन पर मौर्यकाल से पहले का एक प्रतीक-चिन्ह 'एक पहाड़ी पर खड़ा हुआ कुत्ता' बना हुआ है जिसे हम नन्दवंशीय राजाओं का प्रतीक-चिन्ह मान सकते हैं । यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से बहुत-से सिक्कों पर मौर्यों ने स्वयं अपने प्रतीक-चिन्ह की मुहर लगाकर उन्हें कौटिल्य के शब्दों में कोश-प्रवेश्य अर्थात् 'बैंक चलमुद्रा' बना दिया था। सर्वसाधारण के बीच व्यापारिक लेन-देन के लिए जो सिक्के प्रचलित थे वे इनसे भिन्न थे और उन्हें कौटिल्य ने व्यावहारिकी पण्य-यात्रा की उचित संज्ञा दी है जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आए हैं। स्मरणीय है कि काशिका में इस बात का उल्लेख मिलता है कि नन्दवंश के राजाओं ने अपना एक मानदंड प्रचलित किया था (नन्दोपक्रमाणि मानानि) (II ४ २१ VI २ १४) और प्राचीन साहित्य में उनकी अकूत धन-सम्पत्ति का जो उल्लेख मिलता है उसका रहस्य कदाचित् उनके चलाए हुए सिक्कों तथा उनकी मुद्रा-व्यवस्था में निहित था ।

तिथि क्रम के अनुसार गोलकपुर में पाए गए सिक्कों के बाद पंजाब से लेकर मालवा तक और मध्यप्रदेश से लेकर बंगाल तक बल्कि मद्रास तथा मैसूर तक भारत के विभिन्न भागों में हजारों की संख्या में चाँदी की आहत मुद्राएँ मिली हैं इन पर अंकित अलग-अलग प्रतीकों तथा चिन्हों के अनुसार इन्हें छः श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है । फिर भी ये सभी पण या धरण की तरह ३२ रत्ती (= ५६ ग्रेन) के एक ही मानदंड के आधार पर ढाले गए हैं । इन सब में एक और विशेषता समान रूप में यह पाई जाती है कि "इनमें एक ओर

नियमित रूप से पांच चिन्ह विभिन्न प्रकारों में पाए जाते हैं और दूसरी ओर एक या एक से अधिक चिन्ह अंकित हैं जो आमतौर पर दूसरी ओर के चिन्हों से भिन्न हैं" (वही, XIII) ।

इन सिक्कों में सामने की तरफ से पांच आकृतियां अंकित हैं (१) सूर्य (२) (टारिस) षट्भुजी एक वृत्त ३ तीर की नोकें और ३ छत्र राशि (टारिस) के चिन्ह (३) पर्वत (४) पहाड़ी पर मोर, कुत्ता (या खरगोश) या वृक्ष (५) हाथी बैल खरगोश को पकड़े हुए कुत्ता या गैंडा आदि पशु और किसी-किसी में मछलियाँ तथा मेंढक भी कुछ सिक्कों में एक घेरे के भीतर पवित्र वृक्ष भी दिखाया गया है (जो कदाचित बौद्ध प्रभाव का द्योतक है जो मौर्य सम्राट् अशोक के समय तक बहुत व्यापक रूप से फैल चुका था) । (वही XX तथा उसके आगे के अध्याय)।

इन सिक्कों में पीछे की ओर जो चिन्ह अंकित हैं, वे केवल उनकी जांच करते समय विभिन्न अधिकारियों तथा जौहरियों द्वारा अंकित किए गए चिन्ह हैं । हम इस बात को मान सकते हैं कि जिस सिक्के पर इस प्रकार के जितने ही अधिक चिन्ह अंकित हैं वह सिक्का उतना ही पुराना होगा । इस आधार पर कदाचित् इन सिक्कों की तिथि का पता लगाया जा सकता है ।

ध्यान देने की बात है कि कौटिल्य ने टकसाल के जिस प्रधान अधिकारी लक्षणाध्यक्ष का उल्लेख किया है उसका काम सम्राट् के सिक्कों पर लक्षण अंकित करवाना था । प्रचलित मुद्रा की समय-समय पर जांच भी करनी पड़ती थी और यह काम रूपदर्शक का था जो हर बार जांच करने के बाद उन पर अपनी मुहर अंकित कर देता था । इसका अर्थ यह था कि सिक्के के पीछे की ओर परीक्षण के बाद लगायी जानेवाली इन मुहरों की संख्या बढ़ती जाती थी इन मुहरों की अधिकतम संख्या अब तक चौदह है । जिन पर इनसे अधिक मुहरें लगी हैं, वे सिक्के देखने में अधिक पुराने तथा घिसे हुए लगते हैं ।

इन प्रतीकों तथा अंकित चिह्नों का अर्थ पूरी तरह समझना कठिन है । उनका कोई अर्थ अवश्य है इसका पता बुद्धघोष की रचनाओं से लगता है जिसने समन्तपासादिका में इस बात का उल्लेख किया है कि मुद्रा-शास्त्र के प्राचीन ग्रंथ रूपसूत्र में यह बताया गया है कि कोई भी मुद्रा विशेषज्ञ (हेरञ्ञको) किसी सिक्के पर अंकित चिह्नों को देखकर यह बता सकता था कि वह सिक्का किस गांव निगम अथवा नगर में और यहाँ तक कि किस टकसाल में ढाला गया है और यह भी बता सकता था कि वह गांव नगर अथवा निगम 'किसी पहाड़ी पर स्थित है या नदी के तट पर' (नदीतीरे वा) (बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ४३२) । सिक्कों पर अंकित इन रहस्यमय चिह्नों को बुद्धघोष ने विद्ध-विचित्र अर्थात्

"भाषा वर्गों तथा आकृतियों" का बताया है (बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ४१२)। उपालि नामक बालक की माता को इस बात की चिन्ता थी कि यदि उसके बेटे ने सर्राफ़ का पेशा अपनाया तो उसकी आँखें खराब हो जाएँगी (महावग्ग सेक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट XIII २०१)। सच तो यह है कि यदि आज भी कोई इन प्राचीन भारतीय सिक्कों पर अंकित रहस्यमय चिह्नों का अर्थ लगाने का प्रयत्न करे तो उसकी आँखें खराब हो जाएँगी क्योंकि प्राचीन रूपसूत्र उपलब्ध न होने के कारण इन रहस्यों को समझने की कुंजी खो गई है।

इन सिक्कों को भिन्न छः वर्गों में विभाजित किया गया है उनमें से दूसरे तथा छठे वर्गों का एक-दूसरे से अधिक निकट सम्बन्ध है और नीचे विस्तारपूर्वक बताए गए आधार पर उन्हें मौर्यकालीन माना जा सकता है। वास्तव में भारत के विभिन्न भागों में पाए गए चाँदी की इन आहत मुद्राओं पर बने हुए विविध प्रतीकों तथा चिह्नों के आधार पर, और इस साक्षी के आधार पर कि ये सिक्के ईसा-पूर्व चौथी तीसरी तथा दूसरी शताब्दियों में देश में प्रचलित थे यही निष्कर्ष निकलता है कि "ये सिक्के मौर्य साम्राज्य के थे। 'इस बात में तो तनिक भी संदेह नहीं है कि इन सिक्कों को अलग-अलग लोग निजी तौर पर नहीं बल्कि कोई शासनाधिकारी जारी करता था। केवल एक केंद्रीय शासनाधिकारी ही नियमित क्रम से सिक्कों को अंकित करने की स्पष्ट इतनी जटिल पद्धति को बना सकता था परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि हमें इस रहस्य की कुंजी मिल जाए तो यह पद्धति बिल्कुल सरल मालूम होगी।

"इन सिक्कों में से हर एक पर सामने की तरफ़ पाँच प्रतीकों का होना स्वाभाविक रूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि इन सिक्कों को जारी करने वाले मंडल के पाँच सदस्य रहे होंगे मेगास्थनीज ने भी यही बताया है कि मौर्य प्रशासन के अधिकांश विभागों की बागडोर पाँच आदमियों के एक मंडल के हाथ में रहती थी। परन्तु यह मानना कठिन है कि ये प्रतीक-चिह्न उन पाँच अधिकारियों के प्रतीक-चिह्न हैं जो इन सिक्कों को जारी करते थे क्योंकि सूर्य तथा छः भुजाओं वाले प्रतीक-चिह्न तो नाना प्रकार के सिक्कों पर पाए जाते हैं। ये चिह्न यद्यपि एक ही ठप्पे से नहीं अंकित किए जाते थे पर वह एक ही समय पर अवश्य अंकित किए जाते थे। संभव है कि ये पदाधिकारियों की एक ऐसी शृंखला के द्योतक हों जिनका अधिकार-क्षेत्र क्रमशः एक-दूसरे से कम हो। अंतिम और सब से अधिक बदलने वाला प्रतीक-चिह्न उस पदाधिकारी का होता होगा जो वास्तव में इन सिक्कों को जारी करता था। सब सिक्कों पर पाया जानेवाला सूर्य का चिह्न सर्वोच्च पदाधिकारी का सम्भवतः स्वयं राजा का प्रतीक-चिह्न रहा होगा और उसके बाद जो चिह्न सबसे अधिक सिक्कों पर पाया गया है

स. मुर्वांगों द्वारा प्रतीक चिह्न के विभिन्न रूप यह कदाचित् इस क्रम में उसके बाद के सब से ऊँचे पदाधिकारी का प्रतीक-चिह्न रहा होगा" (देखिए जर्नल आफ दि रायल एमिमाटिक सोसायटी आफ बंगाल XX,XXI)।

वर्ग २ के समूह II तथा उसी वर्ग के समूह IV के सिक्कों पर एक पहाड़ी पर मोर का जो चिह्न अंकित है समूह IV के सिक्कों पर तो यह चिह्न और पट दोनों तरफ अंकित है उनसे इस बात की कदाचित् और पुष्टि होती है कि इन सिक्कों का सम्बन्ध मौर्यों से है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है मोर मौर्य राजवंश का प्रतीक-चिह्न था। हम इस बात को भी ध्यान में रखें कि इन सिक्कों पर जितने भी पशुओं के चिह्न अंकित हैं उनमें हाथी सबसे प्रमुख है जो कि मौर्यों की सैनिक शक्ति का मुख्य अंग था।

दुर्गा प्रसाद का विचार है कि 'पहाड़ी के शिखर पर नवोदित चन्द्रमा' का जो चिह्न है वह मोर के अतिरिक्त मौर्यों का दूसरा विशिष्ट प्रतीक-चिह्न था। उन्होंने बताया है कि सारे देश में पाए गए चाँदी के सिक्कों में अधिकांश पर और प्रमाणित मौर्य स्मारकों पर यह प्रतीक-चिह्न पाया जाता है (जैसा कि पहले बताया जा चुका है)। पटना में कुम्रहार नामक स्थान पर खुदाई में जो मौर्य स्तम्भ निकला था उसके नीचे भी यह प्रतीक-चिह्न बना हुआ है। सोहगौर के ताम्र-पट्ट पर, जो लगभग ३२ ई. पू. का है भी यह प्रतीक-चिह्न मौजूद है इस ताम्र-पट्ट पर अंकित लेख में बताया गया है कि अकाल के समय सार्वजनिक अन्न भंडार से अन्न बाँटा जाता था जिस व्यवस्था का उल्लेख जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कौटिल्य ने भी किया। अंतिम बात यह कि हाल ही में बुलंदीबाग में उस स्थान पर जो खुदाई हुई है,जहाँ प्राचीन पाटलिपुत्र नगर बसा हुआ था उसमें तीन मिट्टी के पट्ट ऐसे पाए गए हैं, जिन पर लगी हुई मुहर में भी तीन अन्य प्रतीक-चिह्नों के साथ यह प्रतीक-चिह्न भी मौजूद है। खुदाई में जिस स्तर पर ये पट्ट पाए गए हैं वह मौर्यकालीन है। इस मुहर को मौर्य सम्राट् की मुहर स्वीकार मानने के मामले में जायसवाल दुर्गा प्रसाद से सहमत हैं। कौटिल्य के अनुसार सम्राट् की समस्त सम्पत्ति पर, जैसे हथियारों पर (२ ३) या पशुओं पर (II २९) यह मुहर लगा दी जाती थी (१९३३ में बड़ौदा की ओरिएण्टल कान्फ्रेंस में सभापति के पद से जायसवाल का भाषण)।

दुर्गा प्रसाद ने ही यह बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव भी रखा है कि जब भी किसी सिक्के में पट बाज पहाड़ी के शिखर पर उगता चंद्रमा का प्रतीक-चिह्न या मोर का प्रतीक-चिह्न मौजूद हो तो यह समझना चाहिए कि वह सिक्का मौर्यकाल से पहले का है, जिसे मौर्यवंश के राजाओं ने दुबारा अपनी मुहर लगवाकर चलाया

था (जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल मुद्राशास्त्र परिशिष्ट पृष्ठ ६७)।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है उपर्युक्त भांति के सिक्कों का विभाजन जिन छः वर्गों में किया जा सकता है, उनमें से वर्ग २ तथा ६ के सिक्के मौर्य कालीन माने जाते हैं। "लगभग सभी एक ही जैसी धातु के बने हुए हैं हालांकि उनका रंग-रूप तथा बनावट बहुत भिन्न है वर्ग २ के सिक्के छोटे तथा मोटे हैं और वर्ग ६ के सिक्के बड़े तथा पतले हैं। फिर भी इन दोनों वर्गों का निरन्तर एक दूसरे से सम्बन्धित किया जाना आश्चर्य की बात है। यह पता लगा है कि इन दोनों ही वर्गों के सिक्के 'पंजाब में लेकर गोदावरी के महान तट और पश्चिम में पालनपुर से लेकर पूरब में मिदनापुर तक' एक साथ चलन थे। इनमें जो अंतर है वह स्थान का अंतर नहीं है। एक ही शासन-सत्ता उन्हें अपने अधिकार-क्षेत्र के सभी स्थानों के लिए प्रचलित सिक्कों के रूप में जारी करती होगी। जिस सत्ता ने ये सिक्के जारी किए थे उसका शासन गंगा की घाटी तथा सिंधु घाटी के ऊपरी भाग पर रहा होगा उसने अपना राज्य यमुना की सहायक नदियों के किनारे-किनारे पश्चिम में फैला लिया होगा और पूरे समुद्रतट के किनारे किनारे उड़ीसा से होते हुए वह बहुत दूर तक दक्षिण में पहुँच गया होगा। जिन स्थानों में ये सिक्के पाए गए हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है" (जेम्स जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल,IV VI)। जिन स्थानों में ये सिक्के पाए गए हैं वहीं अशोक के स्तम्भ भी पाए गए हैं और इस प्रकार उनसे निश्चित रूप में यह संकेत मिलता है कि इन दो वर्गों के सिक्के जिनके बीच इतना निकट सम्बन्ध है मौर्य साम्राज्य ने ही जारी किए होंगे।

विदेशी सिक्के चूंकि पंजाब का एक भाग प्राचीन फ़ारस के एकमनियन (हखामनि) सम्राटों के राज्य का अंग बन गया था इसलिए उनकी विजय के बाद भारत में उनकी मुद्रा का आना स्वाभाविक बात थी। परन्तु भारत में पाए गए फ़ारस के सिक्कों से इस बात को सिद्ध करना आसान नहीं है।

प्राचीन फ़ारस का प्रामाणिक सोने का सिक्का डेरिक था जिसका भार लगभग १३ ग्रेन होता था इस सिक्के को पहले-पहल कदाचित् सम्राट् दारा ने बनवाया था जिसने सिंधु की घाटी को सब से पहले अपने साम्राज्य का अंग बनाया था। इस सिक्के पर सामने की तरफ़ इस महान सम्राट् का चित्र बना है जिसमें उसे हाथ में धनुष तथा भाला लिए हुए अपने राज्यों के विजय-अभियान की क्रिया में दिखाया गया है।

परन्तु फ़ारस का सोने का सिक्का एक महत्वपूर्ण आर्थिक कारण से भारत में व्यापक रूप से प्रचलित न हो सका। वह कारण यह था कि भारत सोने के

बाहुल्य के लिए प्रसिद्ध था यहाँ तक कि यहाँ सोने का भाव चाँदी का केवल आठ गुना था जब कि फारस की शाही टकसाल ने सोने का भाव १३ ३ गुना तै कर रखा था। इस प्रकार जो डेरिक सिक्के भारत में आ भी जाते थे उनका मूल्य अनावश्यक रूप से बढ़ा-चढ़ा प्रतीत होता था और वे भारत की मुद्रा व्यवस्था का अंग नहीं बन पाते थे और फौरन उनका निर्यात कर दिया जाता था। फिर इन डेरिक सिक्कों को भारत में चलाने से कोई लाभ भी नहीं था क्योंकि दूसरी जगहों पर उनके बदले में ज्यादा चाँदी मिल सकती थी। इसलिए फारस के सोने के सिक्के भारत में बहुत बड़ी संख्या में नहीं पाए गए हैं।

इन्हीं के साथ के फारस के चाँदी के सिक्के सिगलोइ या शेकेल्स कहलाते थे ये बीस सिक्के एक डेरिक के बराबर होते थे। उनका वजन लगभग ८६ ४५ ग्रेन होता था। इस प्रकार के चाँदी के सिक्के भारत में आते थे क्योंकि यहाँ उनका मूल्य अधिक था और उनके बदले में अधिक सोना मिल सकता था। भारत में बहुत-से सिगलोइ नामक सिक्के मिले हैं, जिन पर बाद में कुछ विचित्र-से चिह्न भी अंकित किए गए थे। ये चिह्न उन चिह्नों से बहुत मिलते-जुलते हैं जो भारत के प्राचीनतम स्थानीय आहत मुद्राओं के रूप में चलनेवाले चाँदी के चौकोर टुकड़ों पर पाए गए हैं।

परन्तु सिकंदर द्वारा डेरियस तृतीय का तख्ता उलट दिए जाने के बाद फ़ारस के सिगलोइ नामक सिक्कों का अस्तित्व बहुत दिनों तक नहीं रहा।

पंजाब पर फ़ारस की विजय के बाद यूनानियों ने उस पर विजय प्राप्त की जो बहुत ही थोड़े समय तक रही। पंजाब पर सिकंदर के आक्रमण का प्रभाव केवल यही हुआ कि उसने देश की एकता को और भी दृढ़ रूप से स्थापित कर दिया। छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर एक बड़ा राज्य बनाया गया जो सिकंदर ने अपने भूतपूर्व शत्रु पोरस को भेंट कर दिया। भारतीय आक्रमण का एक और प्रभाव यह हुआ कि स्वतंत्र जातियों ने अपने संघ बनाने आरंभ किए, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जैसा कि पहले देख चुके हैं इन संधियों ने चंद्रगुप्त मौर्य के लिए अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करने का मार्ग प्रशस्त किया।

इस बात का सही-सही पता लगाना कठिन है कि इस यूनानी सम्पर्क का भारतीय सिक्कों पर कोई प्रभाव पड़ा भी कि नहीं। इसमें तो संदेह नहीं कि डेरियस चतुर्थ के बाद फ़ारस के सिगलोइ का लोप हो जाने से यूनानी प्रभाव के लिए मार्ग बिल्कुल खुल गया। परन्तु यह प्रभाव बहुत धीरे-धीरे ही प्रकट हुआ।

एथेन्स के 'उल्लू' के चिह्न वाले सिक्कों की नकल पर सबसे पहले सिक्के उस समय बने जब मकदूनिया का सितारा ऊँचाई पर था परन्तु राजलिपि

में पाए गए इन सिक्कों के जो नमूने ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखे हैं वे भारत के बने हुए नहीं बल्कि मध्य एशिया के हैं।

भारत में जो यूनानी सिक्के पाए गए हैं वे टेट्राड्राम हों या डाइड्राम या ड्राम उनके बारे में भी यह सिद्ध नहीं किया जा सका है कि वे भारत के बने हुए सिक्के हैं। ऐटिक मानक के अनुसार जो असली ड्राम बनाया जाता था उसका भार ६७.५ ग्रेन होता था जब कि भारत में पाए गए ड्राम का भार ५८ ग्रेन से अधिक नहीं है। इसके अतिरिक्त इन छोटे मुख्य के सिक्कों में ड्राम में भी और डायोबोल में भी एथेन्स के उल्लू के स्थान पर मयूर (ईगिल) का चिन्ह बना हुआ है। कनिंघम को पंजाब में एटिक मानक के अनुसार बनाए गए जो चाँदी के ड्राम के सिक्के मिले हैं उनसे कदाचित् यह सिद्ध होता है कि भारत के उत्तर में एथेन्स के छोटे सिक्कों की नकल पर सिक्के बनाए जाते थे। इन सिक्कों पर चित ओर एक योद्धा का चित्र बना है जो एक कसा हुआ टोप पहने है जिसके चारों ओर जैतून की पत्तियों की माला बनी है इस सिक्के पर पीछे की तरफ एक मुर्गा तथा यूनानी देवताओं के दूत मर्करी का प्रतीक-चिह्न बना है। इन सिक्कों को देखकर यह अनुमान होता है, कि ये इससे मिलते-जुलते एथेन्स के किसी सिक्के के नमूने पर बनाए गए थे। ऐसा माना गया है कि ये सिक्के सोफ़ाइट्स यानी सौभूति नामक राजा ने चलाए थे। यदि ऐसा है तो ये सिक्के भारत पर सिकंदर के आक्रमण का एक स्मारक हैं।

इस बात में संदेह है कि एक विजेता के रूप में सिकंदर ने भारत में अपने कोई सिक्के चलाए थे। कुछ सिक्के जिन पर सिकंदर का नाम मिलता है, भार तौल सिक्के माने जाते हैं जिनका सबसे अच्छा उदाहरण एक काँसे का सिक्का है। पर इसमें संदेह है कि ये सिक्के भारत में बनाए गए थे। रावलपिंडी में पाए गए बहुत-से चाँदी के टेट्राड्राम के सिक्के जिन पर जीयस तथा मकड़ और यूनानी सम्राटों का मुकुट बना था मध्य एशिया के बने हुए सिक्के थे। बाद में यही सिक्के ऐंटिओकस प्रथम ने जारी किए थे जिसका चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथों अपने पूर्वज सेल्यूकस की पराजय के बाद भारत से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन सिक्कों पर राजा की उपाधि अंकित नहीं है। परन्तु ब्रिटिश म्यूज़ियम में ऐटिक मानक के अनुसार बनाए गए चाँदी के डेकाड्राम का जो एक अनोखा नमूना रखा है उस पर राजा की उपाधि तथा उसका नाम दोनों ही अंकित हैं। इस सिक्के पर चित ओर एक घुड़सवार का चित्र बना हुआ है जिसके पास एक बरछी है पर वह बरछी चला नहीं रहा है वह एक भागते हुए हाथी का पीछा कर रहा है, जिसकी पीठ पर दो आदमी बैठे हुए हैं जो मुड़कर पीछा करनेवाले को देख रहे हैं। इस सिक्के पर पीछे की तरफ़

एक लम्बे-से आदमी का चित्र बना है जो गरदन तक की लोहे का टोप लम्बा-सा लबादा पहने है उसकी बगल में एक तलवार लटक रही है और हाथ में वह वज्र तथा भाला लिए हुए है। हील का कहना है कि यह चित्र स्वयं सिकन्दर का है। हील ने इस सिक्के पर सामने की तरफ बने हुए चित्र की व्याख्या इस प्रकार की है कि उसमें रणक्षेत्र से पोरस के पलायन का चित्रण किया गया है हाथी पर बैठा हुआ उसका साथी जो पीछे की तरफ बैठा है, पीछा करते हुए घुड़सवार पर भाले का निशाना लगा रहा है। यह झेलम की लड़ाई में शाही हाथी पर बैठे हुए पौरव का चित्र है जो तक्षशिला के विश्वासघाती राजा आम्भि पर, जो उसके पीछे घोड़ा दौड़ाए चला आ रहा है, भाला चला रहा है। इस घटना का वर्णन अरियन ने इस प्रकार किया है (अध्याय XVIII) "टैक्साइल्स घोड़े पर सवार था और वह उस हाथी के बिल्कुल निकट पहुँच गया जिस पर पोरस बैठा हुआ था और अपने को सुरक्षित समझ रहा था चूँकि अब पोरस के लिए भाग निकलना सम्भव नहीं था इसलिए टैक्साइल्स ने उससे हाथी को रोककर सिकन्दर द्वारा भेजा गया सन्देश सुनने का अनुरोध किया। परन्तु जब पोरस ने देखा कि जो आदमी उससे बात कर रहा था वह उसका पुराना शत्रु टैक्साइल्स है तो वह मुड़कर उसे अपने भाले से मौत के घाट उतार देने के लिए तत्पर हुआ और यदि टैक्साइल्स फ़ौरन अपना घोड़ा सरपट भगाता हुआ उसकी पहुँच से बाहर न हो गया होता तो कदाचित् वह उसे मार ही डालता।

नगर-निवेश वास्तुकला तथा ललित कलाएँ : यूनानी लेखकों के अनुसार उस समय पंजाब में ऐसे अनेक नगर थे जो निस्सन्देह उद्योग तथा आर्थिक समृद्धि के केंद्र थे। इनमें से कुछ का उल्लेख किलों तथा रक्षा-केन्द्रों के रूप में किया गया है जैसे अस्सकों के देश में स्थित मस्सग (मशकावती) या आओर्नोस (अरणा) के नगर। ग्लौग्लाइ नामक स्वतंत्र कबीले के राज्य-क्षेत्र में ३७ नगर थे और मल्लोइ आक्सीड्राकाइ आदि अन्य जातियों के इलाके में ५,००० नगर थे। इनमें से सबसे छोटे नगर में भी ५, ०० से कम आदमी नहीं रहते थे और कई शहरों की आबादी तो १   तक थी। कुछ गाँवों की आबादी शहरों की आबादी से कम नहीं थी" (मैक्रिंडिल इनवेजन आफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर पृष्ठ ११२)। स्ट्राबो के अनुसार (वही) झेलम तथा व्यास के बीच में बसी हुई नौ जातियों के राज्य में ५ ० शहर थे।"

तक्षशिला "एक विशाल तथा समृद्धिशाली नगर था वास्तव में वह सिंधु तथा झेलम के बीच के इलाके में सबसे बड़ा नगर था" (वही पृष्ठ ०२)।

कुछ नगर नगर-निवेश तथा वास्तु-कला और अपने दुर्गों की मजबूती की दृष्टि से सराहनीय थे।

उदाहरण के लिए मस्सग का निर्माण एक ऐसे किले के रूप में किया गया था जिसे अनेक प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। वह एक ऐसे ऊँचे स्थान पर बना था जिसके चारों ओर ऊँची ऊँची खड़ी चट्टानें खतरनाक दलदल गहरी जल-धाराएँ होने के कारण वहाँ तक पहुँचना असम्भव था। इन सब के अतिरिक्त उसकी रक्षा के लिए एक दीवार और उसके चारों ओर एक गहरी खाई बनाई गई थी। इस दीवार की "कुल परिधि लगभग ३५ स्टेडिया (= लगभग ४ मील) थी इसकी नींव पत्थर की थी जिस पर कच्ची ईंटों की दीवार बनाई गई थी। ईंटों की जुड़ाई को पत्थरों द्वारा बहुत मजबूत ठोस दीवार का रूप दे दिया गया था' (वही पृष्ठ १९५ (कटियस))।

आओर्नोस का किला भी इसी प्रकार एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ था। एक स्थान पर जल-स्रोत से इस किले के लिए पानी का प्रबंध किया गया था और पास ही के खेत में एक हजार लोग किले में रहनेवालों के लिए अनाज उगाते थे ताकि यदि किले पर घेरा डाल दिया जाए, तो वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके।

इस बात का उल्लेख मिलता है कि इन किलों की दीवारें तथा उनके पुश्ते इतने मजबूत थे कि सिकन्दर को "उनकी दीवारों को ध्वस्त करने के लिए फौजी इंजन लाने पड़े थे' (वही पृष्ठ ९७)।

कथाइयन जाति के लोगों का किले के रूप में बना हुआ सग्गल नामक एक नगर था जिसकी दीवारें ईंटों की बनी हुई थीं (वही पृष्ठ ११९)।

मल्लोई जाति के लोगों के भी कई नगर ऐसे थे जिनके चारों ओर दीवारें बनी हुई थी और इनमें ऊँचे तथा दुर्गम स्थानों पर किले बने हुए थे। सिकंदर को इन दीवारों पर चढ़ने के लिए चारों तरफ सीढ़ियाँ लगानी पड़ी थीं तथा उनमें सेंध लगाकर रास्ते बनाने पड़े थे। इन दीवारों में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मीनारें बनी हुई थीं। इन दीवारों पर चढ़ने का प्रयत्न करते समय चारों तरफ की पास की मीनारों पर से सिकंदर के सिपाहियों पर आक्रमण किया गया था। मीनारों के बीच में दीवारों में जो फाटक होते थे उनमें ब्योड़े लगे रहते थे। [वही पृष्ठ १४५ १४९ (अरियन)]।

मौर्यकालीन भारत के नगरों के बारे में मेगास्थनीज ने लिखा है "कहा जाता है कि उनके नगर इतने अधिक हैं, कि उनकी संख्या ठीक-ठीक बताई नहीं जा सकती। जो नगर नदियों के किनारे या समुद्रतट पर स्थित हैं, वे लकड़ी के बने हुए हैं क्योंकि जो नगर ईंटों के बनाए जाते हैं वे अधिक दिन तक नहीं चलते—क्योंकि जब वर्षा होती है और नदियों में बाढ़ आने पर उनका पानी मैदानों में भर जाता है तब ईंट के मकान बड़ी आसानी से बह जाते हैं। परन्तु

एक लम्बे-से आदमी का चित्र बना है जो परदन तक की लोहे का टोप लम्बा-सा लबादा पहने है उसकी बगल में एक तलवार लटक रही है और हाथ में वह बर्छा तथा माला लिए हुए है। हीड का कहना है कि यह चित्र स्वयं सिकंदर का है। हीड ने इस सिक्के पर सामने की तरफ बने हुए चित्र की व्याख्या इस प्रकार की है कि उसमें रणक्षेत्र से पोरस के पलायन का चित्रण किया गया है हाथी पर बैठा हुआ उसका साथी जो पीछे की तरफ बैठा है, पीछा करते हुए घुड़सवार पर भाले का निशाना लगा रहा है। यह झेलम की लड़ाई में शाही हाथी पर बैठे हुए पोरस का चित्र है, जो तक्षशिला के विश्वासघाती राजा आम्भि पर, जो उसके पीछे घोड़ा दौड़ाए चला आ रहा है, भाला चला रहा है। इस घटना का वर्णन अरियन ने इस प्रकार किया है (अध्याय XVIII) "टैक्साइल्स घोड़े पर सवार था और वह उस हाथी के बिल्कुल निकट पहुँच गया जिस पर पोरस बैठा हुआ था और अपने को सुरक्षित समझ रहा था चूंकि अब पोरस के लिए भाग निकलना सम्भव नहीं था इसलिए टैक्साइल्स ने उससे हाथी को रोककर सिकंदर द्वारा भेजा गया संदेश सुनने का अनुरोध किया। परन्तु जब पोरस ने देखा कि जो आदमी उससे बात कर रहा था वह उसका पुराना शत्रु टैक्साइल्स है तो वह मुड़कर उसे अपने भाले से मौत के घाट उतार देने के लिए तत्पर हुआ और यदि टैक्साइल्स फौरन अपना घोड़ा सरपट भगाता हुआ उसकी पहुँच से बाहर न हो गया होता तो कदाचित् वह उसे मार ही डालता।

नगर-निवेश वास्तुकला तथा ललित कलाएँ: यूनानी लेखकों के अनुसार उस समय पंजाब में ऐसे अनेक नगर थे जो निस्संदेह उद्योग तथा आर्थिक समृद्धि के केंद्र थे। इनमें से कुछ का उल्लेख किलों तथा रक्षा-केन्द्रों के रूप में किया गया है जैसे अस्सकों के देश में स्थित मस्सग (मशकावती) या आओर्नोस (वरना) के नगर। ग्लौस्साइ नामक स्वतंत्र कबीले के राज्य-क्षेत्र में १७ नगर थे और मस्सोइ, आम्बीड्राकाइ आदि अन्य जातियों के इलाके में ५, • नगर थे। इनमें से सबसे छोटे नगर में भी ५, •• से कम आदमी नहीं रहते थे और कई शहरों की आबादी तो १ तक थी। "कुछ गाँवों की आबादी शहरों की आबादी से कम नहीं थी" (मैकक्रिण्डिल इनवेज़न आफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर, पृष्ठ ११२)। स्ट्राबो के अनुसार (वही) झेलम तथा व्यास के बीच में बसी हुई नौ जातियों के राज्य में ५०० शहर थे।"

तक्षशिला "एक विशाल तथा समृद्धिशाली नगर था वास्तव में वह सिंधु तथा झेलम के बीच के इलाके में सबसे बड़ा नगर था" (वही पृष्ठ ९२)।

कुछ नगर नगर-निवेश तथा वास्तु-कला और अपने दुर्गों की मजबूती की दृष्टि से सराहनीय थे।

मौर्यकाल से भी पहले की हों । ये मूर्तियाँ उस समय की लोक-कला का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसके पीछे कुछ छोटे-मोटे देवी देवताओं की जनव्यापी उपासना की प्रेरणा क्रियाशील थी । जन-साधारण का धर्म छोटे-मोटे देवी-देवताओं की उपासना पर आधारित था जिन्हें यक्ष तथा यक्षी नाग अथवा नागी गन्धर्व और अप्सराएँ कह थे । इनमें कुछ वृक्षों के तथा जल के भी देवी-देवता थे । अब तक देवी देवताओं की इन अतिकाय मूर्तियों के ग्यारह नमूने पाए गए हैं (१) परखम (मथुरा) की यक्ष की मूर्ति (२) बरोदा की (मथुरा) यक्ष की मूर्ति, (३) मथुरा के एक और गाँव में यक्षी की मूर्ति जिसकी उपासना मनसा देवी के रूप में की जाती है (४) मथुरा की एक और यक्ष की मूर्ति जिसका पता अभी हाल ही में लगा है (यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी जर्नल मई १९३३ पृष्ठ ९५) (५) पटना की यक्ष की मूर्ति जो अब भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में है, (६) भारतीय संग्रहालय में पटना की एक और यक्ष की मूर्ति (७) दीदारगंज (पटना) में पाई गई चँवर लिए हुए एक स्त्री की मूर्ति (८) पवाया (ग्वालियर) में पत्थर पर खड़ी हुई मणिभद्र यक्ष की मूर्ति (९) बेसनगर में पायी गयी एक स्त्री की मूर्ति (१) बेसनगर में ही पायी गयी एक दूसरी स्त्री की मूर्ति (११) कोसम में पाए गए एक यक्ष की मूर्ति के भग्नावशेष । इनमें से कुछ मूर्तियों पर उन देवी-देवताओं के नाम भी अंकित हैं जिनका इन मूर्तियों में चित्रण किया गया है । इस प्रकार नं (१) तथा (८) कुबेर के यक्ष सेनापति मणिभद्र की मूर्तियाँ हैं नं (३) यक्षी लालाया की मूर्ति है पटनावाली मूर्तियों में से एक भगवान अक्षत-नीविक (कुबेर) की है और दूसरी यक्ष सर्वत्र नन्दी की । यह भी कहा जाता है कि नं (१) तथा (३) की मूर्तियाँ मूर्तिकला की उस शैली की कृतियाँ हैं जिसके प्रतिनिधि कुणिक उनके शिष्य नाक तथा उनके शिष्य के शिष्य गोमितक हैं ।

यह बात कि मूर्तियाँ बनाने या पत्थर पर किसी का चित्र अंकित करने की यह कला बहुत पुरानी है इससे भी सिद्ध होती है कि यह कला बहुत बाद तक भी जीवित रही और इनमें से कई कलाकृतियों के प्रतिरूप भी बनाए गए । ये मूर्तियाँ तो स्वतन्त्र रूप से उपासना की वस्तु हैं पर दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व की भरहुत की मूर्तियों की योजना में वे एक समष्टि के विभिन्न अंगों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं । भरहुत की मूर्तिकला में इन गौण देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियाँ हैं जिनकी जन-साधारण उपासना करते थे और जिन पर धर्म आधारित था ।

इस प्रकार की लोककला परवर्ती नमूने बोधिसत्व की उन मूर्तियों में मिलते हैं जिन्हें मथुरा-शैली की कृतियाँ माना जाता है । सारनाथ में बोधिसत्व की जो

के क्षेत्र की विभिन्न प्रकार की कलाकृतियाँ हैं जिनके कारण अशोक की ख्याति आज तक अमर है। उसने नगर, स्तूप और विहार बनवाए, कठोर चट्टानोंके को कटवाकर मठ बनवाए, चट्टानों में गुफाएँ तथा महल बनवाए और पत्थर के स्तंभ बनवाकर जगह-जगह लगवाए। इन स्तंभों के पत्थर को चिकना करके उसमें जो चमक पैदा कर दी गई है वह आजकल के संगतराश नहीं पैदा कर पाते हैं। सम्राट् की बताई हुई योजना के अनुसार बनाए गए इन स्तंभों की आकृति बनावट तथा सजावट में इतनी उच्च कोटि की निष्कलंक कला प्रवीणता का परिचय मिलता है कि हम इन्हें सहज ही मौर्यकालीन कला की श्रेष्ठतम कृतियाँ कह सकते हैं। इनमें पशुओं तथा पेड़-पौधों के प्राकृतिक रूप को पत्थर पर अंकित कर देने की कला को बहुत उच्च स्तर पर पहुँचा दिया गया है। ये स्तंभ इंजीनियरी की दृष्टि से भी सराहनीय हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक का वजन औसत से लगभग ५० टन और ऊँचाई ५ फुट है और उनमें से प्रत्येक एक ही चट्टान को काट कर बनाया गया है, जिससे पता चलता है कि कितनी बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर इन स्तंभों का रूप दिया गया होगा। फिर यह बात भी सराहनीय है कि किस प्रकार इतने भारी स्तंभों को सैकड़ों मील दूर से लाकर उन स्थानों पर लगाया गया जो सम्राट् ने सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए इन स्तंभों के लिए चुने थे क्योंकि ये स्तंभ सार्वजनिक हित के उद्देश्य से ही बनवाए गए थे। उदाहरण के लिए पाटलिपुत्र से बुद्ध के जन्मस्थान तक बौद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा करनेवाले तीर्थयात्री की प्रगति की विभिन्न मंजिलों को इंगित करने के लिए स्तंभों के एक पूरे क्रम की आवश्यकता पड़ी।

जिस प्रकार स्तूप अशोक से पहले के थे उसी प्रकार स्तंभों की उत्पत्ति भी अशोक से पहले की थी। अशोक ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि उससे पहले इन स्तंभों का अस्तित्व था और उसने अपनी प्रशस्तियाँ अंकित कराने के लिए उनको इस्तेमाल किया (रूपनाथ के गौण शिलालेख पर अंकित शब्द और स्तंभ लेख VII देखिए मेरी पुस्तक अशोक पृष्ठ ८७)।

जब हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि मौर्यकालीन कला ने सम्राट् अशोक के शासनकाल में इतनी प्रगति की तो हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इतनी उन्नति एक दिन में नहीं हुई होगी। आरंभ में यह कला बहुत ही अपरिमार्जित रूप में रही होगी इस स्तर तक पहुँचने के लिए उसे विकास का बहुत लम्बा मार्ग तै करना पड़ा होगा। सौभाग्यवश आज तक इन कलाकृतियों के कुछ एक नमूने मौजूद हैं, जिनसे हम भारतीय कला के विकास का अनुमान कर सकते हैं। पत्थर की विशालकाय मूर्तियों का एक पूरा वर्ग ऐसा है जो निश्चित रूप से अशोक के समय से पहले का है और संभव है कि ये

मौर्यकाल से भी पहले की हों। ये मूर्तियाँ उस समय की लोक-कला का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसके पीछे कुछ छोटे-मोटे देवी देवताओं की जनव्यापी उपासना की प्रेरणा क्रियाशील थी। जन-साधारण का धर्म छोटे-मोटे देवी-देवताओं की उपासना पर आधारित था जिन्हें यक्ष तथा यक्षी नाग अथवा नागी गन्धर्व और अप्सराएँ कहते थे। इनमें कुछ वृक्षों के तथा जल के भी देवी-देवता थे। अब तक देवी देवताओं की इन अतिकाय मूर्तियों के ग्यारह नमूने पाए गए हैं (१) परखम (मथुरा) की यक्ष की मूर्ति (२) बरोदा की (मथुरा) यक्ष की मूर्ति (३) मथुरा के एक और गाँव में यक्षी की मूर्ति जिसकी उपासना मनसा देवी के रूप में की जाती है (४) मथुरा की एक और यक्ष की मूर्ति जिसका पता अभी हाल ही में लगा है (यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी जर्नल मई १९३३ पृष्ठ ९५) (५) पटना की यक्ष की मूर्ति जो अब भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में है (६) भारतीय संग्रहालय में पटना की एक और यक्ष की मूर्ति (७) दीदारगंज (पटना) में पाई गई चँवर लिए हुए एक स्त्री की मूर्ति (८) पवाया (ग्वालियर) में पत्थर पर खुदी हुई मणिभद्र यक्ष की मूर्ति (९) बेसनगर में पायी गयी एक स्त्री की मूर्ति (१०) बेसनगर में ही पायी गयी एक दूसरी स्त्री की मूर्ति (११) कोसम में पाए गए एक यक्ष की मूर्ति के भग्नावशेष। इनमें से कुछ मूर्तियों पर उन देवी-देवताओं के नाम भी अंकित हैं जिनका इन मूर्तियों में चित्रण किया गया है। इस प्रकार नं० (१) तथा (८) कुबेर के यक्ष सेनापति मणिभद्र की मूर्तियाँ हैं नं० (३) यक्षी लायावा की मूर्ति है पटना वाली मूर्तियों में से एक भगवान अक्षत-नीविक (कुबेर) की है और दूसरी यक्ष सर्वत्र नन्दी की। यह भी कहा जाता है कि नं० (१) तथा (३) की मूर्तियाँ मूर्तिकला की उस शैली की कृतियाँ हैं जिसके प्रतिनिधि कुनिक, उसके शिष्य नाक तथा उसके शिष्य के शिष्य गोमितक हैं।

यह बात कि मूर्तियाँ मकान या पत्थर पर किसी का चित्र अंकित करने की यह कला बहुत पुरानी है, इससे भी सिद्ध होती है कि यह कला बहुत बाद तक भी जीवित रही और इनमें से कई कलाकृतियों के प्रतिरूप भी बनाए गए। ये मूर्तियाँ तो स्वतंत्र रूप से उपासना की वस्तु हैं पर दूसरी शताब्दी ईस्वी-पूर्व की भरहुत की मूर्तियों की योजना में वे एक समष्टि के विभिन्न अंगों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। भरहुत की मूर्तिकला में इन गौण देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियाँ हैं जिनकी जन-साधारण उपासना करते थे और जिन पर धर्म आधारित था।

इस प्रकार की लोककला परवर्ती नमूने बोधिसत्व की उन मूर्तियों में मिलते हैं जिन्हें मथुरा-शैली की कृतियाँ माना जाता है। सारनाथ में बोधिसत्व की जो

विशालकाय मूर्ति पाई गई है उस पर एक लेख अंकित है जिसमें यह बताया गया है कि वह कनिष्क के शासनकाल के तीसरे वर्ष में बनाई गई थी और यह भी बताया गया है कि मथुरा के भिक्षु बल ने उस दान के रूप में दिया था। इस प्रकार बोधिसत्व की मूर्तियां एक दूसरे प्रसंग में यक्षों की मूर्तियों के ही क्रम की एक कड़ी थी।

डा आनंद कुमारस्वामी के मतानुसार इस तथाकथित आदिम अथवा लोक-कला में भी अपने गुण हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि अशोक के समय की परिष्कृत कला की तुलना में जिसे हम सुसंस्कृत वर्गों की कला सरकारी या दरबारी कला भी कह सकते हैं जो उस समय के बौद्धमत में हीनयान पंथ की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी उस कला की तुलना में यह कला आदिम ढंग की तथा भोंडी है। इन विशालकाय मूर्तियों के बारे में कुमारस्वामी का मत है कि ये 'विलक्षण शारीरिक बल को व्यक्त करती हैं जो उनकी आदिम ढंग की जड़ता के कारण दबने नहीं पाता और केवल अपने विशाल आकार की दृष्टि से ही वे विपुल भौतिक शक्ति की द्योतक हैं और एक ऐसी कला" का प्रतिनिधित्व करती हैं 'जिसका सार-तत्व लौकिक है और जो मानो बड़ी निर्ममता से हमारे हृदय पर अपनी छाप डालती है। इस कला का रूप इस समय तक आध्यात्मिक नहीं है और उसमें अन्तर्दर्शन आत्मनिष्ठा अथवा आध्यात्मिक आकांक्षा का कोई पुट नहीं है। 'शैली की दृष्टि से इस विशेष कोटि की मूर्तियां विशाल तथा अतिकाय हैं और उनकी कल्पना बिल्कुल उन्मुक्त ढंग से की गई है ये आकृति की रूप-रेखा की सीमाओं में जकड़ी हुई नहीं हैं।

आदिम ग्राम्य तथा परिष्कृत पौर कला में आपस में क्या अंतर है—इसका कुछ प्रमाण हमें पाणिनि (लगभग ५० ई पू०) के व्याकरण में मिलता है। पाणिनि ने (VI ४०५) ग्रामशिल्पी तथा राजशिल्पी में अंतर किया है। ग्राम शिल्पी उन कलाकारों को कहते थे जो गांव के लोक-समुदाय के वेतनभोगी कर्मचारी होते थे और राजशिल्पी उन दरबारी कलाकारों को कहते थे जिनकी [illegible] तथा अभिजात वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा करती थी। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इन सभी मूर्तियों में गले में हार जैसा एक आभूषण है जिसके लिए पाणिनि बहुत ही अर्थपूर्ण शब्द ग्रैवेयक (IV २, ९९) का प्रयोग किया है।

इसलिए इस बात को मान लेना अनुचित न होगा कि अशोक-कालीन कला की उत्पत्ति उसके पूर्वजों के काल में इन मूर्तियों के रूप में हुई, जो उस समय के गांववालों की उपासना तथा लोक-कला का प्रतिनिधित्व करती है।

●